वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी : समकालीन विमर्श (21वीं सदी के दूसरे दशक के संदर्भ में)

VAISHVIKARAN KE SANDARBH ME HINDI KAHANI: SAMKALEEN VIMARSH (21 VI SADI KE DOOSRE DASHAK KE SANDARBH ME)

Thesis Submitted For the Award of the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

in

(HINDI)

By

RAHIM MIYAN

(41800907)

Supervised By

DR. ANIL KUMAR PANDEY

LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY
PUNJAB
2022

घोषणा - पत्र

मैं रहीम मियाँ, शोधार्थी पीएच. डी. हिन्दी प्रमाणित करता हूँ कि " **वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी: समकालीन विमर्श (21वीं सदी के दूसरे दशक के संदर्भ में)** " विषय पर किया गया शोध मेरा मौलिक शोध कार्य है। प्रस्तुत शोध प्रबंध लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब की पीएच. डी. हिन्दी की उपाधि हेतु किया गया है। यह शोध डॉ. अनिल कुमार पाण्डेय, एसिसटेंट प्रोफेसर, समाज विज्ञान एवं भाषा संकाय, लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब के निर्देशन में पूरा किया गया है।

मैं यह भी प्रमाणित करता हूँ कि मेरे द्वारा किया गया प्रस्तुत शोध प्रबंध आंशिक अथवा पूर्ण रूप से किसी अन्य उपाधि के लिए अन्य किसी विश्व विद्यालय को प्रस्तुत नहीं किया गया है।

दिनांकः

रहीम मियाँ (शोधार्थी)
पंजीयन संख्याः 41800907
समाज विज्ञान एवं भाषा संकाय,
लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब.

प्रमाण – पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि शोधार्थी रहीम मियाँ ने " **वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी: समकालीन विमर्श (21वीं सदी के दूसरे दशक के संदर्भ में)** " विषयक शोध प्रबंध मेरे निर्देशन में स्वयं लिखा है। इसकी सम्पूर्ण सामग्री शोधपरक एवं मौलिक है। मैं इस शोध प्रबंध को लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब की पीएच. डी. हिन्दी की उपाधि हेतु मूल्यांकनार्थ प्रस्तुत करने की संस्तुति करता हूँ।

दिनांकः

(डॉ. अनिल कुमार पाण्डेय)
एसिसटेंट प्रोफेसर
समाज विज्ञान एवं भाषा संकाय,
लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब

प्राक्कथन

मैं अपने खुदा का शुक्रगुजार हूँ, जिनके आशीर्वाद से मैं नियत समय पर अपने शोधकार्य को पूरा कर पाया। मैं उन सभी का आभारी हूँ, जिनके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहयोग के कारण मैं यह शोध कार्य कर पाया। मेरी शुरू से ही कहानी के प्रति विशेष रूचि रही है, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कहानियों को मैं पढ़ता रहा हूँ, साथ ही समकालीन विमर्शों के प्रति भी मेरी जिज्ञासा रही है। कई पुस्तकों, पत्रिकाओं और शोध ग्रंथों का अवलोकन करने के उपरान्त मैंने पाया कि भारतवर्ष में भूमंडलीकरण एक बड़ी घटना के रूप में आया। इसने आर्थिक ही नहीं, सांस्कृतिक उथल-पुथल भी मचाया। इस दौर के साहित्यकार अपनी रचनाओं के माध्यम से भूमंडलीकरण की चुनौतियों से लोहा लेते रहे हैं। चूँकि मेरी रूचि समकालीन कहानियों पर अधिक रही है और वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में समकालीन विमर्शों को लेकर कोई शोध कार्य मेरी नजर में नहीं आया। अतः मैंने 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में समकालीन विमर्शों पर शोध कार्य करने का विचार किया। फलस्वरूप '' वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानीः समकालीन विमर्श (21वीं सदी के दूसरे दशक के संदर्भ में) '' शीर्षक से मेरे शोध कार्य की शुरुआत हुई।

शोध कार्य के दौरान कई चुनौतियों का सामना भी करना पड़ा। किताबों से अधिक पत्रिकाओं का सहारा लेना पड़ा। कोरोना ने शोध के रास्तें में कई चुनौतियाँ पैदा की। लाईब्रेरी का उचित प्रयोग नहीं कर पा रहा था, किन्तु मेरे शोध निर्देशक डॉ. अनिल कुमार पाण्डेय सर ने हर चुनौतियों को मेरे लिए आसान बना दिया। सर का सहयोग हर कदम पर बराबर मिलता रहा। उनका मैं सदैव आभारी रहूँगा। उनके सौम्य व्यवहार और कुशल निर्देशन के कारण मैं अपना शोध कार्य पूरा कर पाया।

शोध कार्य की पूर्ति हेतु मैं हिन्दी विभाग के समस्त शिक्षकों का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने हर कदम पर मेरी पूरी मदद की। विशेष रूप से डॉ. विनोद कुमार सर का जिनके शोध से संबंधित कुशल तकनीकि ज्ञान एवं मार्गदर्शन से मैं हमेशा आगे बढ़ता रहा। उन्होंने हर कदम पर मेरी मदद की। विभाग के अन्य शिक्षकों का भी मुझे प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में सहयोग मिलता रहा। साथ ही मेरे शोधार्थी साथी सत्यवान, मदन, रेखा आदि का हृदय से शुक्रगुजार हूँ। विश्वविद्यालय के अन्य विभाग के शिक्षकों का भी समय-समय पर मार्गदर्शन मिलता रहा, उनका भी मैं तहेदिल से शुक्रगुजार हूँ। विश्वविद्यालय के कार्मिकों का भी हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

माता-पिता के आशीर्वाद के बिना जीवन में किसी भी कार्य को पूरा नहीं किया जा सकता। उनका सहयोग मुझे हमेशा मिलता रहा। मैं सदैव उनका ऋणि रहूँगा। मैं अपनी पत्नी के योगदान को नहीं भूला सकता, जिसने परिवार को संभालने के साथ- साथ मेरे शोध कार्य में भी मेरी सहायता की। अंत में मैं उन तमाम साहित्यकारों एवं शोधार्थियों के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनके रचनाओं, विचारों एवं उद्धरणों को शोध में लिया गया है। अतः मुझे विश्वास है कि मेरा यह मौलिक कार्य समाज के काम आयेगा और नये शोधार्थियों के लिए मार्ग दर्शन का कार्य करेगा।

शोध-सार

वैश्वीकरण का अर्थ पूरे भूमंडल का एकीकरण करना है। अर्थात् मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए पूरे भूमंडल को एक विश्व ग्राम में परिवर्तित कर देना ताकि भूमंडल में कहीं कोई गरीब एवं पिछड़ा न रहे। सारे देश एक साथ पूरे भूमंडल पर उभर सके। आर्थिक ही नहीं, सांस्कृतिक समन्वय का माहौल कायम हो सके। किन्तु, यह सच है कि भूमंडलीकरण हमारी इच्छा पर निर्भर न होकर हम पर थोपा जा रहा है, जिसपर मानवता के कल्याण के नाम पर कुछ बड़े देशों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का स्वार्थ निहित है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने जिस लोकतांत्रिकरण का सपना दिखाया, वह मात्र कोरी कल्पना, भुलावा और छलावा ही बनकर रह गया। यू. एन. डी. पी. की रिपोर्ट यह सिद्ध करता है कि भूमंडलीकरण ने पूरे विश्व में अमीर का अमीरीकरण और गरीब का गरीबीकरण किया है।

इस वैश्वीकरण ने मनुष्य के जीवन में बहुत परिवर्तन लाया। इसने जहाँ मनुष्य को उपभोक्ता बना दिया, वहीं हाशिए पर जी रहे लोगों के जीवन में भी भारी परिवर्तन घटित किया। हाशिए पर जी रहे लोगों को अपने अधिकारों का ज्ञान हुआ। कुल मिलाकर कहें तो वैश्वीकरण की घटना ने कई विमर्शों को एक साथ साहित्य जगत में लाकर खड़ा कर दिया। 21वीं सदी के दूसरे दशक में हम वैश्वीकरण के पूरे चपेट में आ चुके है। मानवीय मूल्य धराशायी हो रहा हैं। कई नये मूल्यों ने जन्म ले लिया हैं। समलैंगिगता कानून आ चुका है। किन्नरों को भी सामाजिक अधिकार मिलने का कानून आ चुका हैं। 'लिभ इन रिलेशन' आम बात हो चुकी है। अस्मिता बोध ने दलित और स्त्री को उनके अधिकारों और समानता के सिद्धांतों के प्रति सचेत किया है। वृद्धों की हालत खराब हुई हैं। पर्यावरण की समस्या विकराल हुई है, किसानों की समस्याओं का समाधान हम आज तक नहीं ढूँढ पाएं हैं, वे आत्महत्या को मजबूर हो रहे हैं। अतः इन नई परिस्थितियों ने विमर्श को भी एक नया आयाम दिया है।

विमर्श एक प्रकार से सोचने, विचारने एवं धारणाएँ गढ़ने आदि की व्यापक विचार दृष्टि है। यह महज आलोचना न होकर आलोचना से बढ़कर विषय को समझने की कोशिश है। आज विमर्श के अन्तर्गत स्त्री और दलित ही नहीं, बल्कि आदिवासी, किसान, बाल, किन्नर, पर्यावरण जैसे कई मुद्दे शामिल हो रहे हैं, विमर्श विचारों की सम्बद्ध प्रक्रिया है जो सभी प्रकार की अवधारणाओं को समझने की शक्ति का विकास करती है और मानवीय बोध को जन्म देती है। हजारों वर्षों के शोषण और अत्याचार के बाद आज ये वर्ग अपने अधिकार की लड़ाई लड़ रहे हैं और बहुत हद तक इनकी आवाजें सुनी जा रही है। अतः इसके अंतर्गत हम स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श, किसान विमर्श आदि की व्याख्या कर सकते हैं। अतः मेरे शोध का उद्देश्य भी वैश्वीकरण के कारण उत्पन्न परिस्थितियों में 21 वीं सदी के दूसरे दशक की कहानियों में व्यक्त विभिन्न विमर्शों की दिशा को समझना और हाशिए पर जी रहे किसान, स्त्री, दलित, आदिवासी जैसे समुदाय के अधिकारों एवं समस्याओं को समझते हुए उनका विश्लेषण करना है। शोध के माध्यम से निम्नलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति की कोशिश की गई हैं।

1. वैश्वीकरण के स्वरूप और विमर्श की अवधारणा को समझना।
2. वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में स्त्री विमर्श की दिशा को समझना।
3. वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में विमर्श के दलित सरोकार को जानना।
4. वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में किसान विमर्श की दिशा को समझना।
5. वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में आदिवासी विमर्श को समझना।
6. वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में अपेक्षित विमर्श के स्वरूप का मूल्यांकन करना।

पूरे शोध को छह मुख्य अध्यायों में विभक्त कर शोध प्रक्रिया को पूरी करने की कोशिश की गई है जो निम्नलिखित है- 1. वैश्वीकरण और विमर्शः दशा एव दिशा 2. वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में स्त्री विमर्श की दशा एवं दिशा: 3. वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में विमर्श के दलित सरोकार 4. वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में किसान विमर्श की अभिव्यक्ति 5. वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में आदिवासी विमर्श की चिंता 6. वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में अपेक्षित विमर्श

स्त्री का संघर्ष दलित, आदिवासी, किसान की तुलना में अधिक जटिल और कठिन हो जाता है, क्योंकि स्त्री, दलित, आदिवासी या किसान की तरह एक वर्ग में तब्दील नहीं हो पाती है। साथ ही पुरूष के निरंकुशतावादी मानसिकता के विरूद्ध लड़ने के लिए उसके पास साहित्य के अलावा कोई हथियार नहीं है। इसलिए स्त्री ने साहित्य का रास्ता चुना और साहित्य के माध्यम से अपना विरोध दर्ज किया। 21वीं सदी के दूसरे दशक की कहानियों में एक नया परिवर्तन आया है। स्त्री विमर्श के अंतर्गत आने वाली इन कहानियों में निज अनुभव के वैशिष्ट्य पर अधिक बल दिया गया हैं। जिस प्रकार आज बाजार तंत्र अधिक सूक्ष्म हो गया है, उसी प्रकार आज की लेखिकाएँ अपनी पीड़ा एवं विद्रोह की भावना को अति सूक्ष्म तरीके से व्यक्त करने लगी हैं। सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ पहले की अपेक्षा अति तीव्र गति से बदली हैं। समलैंगिकता और थर्ड जेन्डर के अधिकारों को कानूनी स्वीकृति मिल चुकी हैं। अतः आज की कहानी मे विद्रोह, त्याग, विश्वास जैसी भावनाओं की अभिव्यक्ति भी बारीक हो गई हैं। रिश्तों की टकराहट, एकाकीपन के बीच स्त्री अस्मिता की नई पहचान स्थापित करने की कोशिश की जा रही है।

21वीं सदी के आरम्भ ने आर्थिक आत्मनिर्भरता और बाजार के विकास पर जोर दिया। इसने दलितों के जीवन पर भी परिवर्तन लाया। शहर में जातिवादी भावना भीतरी परत में चली गई। आरक्षण की नीति ने दलितों को वर्ण से वर्ग में तब्दील किया। अब नीच कहे जाने वाले दलित भी ऊँचे पदों पर पहुँचने लगे। सवर्णों को भी दलितों के नीचे काम करने के लिए विवश होना पड़ा। जातिगत भावना हृदय के अन्दर दबने लगी। खुले तौर पर दलितों से जातिगत भेद करने से सवर्ण डरने लगे। इससे वर्तमान कहानी की दिशा भी परिवर्तित हुई। अब कहानी का विषय जातिगत द्वंष से हटकर दलितों के नये परिवेश में उत्पन्न चुनौतियों से लड़ना हो गया। दलितों के अन्दर एक नये मध्य वर्ग का जन्म हुआ, इस वर्ग में जो दलित आये उनकी भावनाएँ परम्परावादी दलितों से अलग थीं। यह पढ़ा-लिखा और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न दलित था। सामाजिक परिवर्तन घटित होते ही कहानी की संवेदना भी बदलने लगी।

वैश्वीकरण ने पहले तो हरित क्रांति के नाम पर आधुनिक खाद एवं उन्नत बीज, कीटनाशक, बिजली, डीजल, आधुनिक यंत्र द्वारा खेती को प्रोत्साहन दिया, फिर बाद में इन्हीं चीजों का मनमाना दाम बढ़ाकर खेती को घाटे का काम बना दिया। नई तकनीक ने खेती की प्रक्रिया को प्रकृति विरूद्ध कर दिया।

नई तकनीक ने वातावरण को जहरीला बना दिया। वैश्वीकरण अपने साथ बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को लेकर आया। इन कम्पनियों का एकमात्र लक्ष्य मुनाफा कमाना है। अब इनका सीधा हमला खेती पर हो रहा है। किसान खून पसीना बहाकर फसल उपजाते हैं और इन फसलों को ये कम्पनियाँ बहुत कम कीमत पर खरीद लेती हैं। ऊपर से नये बीज कानून, पेटेंट कानून, कंट्रेक्ट खेती जैसे नियम बनाकर सरकार सीधे – सीधे इन कम्पनियों को खुली छूट दे रही है। दिन-रात मेहनत कर फसल उपजाने के बावजूद किसानों की अवस्था बदल नहीं पा रही है। आज जिस तरह अंधाधुँध विकास हो रहा है, इसने किसानों की जमीन का अधिग्रहण कर किसानों को विस्थापित कर दिया है। रिपोर्टों के अनुसार लाखों किसान आत्महत्या कर चुके हैं। नए कृषि बिल के विरोध में लाखों किसानों को महीनों से दिल्ली के बॉडर पर प्रदर्शन करना पड़ा, तब जाकर कहीं सरकार की नींद खुली और नये कृषि बिल को वापस लेना पड़ा। यह किसान ही है जो इस्ट इंडिया कम्पनी से लेकर वालमार्ट तक अपनी अस्मिता की लड़ाई लड़ रहे हैं। ऐसे समय का साक्षी बनकर हिन्दी साहित्य में कुछ लेखक हुए जो इस दौर में अपनी कहानियों के माध्यम से किसानी जीवन एवं उनकी चुनौतियों का जीता जागता चित्रण कर रहे हैं। वे अपनी कहानियों के माध्यम से न केवल किसानी चेतना की बात कर रहे हैं, बल्कि समाज की उस सच्चाई से हमारा परिचय भी करवा रहे हैं, जिसे हम देखकर भी अनदेखा करते हैं।

वैश्वीकरण के उपरान्त आदिवासी और दलित समाज में भारी परिवर्तन आया। नये कल-कारखानों, बाँधों, पुल, बिजली, खननों आदि के विकास ने आदिवासियों की जमीन को हड़प कर उन्हें विस्थापित जीवन जीने के लिए मजबूर किया। दलित समाज भी वैश्वीकरण की इस आँधी में अपने हक के लिए आन्दोलन रत हो रहे हैं। आरक्षण की नीति पर सरकार की गहरी नजर टीकी हुई है। आरक्षण का मुद्दा बड़ा मुद्दा बनता नजर आ रहा है।

ऐसे समय में प्रकृति का जितना विनाश हुआ उतना विनाश कभी नहीं हुआ था, बाल विमर्श, घरेलू कामगार विमर्श जैसे विमर्श अस्तित्व में आ रहे हैं। ऐसी परिस्थितियों में 21वीं सदी के दूसरे दशक के साहित्यकारों ने अपनी कहानियों के माध्यम से इन विमर्शों की दशा पर विचार ही नहीं किया, बल्कि नई-नई चुनौतियों से हमें रू-ब-रू भी करवाया हैं। अतः 21वीं सदी के दूसरे दशक की कहानियों में अभिव्यक्त उपर्युक्त विमर्शों की पड़ताल की गई है, जो मेरे शोध को महत्ता प्रदान करता है।

वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानीः समकालीन विमर्श

(21वीं सदी के दूसरे दशक के संदर्भ में)

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय	पेज संख्या
1. वैश्वीकरण और विमर्शः दशा एव दिशा	1- 43
1.1. वैश्वीकरण: आशय	
1.2. वैश्वीकरणः परिभाषाएँ	
1.3. आर्थिक उदारीकरण	
1.4. निजीकरण	
1.5. अन्तरराष्ट्रीय बाजार	
1.6. बाजार	
1.7. उपभोक्तावादी संस्कृति	
1.8. विमर्श की अवधारणा	
1.9. विमर्श का स्वरूप	
1.10. वैश्विक संदर्भ में विभिन्न विमर्श:	
1.10.1. स्त्री विमर्श	
1.10.2. दलित विमर्श	
1.10.3. किसान विमर्श	

1.10.4. आदिवासी विमर्श

1.11. निष्कर्ष

द्वितीय अध्याय पेज संख्या

2. वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में स्त्री विमर्श : दशा एवं दिशा 44-94

2.1. स्त्री विमर्शः स्वरूप

2.2. स्त्री – पुरुष संबंधः

2.2.1. प्रेम

2.2.2. काम

2.2.3. विवाह

2.3. पितृसत्ता और स्त्री

2.4. स्त्री और आर्थिक आत्मनिर्भरता

2.5. स्त्री और देह की राजनीति

2.6. स्त्री विमर्श और बाजार

2.7. 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में स्त्री विमर्शः

2.7.1. स्त्री – पुरुष संबंधों के बिखराव की अभिव्यक्ति

2.7.2. स्त्री – पुरुष संबंधों में प्रेम की अभिव्यक्ति

2.7.3. स्त्री उत्पीड़न की अभिव्यक्ति

2.7.4. स्त्री के निजी समस्याओं की अभिव्यक्ति

2.7.5. स्त्रीः देह मुक्ति का सवाल

2.7.6. स्त्री की आर्थिक आत्मनिर्भरता

2.7.7. स्त्री संघर्ष और प्रतिरोध की अभिव्यक्ति

2.8. निष्कर्ष

तृतीय अध्याय पेज संख्या

3. वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में विमर्श के दलित सरोकार 95-140

3.1. दलित शब्द का अर्थ

3.2. वर्णाश्रम व्यवस्था और दलित

3.3. दलित साहित्य का स्वरूप

3.4. दलित विमर्श और राजनीति

3.5. 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में दलित चेतना

3.5.1. दलित जाति में अंतर्विरोध की अभिव्यक्तिः

3.5.2. दलित मध्यवर्ग और सवर्ण मानसिकता

3.5.3. जातिगत शोषण और विद्रोह

3.5.4. दलित स्त्री जीवन की अभिव्यक्ति

3.5.5. दलित राजनीति की चुनौतियाँ

3.6. उपसंहार

चतुर्थ अध्याय

4. वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में किसान विमर्श की अभिव्यक्ति 141-179

4.1.किसान विमर्शः

4.2. जमींदारी व्यवस्था में किसान

4.3. जमींदारी उन्मूलन व्यवस्था

4.4. हरित क्रांति और किसान

4.5. वैश्वीकरण और किसान

4.6. 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में किसानः

4.6.1. हाइब्रिड बीज और किसान

4.6.2. कर्ज और आत्महत्या

4.6.3. आधुनिक खेती और मजदूर बनते किसान

4.6.4. वैश्वीकरण की चुनौतियाँ और आज का किसान

4.7. निष्कर्ष

पंचम अध्याय 180-218

5. वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में आदिवासी विमर्श की चिंता

5.1. आदिवासी कौन?

5.2. आदिवासी विमर्श

5.3. आदिवासी साहित्य

5.4. जल, जंगल, जमीन और विस्थापन

5.5. 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में आदिवासी चिंतनः

5.5.1. वैश्वीकरण और जल, जंगल, जमीन का सवाल

5.5.2. शोषण की पीड़ा और विस्थापित आदिवासी समाज

5.5.3. अंधविश्वास और आदिवासी स्त्री

5.5.4. स्त्री शोषण एवं प्रतिरोध का स्वरूप

5.5.5. अंतर्विरोध की अभिव्यक्ति

5.6. निष्कर्ष

छठवां अध्याय 219-260

6. वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में अपेक्षित विमर्श

6.1. पर्यावरण विमर्श

6.2. 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में पर्यावरण चिंता

6.3. बाल विमर्श

6.4. 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में बाल विमर्श

6.5. घरेलू कामगार

6.6. 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में घरेलू कामगार

6.7. विस्थापन विमर्श

6.8. विस्थापन विमर्श के कारण

6.9. 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में विस्थापन का दंशः

6.10. निष्कर्ष

प्रथम अध्याय

वैश्वीकरण और विमर्श : दशा एवं दिशा

प्रथम अध्याय

वैश्वीकरण और विमर्श : दशा एवं दिशा

भूमिका :

आज भूमंडलीकरण का दौर है। हम पूरे तरीके से भूमंडलीकृत हो चुके हैं। 21वीं सदी के दूसरे दशक में भारत में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया लगभग पूर्ण हो चुकी है। भूमंडलीकरण के दौर में भारतीय समाज में कई विमर्शों का जन्म भी हुआ हैं। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने सामुदायिक विमर्शों के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका भी निभाई है। अतः मेरे शोध के प्रथम अध्याय में सैद्धांतिक दृष्टि से वैश्वीकरण और विमर्श की अवधारणा एवं इसके दशा एवं दिशा पर विचार किया जाएगा।

1.1. वैश्वीकरणः आशय

ऑक्सफोर्ड डिक्सनरी के अनुसार 'भूमंडल' या 'ग्लोब' शब्द लगभग 400 वर्ष पुराना है, पर 'ग्लोबलाइजेशन' शब्द का प्रयोग 1960 के पहले नहीं मिलता है। अमेरिका की साप्ताहिक पत्रिका 'इकॉनोमिस्ट' ने 4 अप्रैल, 1959 के अंक में इटली द्वारा आयात की जाने वाली कारों के लिए 'ग्लोबलाइज्ड' कोटा का जिक्र किया था। 1961 की 'वेबस्टर डिक्सनरी' में पहली बार 'ग्लोबलाइजेशन' या 'भूमंडलीकरण' की परिभाषा दी गई। इसके 25 वर्ष बाद अमेरिका में इस शब्द का इस्तेमाल शैक्षिक संस्थानों में शुरु हुआ। आज शब्दकोश में इसका यह अर्थ है कि ऐसा कोई भी कार्य या प्रसंग जिसका प्रभाव समूची दुनिया को अपने घेरे में लपेट लेता हो, वैश्वीकरण है। 'एंथोनी गिडेन्स' ने अपनी पुस्तक 'द कॉन्सेक्वेन्स ऑफ मॉडर्निटी' में लिखा है कि वैश्वीकरण का अर्थ विश्व भर के सामाजिक संबंधों को इतना प्रचंड बना देना है कि दूर दराज के क्षेत्रों में जो कुछ भी स्थानीय स्तर पर घटता हो, उसे हजारों मील दूर घटने वाली घटनाएँ तय करें। आज यह माना जाता है कि ग्लोबलाइजेशन एक सजग और सायास प्रक्रिया है, जो मूलतः उत्पादों के लिए विश्व बाजार को हासिल करने और दुनिया के विभिन्न हिस्सों पर प्रभुत्व कायम करने की गतिविधियों से जुड़ी हुई है। इसका सीधा तात्पर्य यह है कि अब भारतीय अर्थ व्यवस्था और समाज-संस्कृति को वैश्विक पृष्ठभूमि से अलग-थलग देखना ठीक नहीं है। उसके सूत्र अब वैश्विक परिवर्तनों से जुड़ चुके हैं, यह भले पीड़ादायक हो, किन्तु यही आज का यथार्थ है।

वैश्वीकरण का अर्थ पूरे भूमंडल का एकीकरण करना है। अर्थात् मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए पूरे भूमंडल को एक विश्व ग्राम में परिवर्तित कर देना, ताकि भूमंडल में कहीं कोई गरीब एवं पिछड़ा न रहे। सभी देश एक साथ भूमंडल पर उभर सके। आर्थिक ही नहीं, सांस्कृतिक समन्वय का माहौल कायम हो सके। यह कहा जाता है कि वैश्वीकरण का शाब्दिक तात्पर्य हमारे 'वासुधैव कुटुम्बकम' की धारणा के अनुकूल ही है, जिसमें विश्व मानवता के कल्याण की कामना निहित है। किन्तु, यह सच है कि भूमंडलीकरण हमारी इच्छा पर निर्भर न होकर हम पर थोपा जा रहा है, जिसपर मानवता के कल्याण के नाम पर कुछ बड़े देशों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का स्वार्थ निहित है। कुछ लोग इसे एक आँधी के रूप में देखते हैं, किन्तु यह सब कुछ उजाड़ कर चली जाने वाली आँधी नहीं है ,बल्कि किसी भी देश में जाकर, पैर जमाकर बैठकर, सर्वदा उसका सर्वनाश करते रहने वाली आँधी है। इसने परिवेशगत जो परिवर्तन उपस्थित किया है, उससे पारंपरिक मूल्यों एवं श्रेष्ठ जीवन मूल्यों को क्षरित होते देख हम कुछ कर भी नहीं पा रहे हैं। इसका आर्थिक पक्ष हमें हमारी पुरातन मान्यताओं से अलग कर एक प्रच्छन्न और अघोषित आक्रमण का रूप दे डाला है।

'हेनरी किसिंजर' वैश्वीकरण को अमेरिकीकरण का पर्याय समझते हैं। वैश्वीकरण के नाम पर अमरीकी विचार, जीवन-मूल्य, अमरीकी संस्कृति को पूरी दुनिया में जवरदस्ती थोपा जा रहा है। न्यूयार्क टाइम्स के एल. फिडमैन, 'द मैनिफेस्टो फोर द फास्ट वर्ल्ड' पुस्तक में यह कहते हैं कि हम अमरीकी गतिशील विश्व के समर्थक हैं और उच्च तकनीक के पुजारी है। हम अपने मूल्यों और पिज्जाहट दोनों का विस्तार चाहते हैं। हम चाहते हैं कि विश्व हमारे नेतृत्व में रहे और लोकतांत्रिक और पूँजीवादी बने, प्रत्येक पात्र में वेबसाइट हो। नॉवल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री 'जोसेफ स्टिग्लिट्ज' ने 'ग्लोब्लाइजेशन एन्ड इट्स डिस्कोन्टेन्ट्स' में यह माना कि अमेरिका भूमंडलीकरण के नाम पर वाशिंगटन आम राय को तीसरी दुनिया के देशों में निर्लज्जता से थोपने का प्रयास है।

भूमंडलीकरण को ग्लोबल विलेज की अवधारणा के रूप में समझाने का प्रयास किया गया था कि इससे पूरा विश्व एक गाँव बन जाएगा। हम सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक दृष्टि से एक समान होकर विश्व छवि पर अपनी पहचान स्थापित करने में कामयाब होंगे, जबकि असलीयत यह है कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने जिस लोकतांत्रिकरण का सपना दिखाया, वह मात्र कोरी कल्पना, भुलावा और छलावा ही बनकर रह गया। यू. एन. डी. पी. की रिपोर्ट यह सिद्ध करता है कि भूमंडलीकरण ने पूरे विश्व में अमीर का अमीरीकरण और गरीब का गरीबीकरण किया है। वर्ष 1998 में अमेरिका के 26 प्रतिशत लोग इंटरनेट का प्रयोग कर रहे थे, जबकि लैटिन अमेरिका में यह केवल 0.8 प्रतिशत, सहारा अफ्रिका में 0.4 प्रतिशत तथा दक्षिण एशिया में मात्र 0.04 प्रतिशत लोग ही इसका प्रयोग कर पा रहे थे। ICT facts and figures 2017 के अनुसार अभी तक 104 देशों के

80 प्रतिशत युवा इंटरनेट का इस्तेमाल कर रहे हैं। विकसित देश में 15-24 साल के 94 प्रतिशत तो विकासशील देश में 67 प्रतिशत युवा इसका प्रयोग कर पा रहे हैं, जबकि कम विकसित देशों में यह आँकड़ा केवल 30 प्रतिशत ही है। अफ्रीकी देशों में 10 में से 9 युवा आज भी इंटरनेट का पूरा इस्तेमाल करने से वंचित है। यह असमानता सिद्ध करता है कि ग्लोबल विलेज की अवधारणा मात्र एक कल्पना है। यह एक ऐसी प्रक्रिया भर है जिसमें विकास एवं समरूपता के नाम पर विकासशील देशों में गरीबी और बेरोजगारी को बढ़ावा दिया जा रहा है, जिसका सरगना अमेरिका है।

1.2. वैश्वीकरण : परिभाषाएँ

वैश्वीकरण शब्द अपने आप में कई अर्थों को लिए हुए हैं। विभिन्न विद्वानों द्वारा इसकी विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं, किन्तु किसी एक परिभाषा में इसके हर एक पहलू को समेटना असंभव है। इसे भूमंडलीकरण, ग्लोबलाइजेशन, नव-सम्राज्यवाद, जगतीकरण, विश्वायन, नव उपनिवेशवाद, नव उदारवाद आदि कई अर्थों में जाना जाता है।

अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोश के अनुसार-

> वैश्वीकरण विश्वव्यापी स्तर पर देशों की आर्थिक निर्भरता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति है तथा इसमें सीमा से परे अन्तरराष्ट्रीय पूँजी का तीव्र प्रवाह और वस्तुओं तथा सेवाओं का लेन-देन किया जाता है। (http://in.one.un.org>imf)

प्रभा खेतान, 'भूमंडलीकरणः ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र' पुस्तक में कहती है –

> भूमंडलीकरण वह प्रक्रिया है जो वित्त पूँजी के निवेश, उत्पादन और बाजार द्वारा राष्ट्रीय सीमा से परे भूमंडलीय आधार पर निरन्तर अपना प्रसार करना चाहती है। इसका निर्णय क्षेत्र सारी दुनिया है। (खेतान 15)

कमल नयन काबरा के अनुसार –

> वास्तव में भूमंडलीकरण से मंशा सारी दुनिया को एक मंडी में तब्दील कर देना है, एक ऐसी दुनिया जो मंडी मात्र ही नहीं, अपितु उसका संचालन भी मंडी की आन्तरिक ताकतों द्वारा, सामाजिक वैश्विक जीवन के हर अन्य पक्ष को गौण और मंडी का पिछलग्गू बनाकर किया जाता है। (काबरा18)

ब्रज कुमार पाण्डेय के अनुसार –

> भूमंडलीकरण वह नीति या कार्रवाई है जिसके अंतर्गत आर्थिक गतिविधि की कार्यकुशलता और उससे होने वाले लाभ की अधिकत्तम वृद्धि के लिए उसपर से सरकारी प्रतिबंध और नियंत्रण हटा दिए जाते हैं या उनमें ढील दे दी जाती है और उसे विश्व के किसी भी हिस्से की आर्थिक गतिविधि के साथ जोड़ने की छूट दे दी जाती है। (पाण्डेय 6)

अमीत कुमार सिंह का कहना है कि – "यह प्रत्येक देश का अन्य देश के साथ वस्तु, सेवा, पूँजी एवं बौद्धिक सम्पदा का अप्रतिबंधित आदान-प्रदान है (सिंह 31)।" अतः यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें विश्व बाजार के मध्य पारस्परिक निर्भरता उत्पन्न होती है और व्यापार देश की सीमाओं में प्रतिबंधित न रहकर विश्व बाजार में निहित तुलनात्मक लागत लाभ दशाओं का विदोहन करने की दिशा में अग्रसर होता है। प्रभात पटनायक जैसे लोग इसे नये सम्राज्यवाद के संकट के रूप में देखते हैं। वास्तव में यह पूँजीवाद का एकछत्र राज्य है। 'पल प्रतिपल' पत्रिका में रजनी कोठारी लिखती है कि भूमंडलीकरण से तात्पर्य शीतयुद्ध के बाद उभरे एक नये किस्म के सम्राज्यवाद से है। उनका मानना है कि यह एक अराजनीतिक, प्रौद्योगिकी आधारित और राष्ट्र राज्य को कमजोर करने वाला एक नव-पूँजीवादी सम्राज्य है। वे इसे कॉर्पोरेट पूँजीवाद की संज्ञा देते हैं। यह नये सम्राज्यवाद अपने साथ उदारीकरण बाजार, अर्थ प्रणाली, विश्व बैंक, अन्तराष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बाजार संगठन, बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ, जी-8 जैसे मजबूत हथियारों को लेकर आया है। इन हथियारों के बदौलत ही वैश्वीकरण अपना पैर पसार रहा है। (कोठारी 176)

वैश्वीकरण से तात्पर्य एक तरह का सांस्कृतिक सम्राज्यवाद है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ उत्पादों के जरिए अपने देश की संस्कृति का विस्तार भी करते हैं। वे अपनी पूँजी एवं प्रचार तंत्र के द्वारा हमारे अंदर हमारी अपनी ही संस्कृति के प्रति हीन भावना पैदा करवाते हैं। यह एक तरह से पुनःऔपनिवेशीकरण है। यह पश्चिम के विकसित देशों द्वारा मुक्त बाजार के नाम पर तीसरी दुनिया की अर्थ व्यवस्था को लूटने और उसे विकसित होने का सपना दिखाकर मटियामेट करने की साजिश है।

चीनी समाज में जिस प्रकार स्वायत्त गुट उभर रहे हैं, उसी तरह नये सामाजिक आन्दोलन भूमंडलीय नागरिक समाज पर दबाव डाल रहे हैं। नये सामाजिक आन्दोलन- स्त्रियों के दल, पर्यावरणवादी, मानव हक की संगठनाएँ आदि स्वयं एक भूमंडलीय परितत्व हैं, ये आर्थिक वैश्वीकरण के घातक परिणामों का प्रत्युत्तर है। अपने नियंत्रण से बाहर राष्ट्रांतर प्रवाहों से मात खा कर राज्यों ने बदलते हुए भूमंडलीय श्रम विभाजन के साथ बदलने की कोशिश की, जिसके लिए स्थानीय अर्थ - व्यवस्था और तकनीकी संशोधन, अनुसंधान एवं विकास, और प्राकृतिक सामग्री का दोहन इनके बीच के माप को और चुस्त बनाता है।

वैश्वीकरण एक वैश्विक पूँजीवादी विकास की प्रक्रिया है जिसमें अपार पूँजी का प्रवाह एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र तक आसानी से होता है। पूँजी ही इसका मुख्य तत्व है। वैश्वीकरण की आड़ में अमेरिका के नेतृत्व में सम्राज्यवादी शक्तियाँ अपनी नव औपनिवेशिक कार्य पद्धति के तहत पूँजी निर्यात के जरिये हमारे देश के सस्ते श्रम, संसाधन और बाजार का दोहन करते हुए अकूत मुनाफा कमा रही हैं। इसे ही प्रभा खेतान एक पश्चिमी मंच मानती हैं, जो पश्चिमी सत्ता और नियंत्रण का ही व्यक्तिकरण है। उनके अनुसार भूमंडलीय

सिंथेसिस का दावा एक प्रकार से पश्चिमी सभ्यता में दूसरे की संस्कृति को सोखने और सुखाने का मायावी दावा है। अतः वैश्वीकरण एक देश के संसाधनों, क्रिया-कलापों, ज्ञान विज्ञान, बाजार आदि का अन्तरराष्ट्रीयकरण कर एक विश्व गाँव बनाने की अवधारणा है। फिदेल कास्त्रे इसे वैज्ञानिक एवं तकनीकि विकास का परिणाम मानते हैं। अतः इस संदर्भ में रघुवंशमणि, परिवेश पत्रिका में लिखते हैं –

> भूमंडलीकरण वस्तुतः उस एकरूपता की प्रक्रिया का नाम है जिसके अंतर्गत वस्तुओं, सेवाओं, उत्पादन साधनों, कच्चे माल, वित्त, प्रोद्योगिकी आदि का, बिना किसी सरकारी नियंत्रण के, देश की सीमाओं के परे सीधा प्रवाह होता है। (रघुवंशमणि 316)

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया जब भारत में शुरु हुई तो यह अपने साथ कुछ हथियार लेकर आया। ये हथियार थे- उदारीकरण और निजीकरण की प्रक्रिया। भारत उदारीकरण और निजीकरण की प्रक्रिया को अपना कर भूमंडीकरण से जुड़ गया।

1.3. आर्थिक उदारीकरणः-

1991 में भारत की वित्तिय स्थिति अत्यंत नाजुक थी। विदेशी मुद्रा भंडार खाली हो रहा था। सरकार को अर्थ व्यवस्था की दशा में सुधार लाने के लिए उदारीकरण एवं निजीकरण की नीति अपनानी पड़ी। उदारीकरण की नीति सरकार द्वारा अपनायी गई वह नीति है जिसके अंतर्गत औद्योगिक संरचना में लाइसेंस पद्धति को खत्म करना, आयात शुल्क में कमी, विदेशी निवेश को बढ़ावा देना, सार्वजनिक क्षेत्रों के लिए आरक्षित क्षेत्रों को खोलना, सार्वजनिक क्षेत्रों का निजीकरण जैसे महत्वपूर्ण कदम उठाये जाते हैं। उदारीकरण के अंतर्गत बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को भारत में निवेश के लिए भारी छूट दी जाती है, लेकिन इसका अर्थ विदेशी कम्पनियों को आँख मूँदकर निवेश के लिए बढ़ावा देना नहीं है, बल्कि इन कम्पनियों के आगमन पर लगे अनावश्यक नियंत्रणों को हटाना है, ताकि ये कम्पनियाँ आसानी से भारत में अपना निवेश कर सके। ब्रज कुमार पाण्डेय उदारीकरण को परिभाषित करते हुए कहते हैं –"उदारीकरण पर्दे के पीछे किसी गुप्त समझौते का नाम नहीं, न यह ऐसी किसी चीज की वकालत करता है, अपितु यह तो अर्थ व्यवस्था से जुड़े तमाम पहलुओं के बीच पूरी पारदर्शिता एवं उत्तरदायित्व के साथ काम करने का नाम है (पाण्डेय 4)।"

उदारीकरण की नीति हालाकि 17वीं सदी के मध्य ही इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि देशों में शुरू हो चुकी थी, किन्तु उस समय इसका स्वरूप राष्ट्रीय था। उस समय इसका लक्ष्य सामंती बंधनों से मुक्त कर व्यापार एवं उद्योग का निर्वाध विकास करना था। बाद में यह नीति राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर फैलने लगी एवं व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा का जन्म हुआ। फलस्वरूप राष्ट्रीय उद्योगों को संरक्षण देने की नीति शुरू हुई। अमेरिका में तो यह नीति

1930 तक चलती रही। द्वितीय विश्व युद्ध के काल तक उन्मुक्त बाजार के सिद्धान्त के साथ-साथ राष्ट्रीय सरकारों की इस जवाबदेही को भी स्वीकार किया जाता था कि वे उद्यमों को बनाये रखने और इनमें लगे श्रमिकों के हितरक्षा की जवाबदेही ले। इसलिए ब्रज कुमार पाण्डेय कहते भी हैं -

> उदारीकरण का मतलब बस आँख मूँदकर विदेशी कम्पनियों एवं बहुराष्ट्रीय निगमों को आमंत्रित कर लेना और उन्हें किसी भी शर्तों पर निवेश की छूट दे देना नहीं है। यह सब कुछ आखिरकार हमारी बेहतरी के लिए ही होना चाहिए। उदारीकरण अनावश्यक नियंत्रणों को हटाने की बात करता है, एक बेहतर व्यवस्था एवं जरूरी नियमों को हटाने की बात करता है। (पाण्डेय 6)

अतः भूमंडलीकरण के तहत उदारीकरण की नीति को अपनाकर भारत भूमंडलीकृत हो गया। उदारीकरण की नीति के कारण बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को भारत में निवेश करने में सहुलियत हुई, किन्तु उदारीकरण का यह कतई अर्थ नहीं था कि हम आँख मूँदकर विदेशी कम्पनियों को निवेश करने के लिए छूट दे दें।

1.4. निजीकरणः-

किसी भी राष्ट्र द्वारा अर्थव्यवस्था की संवृद्धि एवं उत्पादन में वृद्धि के लिए निजीकरण की नीति अपनायी जाती है, ताकि राज्य को संकट से मुक्त किया जा सके। निजीकरण का अर्थ ही है उद्योग, व्यापार आदि को सरकारी नियंत्रण से हटाकर खुली प्रतिस्पर्धा के लिए खोल देना।

निजीकरण की प्रक्रिया का आरम्भ 1970 में चीली में हुआ। इसके बाद इंग्लैण्ड, फ्रांस और लैटिन अमेरिका में घरेलू आर्थिक संकट से उबरने के लिए इसे तीव्र गति से लागू किया गया। भारत में निजीकरण वैश्वीकरण का प्रमुख हथियार बनकर नरसिंहा राव की सरकार में लागू हुआ, जिसके अंतर्गत कई सार्वजनिक क्षेत्रों का दरवाजा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए खोल दिया गया। किन्तु, निजीकरण का मामला भारत में हमेशा विवाद का विषय बना रहा। इसका प्रमुख कारण यह था कि सरकार ने उन क्षेत्रों का निजीकरण नहीं किया जो घाटे में चल रहे थें। सरकार ने उन इकाईयों का निजीकरण किया जो पहले से बेहतर स्थिति में थे और लाभ में चल रहे थे। घाटे में चल रहे इकाईयों जैसे **RINI, HFC, FCI, DTC, IA, HIC, HPC** आदि का निजीकरण नहीं किया गया।

भारत उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों को अपनाकर वैश्वीकरण के साथ जुड़ गया। इन दो नीतियों को अपनाने के पीछे सरकार का उद्देश्य अपने देश की अर्थ व्यवस्था को मजबूत करना एवं देश में नौकरी एवं सुविधाओं को मुहैया कराना था। लेकिन, इतिहास गवाह है कि उदारीकरण के फलस्वरूप भारत जैसे देशों में वास्तविकता कुछ और ही हुआ। आज फिर से पूरे देश में निजीकरण की प्रक्रिया ने जोर पकड़ा है। मोदी सरकार के नेतृत्व में कई कम्पनियों का निजीकरण कर दिया गया है। कोयले के खाद्यानों का निजीकरण कुछ दिन पहले ही किया गया। रेलवे जैसे एक बड़े सरकारी तंत्र का निजीकरण

किया जा रहा है। सारी सेवाएँ प्राइवेट कम्पनियों को दिया जा रहा है। एयर इंडिया का निजीकरण कर दिया गया है।

उन्मुक्त व्यापारिक नीति ने राष्ट्र की राजनीति को हर संभव प्रभावित किया है। इसने लोकतंत्र की अवधारणा को ही अप्रासांगिक बना दिया। लोकतंत्र जनता का, जनता के लिए, जनता द्वारा स्थापित व्यवस्था है, किन्तु वैश्वीकरण ने जनता की इस प्रभुसत्ता की अवधारणा को पलट कर रख दिया। उन्मुक्त बाजार का स्वरूप द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बदला, जिसमें अमेरिका विश्व पटल पर शक्तिशाली बनकर उभरा। इसकी मूल ताकत बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ थी, जो पूरे विश्व में अपना व्यापार प्रसार कर रही थी, जिसके केन्द्र में पूँजी थी। इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने धनतंत्र को मजबूती प्रदान की, जनतंत्र अप्रासांगिक होता गया। ये कम्पनियाँ अपने हितों के लिए नीतियाँ बनाने लगी। देश के सरकारों को भी इन कम्पनियों के हितों के लिए नीतियाँ बनाने के लिए मजबूर होना पड़ा। जनता के हितों की चिन्ता कहीं नहीं दिखी। डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा स्पष्ट करते हैं – "इनमें कई कम्पनियों की आय तो दुनिया के अधिकांश देशों की राष्ट्रीय आय से अधिक है। इनके उत्पादन और व्यापार के क्षेत्र भी विश्व व्यापी है। अक्सर इनका निवेश राष्ट्रीय हितों को नजर अंदाज कर होता है (सिन्हा 111)।"

उदारीकरण के दौर में भारतीय उद्यमियों की मानसिकता में भी बदलाव आया। वे भी अपनी पूँजी का अधिकांश हिस्सा ब्रांड बनाने में खर्च करने लगे। इससे इनकी सीधी टक्कर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से होने लगी। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपनी प्रतियोगिता को समाप्त करने के लिए पहले से तैयार भारतीय ब्रांड को खरीदकर अपने में मिलाने लगी। थम्सअप, अंकलचिप्स, गुडनाईट जैसे ब्रांड को बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने खरीद लिया है। सरकार अब रेलवे, एल. आई. सी, एयर इंडिया, आई. डी. बी. आई जैसी संस्थाओं का शेयर बेचने लगी है। सच्चिदानन्द सिन्हा जी इस स्थिति पर विचार करते हुए कहते हैं –

> अतः अब नीतियाँ मूलतः यूरोप के ओद्योगिक प्रतिष्ठानों और विश्व व्यापार संगठन के प्रावधानों को ध्यान में रखकर ही बनाई जाती है। इस तरह दिल्ली के शासन में देशी से ज्यादा विदेशी हितों का प्रतिनिधित्व हो रहा है। आज दुनिया धनतंत्र की आदर्श स्थिति की ओर बढ़ रही है जिसमें अति धनाढ्य समूह अर्थव्यवस्था और राज्य व्यवस्था दोनो को चला रहे हैं। (सिंहा 111)

किसी भी देश में वैश्वीकरण के प्रसार की प्रक्रिया को राजनीतिज्ञों द्वारा संभव बनाया जाता है। सत्ता पक्ष अपने आर्थिक, मौद्रिक नीतियों का नियमन कर उदारवाद, नव उदारवाद तथा मुक्त बाजार की व्यवस्था करता है। भारत में उन्मुक्त भाव से भूमंडलीय आर्थिक व्यवस्था के फलने फूलने का पूर्ण अवसर प्रदान किया गया। भूमंडलीय आँधी ने राजनेताओं को इस कदर भ्रष्ट किया कि वे गरीब जनता का दुःख दर्द भूलकर हजारों-करोड़ रूपये के घोटालों का खेल खेलने लगे हैं। शाही जीवन शैली, चुनावी खर्चों और अपने

सात पीढ़ियों के लिए स्वीश बैंक में जमा धन राशि के प्रबंध के लिए घोटाले पर घोटाले करते रहते हैं।

भारत में उदारीकरण और निजीकरण के फलस्वरूप जो मुक्त व्यवसाय का प्रचलन शुरू हुआ, यह वास्तव में डार्विननुमा-प्रकृति-नियम पर आधारित है। अर्थात्, जीवन की प्रतियोगिता में वे ही प्राणी बचते हैं जो समर्थ होते हैं, यानी जिनमें परिस्थिति और पर्यावरण के अनुकूल अपने को बदलने और प्रतिद्वंद्विता के लिए अपने को योग्य एवं प्रवीण तथा सशक्त बनाने की शक्ति होती है, **Survival of the fittest...**। मुक्त व्यवसाय में योग्यतम और सशक्ततम ही ठहरता है। निजीकरण यह भावना लेकर आती है कि श्रमिक मिलकर कारखाना नहीं चला सकते, किसान मिलजुलकर खेती नहीं कर सकते, अतः सर्वत्र निजीकरण कर दो। निजीकरण की प्रक्रिया में राज्य सत्ताएँ या राष्ट्रीय सरकारें सहायक है। सम्पन्न देशों के पास पूँजी और तकनीक दोनों है। ये चाहते हैं कि तृतीय विश्व के पिछड़े हुए और विकासशील देशों के विराट बाजार उनके लिए खुल जाएँ और वे सभी क्षेत्रों में यानी उपभोक्ता सेक्टर में भी पूँजी लगा सके। वे अपने पूँजी के बल पर और इन देशों के सस्ते श्रम के बल पर निर्धन देशों के पूँजीपतियों के साथ मिलकर उद्योग खड़ा कर मुनाफा कमाना चाहते हैं। जापान, जर्मन, अमेरिकी कम्पनियाँ विश्व में अपने उत्पादों का जाल बिछा चुकी है, जिससे देशी उत्पाद पिछड़ रहे हैं। हमारे देश में सरकार आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए कई इकाइयों का निजीकरण कर रही है। इस निजीकरण की नीति को लक्ष्य कर ब्रज कुमार पाण्डेय कहते हैं-

> सरकार घाटे में जाने वाली पब्लिक सेक्टर के उपक्रमों का निजीकरण करने के लिए कोई प्रयास नहीं कर रही है। इसके बदले में , सरकार मुनाफा देने वाली इकाइयों का निजीकरण कर रही है जो सामान्य जनता के कल्याण के लिए लाभकारी है तथा जो राष्ट्र का गौरव भी है। (पाण्डेय 13)

देश की आर्थिक स्थिति को मजबूत करने के लिए विदेशी कम्पनियों का निवेश जरूरी है, साथ ही निजीकरण की प्रक्रिया भी उतनी ही जरूरी है। किन्तु, निजीकरण के नाम पर लाभ में चल रहे सरकारी कम्पनियों का विलय कर देना, या किसी एक उद्योगपति को पनपने का भरपूर मौका देना एवं बाकी सभी कम्पनियों को कम आंका जाना कहाँ तक उचित है? किसी भी देश के लिए निजीकरण के साथ-साथ सरकारीकरण भी जरूरी है। किन्तु, अंधाधूँध निजीकरण करके सारे सरकारी संस्थाओं को बंद कर देना या बेच देना किसी भी देश के स्वस्थ लोकतंत्र के लिए सही नहीं कहा जा सकता है।

1.5. अन्तरराष्ट्रीय बाजारः

आज किसी भी देश में जो कुछ भी घटित हो रहा है, उसके पीछे अन्तरराष्ट्रीय बाजार का ही हाथ है। विकासशील देश विकसित देशों के लिए महज एक बाजार है। अब बाजार अपने देश तक सीमित न होकर अन्तरराष्ट्रीय बन चुका है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने एक देश के प्रोडक्ट को अन्य देशों तक फैला दिया है। आज हर एक देश द्वारा दूसरे देश में अपने बाजार को फैलाने की होड़ शुरु हो चुकी है। बाजार द्वारा दूसरे देश को हथियाने की

प्रक्रिया ही एक तरह से नव उपनिवेशवाद है। नक्रूमाह ने जिसे नव उपनिवेशवाद कहा था वह प्रक्रिया ही आगे चलकर वैश्वीकरण, उदारीकरण के रूप में वर्तमान दौर में विकसित हुई। प्रभात पटनायक के अनुसार वैश्वीकरण अन्तरराष्ट्रीय वित्तिय पूँजी के हित में राष्ट्र – राज्यों को समाप्त करने की जगह उनकी सम्प्रभुता को समाप्त करता है और एक नई विश्व व्यवस्था कायम करता है। वैश्वीकरण की इस नई विश्व व्यवस्था को बनाने और कायम रखने के लिए अमेरीकी महाशक्ति अन्तहीन युद्धों का सहारा लेती है। ये युद्ध उसके सैन्य औद्योगिक संकुल के मुनाफे को बढ़ाते हैं। प्रणय कृष्ण जी कहते हैं –

> अमरीकी राष्ट्रपति रीगन और ब्रिटिश प्रधानमंत्री थेचर की पहल कदमी पर 80 के दशक से कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को त्याग दिया गया और बहुराष्ट्रीय वित्तिय पूँजी की नई विश्व व्यवस्था का भूमंडलीकरण शुरु हुआ। 1968 में ही पूँजी के अभूतपूर्व भूमंडलीय प्रसार की प्रवृत्ति को लक्ष्य करते हुए मैकलूहान ने पूरी दुनिया की परिकल्पना एक विश्व ग्राम के रूप में की। 1990 में सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप की समाजवादी व्यवस्थाओं के अंत के साथ पूँजी के अर्थतंत्र के वैश्वीकरण की प्रक्रिया के रास्ते की बाधाएँ खत्म हो गई। (कृष्ण 59)

आज हमारे बाजार हम तक सीमित न होकर अन्तरराष्ट्रीय हो चुके है। हमारे घर- घर में अन्तरराष्ट्रीय उत्पाद चुटकी बजाते ही हाजिर हो जा रहे हैं। ऑनलाइन शोपिंग ने तो हर एक अन्तरराष्ट्रीय उत्पाद तक हमारी पहुँच बना दी है।

1.6.बाजारः-

जीवनपयोगी वस्तुओं के लेन-देन का स्थान बाजार कहलाता है। इस पारम्परिक बाजार में लेन देन की प्रक्रिया मनुष्य के सामान्य गुणों, मानवीय मूल्यों को बगैर हानि पहुँचाए सम्पन्न होती है, लेकिन आज का बाजार अपने आधुनिक रूप पूँजीवाद के विकास के साथ दुनिया के सामने आया है। इस बाजार में व्यापार के लिए खुली प्रतियोगिता होती है। आज का बाजार जिसकी लाठी उसकी भैंस का बाजार है। यह ग्लोबल बाजार है जो किसी एक निश्चित स्थान में न होकर अन्तरराष्ट्रीय बन चुका है, जहाँ बाजार पर कब्जा जमाने की होड़ भी शुरू हो चुकी है। राज्यों के सम्राज्यवाद का स्थान बाजारवादी व्यापारिक सम्राज्य ने ले लिया है। हमारा समाज भी बाजार द्वारा निर्मित एवं नियंत्रित हो रहा है, जहाँ हर एक व्यक्ति उपभोक्ता है। वैश्वीकरण का नारा बाजार को हासिल करने का नारा है। वैश्वीकता का यह जोश औऱ जिद सम्पूर्ण विश्व के पश्चिमीकरण की जिद है, जिसे यथार्थ बनाने में विश्व के कई देशों की संस्कृतियों, सभ्यताओं का नाश किया जा रहा है। आज का बाजार उपभोक्ता को संतुष्ट नहीं करता, बल्कि और ज्यादा असंतोष पैदा करता है। अब वह उत्पाद के अनुरूप लोगों की मनोवृत्ति बनाता है और उत्पाद को सहजता से नहीं ज्यादा आक्रामकता से पेश करता है। बाजार की प्रभावशीलता को स्पष्ट करते हुए 'नंद भरद्वाज अपनी पुस्तक 'संस्कृति, जनसंचार और बाजार' में कहते हैं – ''अब तो बाजार तय

करता है कि आप अपने घर की सजावट किस तरह रखेंगे। आप किस काट की कपड़े पहनेंगे। क्या खायेंगे और अपनी सहज जीवन प्रक्रिया को छोड़कर किन आरोपित तौर-तरीकों को अपनाने के लिए बाध्य होंगे (भरद्वाज 146)।" आज हम पूरी तरीके से बाजार द्वारा संचालित है।

वैश्वीकृत बाजार शोषणकारी है तथा गरीबी और बेरोजगारी को पैदा करता है। यह समाज की जरुरत को नहीं मुनाफे की जरुरत को व्यक्त करता है। यह आर्थिक असमानता उत्पन्न कर सामाजिक लाभों की उपेक्षा करता है। इस बाजार में श्रमिक पूँजी का दास बन चुका है। इस बाजार की अर्थव्यवस्था का आधार घृणित उपभोक्तावाद है। उपभोक्तावाद का मंत्र है अधिक से अधिक उपभोग करो और उससे हमेशा असंतुष्ट रहो। हमारे बाजार का आदर्श अब बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ तय करती हैं, जिनके लिए हमने मुक्त व्यापार का रास्ता खोल दिया है।

बाजार संस्कृति का वाहक और वस्तु के आदान-प्रदान का स्थान होता है। वैश्वीकरण इस बाजार पर अपने बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा एकाधिकार कर अमेरिकी संस्कृति और अमेरिकी जीवन-मूल्यों को परोस रहा है। वैश्वीकरण की इस नई संस्कृति ने मूल्य संकट को जन्म दिया है। मनुष्य आज परम्परा और आधुनिकता के संक्रमण से जूझ रहा है। वह एक ओर अपनी परम्परा को पूरी तरह छोड़ने में असमर्थ है, वहीं वैश्वीकरण द्वारा परोसी गई आधुनिक नई संस्कृति के आकर्षण से खुद को अलग नहीं रख पा रहा है। अब बाजार ही हमारे जीवन-मूल्यों को निर्धारित एवं संचालित करने लगा है। 'गिरिश मिश्रा', 'ग्लोबलाइजेशन एन्ड कल्चर' में लिखते हैं- "बाजार सुंदरता को सेक्स अपील से जोड़ता है, धर्म और अध्यात्म का व्यवसायीकरण करता है और प्रेम को प्रदर्शन की वस्तु मानता है (मिश्रा 15)।" बाजार में धर्म, सेक्स और प्रेम का व्यवसायीकरण हो चुका है।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भारत के नये मध्य वर्ग को रिझाने के लिए विज्ञापन का सहारा लेती हैं। यह विज्ञापन हमारे अंदर उपभोक्तावाद को बढ़ावा दे रहा है, हमारे नैतिक मूल्यों का क्षरण कर रहा है। बार-बार विज्ञापन दिखाकर उस वस्तु को पाने की लालसा बढ़ाई जा रही है। यही नहीं, उस वस्तु को पाने के लिए सहजता से ऋण भी मुहैया करा रही है। आज बाजार में सबकुछ बिकता है। बाजार ब्रांड की संस्कृति का धरोहर है। हम ब्रांड के पीछे भागने वाले हो गये हैं। खान-पान से लेकर पहनावे तक की चीजें प्रमुख ब्रांडों से भरे हुए हैं। बाजार जीवन के हर पहलू का व्यापार धड़ल्ले से कर रहा है। मानव जीवन का कोई भी पक्ष इससे अछूता नहीं है। अमीत कुमार सिंह के शब्दों में कहें तो –

> भूमंडलीकृत भारत का समाज एक ऐसे उपभोक्तावादी समाज के रूप में विकसित हो रहा है, जहाँ बाजारवाद भारतीयों की नई जीवन-शैली बनकर उभरा है। भारत का मध्यवर्ग एक नई दुनिया में प्रवेश कर चुका है, जहाँ उपभोग का संबंध केवल उसकी आवश्यकता एवं संतुष्टि से नहीं रह गया है। यह व्यक्ति के पहचान से भी संबंधित हो गया है। (सिंह 95)

यह सच है कि बाजारवाद ने हमारे अंध-विश्वास को तोड़ा है। जाति-प्रथा, छुआ-छूत जैसी सामाजिक विकृतियों को मिटाया है, सांस्कृतिक दीवारें टूटी है, त्योहारों और उत्सवों का आदान-प्रदान हुआ है, किन्तु यह भी सच है कि इसी बाजारवाद ने मनुष्य को एक मशीन बनाकर रख दिया है। इस बाजारू संस्कृति ने हमारे अंदर असंतोष को पैदा किया है, धार्मिक कट्टरता को बढ़ावा देकर बर्बरता की संस्कृति को जन्म दिया है, अपराध को बढ़ावा दिया है। इसने हमारे समक्ष नऐ मूल्यों को जन्म देकर पारम्परिक मूल्यों को संकट की स्थिति में ढ़केल दिया है। बाजारवाद की इस समस्या की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए नंद भारद्वाज का कहना संगत प्रतीत होता है कि –

> यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि बड़े शहरों के कार्निवॉल कल्चर की चकाचौंध और बाजारों की रंगिनियाँ तो हमें आकर्षित करती हैं, लेकिन उनके साये में पलते आर्थिक अपराध, बेईमानी, भ्रष्टाचार, कालाबजारी, लूट-खसोट, गलाकाट स्पर्धा, भेदभाव आदि पर एक मिनट के लिए भी नजर नहीं टिकती। (भारद्वाज 144)

बाजारवाद ने सबसे बड़ा निशाना मध्य वर्ग को बनाया है। भारत का नया मध्य वर्ग कुल जनसंख्या का 30 प्रतिशत है। यह वर्ग आधुनिक होने की होड़ में छटपटाहट और अकुलाहट में जीता है। वह घोर स्वार्थी है। यह वर्ग चार्वाक का दर्शन खाओ, पीओ मौज करो का हिमायती है। बाजारवाद इस मध्य वर्ग के अंदर उपभोग की वस्तुओं को पाने की कुंठा को जगाता है। यह मध्य वर्ग उपभोक्तावादी बनकर सामाजिक सरोकारों से कटता जाता है। वह व्यक्तिवादी होकर सभी भौतिक साधनों का उपभोग करना चाहता है। 'नोम चामस्की' का 'मध्यम वर्ग की अजीब दास्तान', में यह कहना अतिवाद नहीं है कि "भारतीय अभिजात्य वर्ग की जीवन शैली वास्तव में आश्चर्यजनक है। मैंने अमरिका में भी इसप्रकार की अमीरी नहीं देखी(चोमस्की 163)।" भारत का मध्यवर्ग दिखावा में अधिक जीता है।

1.7. उपभोक्तावादी संस्कृतिः-

संस्कृत शब्द का व्याकरणिक अर्थ निकाला जाय तो संस्कृत शब्द 'संस्कृत' भाषा की 'संस्कृ' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय जोड़ने से बना हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है 'अच्छी स्थिति'। किन्तु, संस्कृति को केवल व्याकरणिक दृष्टिकोण में समझना इसे अधूरा जानना है। संस्कृति मानव के शारिरिक, मानसिक एवं आत्मिक शक्ति के सामंजस्यपूर्ण विकास पर जोर देती है। संस्कृति का जन्म ही इसलिए हुआ ताकि मानव अपने जीवन के इन तीनों शक्तियों का विकास कर सकें। जो संस्कृति मानव के इस उद्देश्य को पूरा करने में अधिक सक्षम होती है, वह संस्कृति अधिक उच्च और चिरकालिक होती है।

आज का दौर भूमंडलीकृत दौर है। इस दौर ने एक नई संस्कृति को जन्म दिया है जो बराबर हमारी प्राचीन संस्कृति की जड़ो को कुरेद रही है। वैश्वीकरण के नाम पर जो उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रचार और प्रसार दिन रात बढ़ रहा है, ऐसे में हमारे जीवन मूल्य कब तक बचे रह पायेंगे, यह कहना चुनौतीपूर्ण है। आज के युग में संस्कृति का अर्थ उन साधनों और व्यवहारों का योगफल है जो मूल्यों और अर्थों को उत्पन्न करती है। अर्थ की उत्पत्ति का विचार संस्कृति के विचार को भविष्य की ओर अभिमुख करती है। यह केवल विरासत न होकर निर्माण करने का आयाम देता है। वैश्वीकरण की संस्कृति इसी समर्थ एवं शक्ति को क्षति पहुँचाने का प्रयत्न करती है। आज वैश्वीकरण के केन्द्र में अमेरिकी पूँजी की प्रधानता है, जो पूरे विश्व में बाजार के माध्यम से अमेरिकी संस्कृति का प्रचार और प्रसार कर रही है। डी. मैक्वेल ने 'मैक्वेल्स मास कम्युनिकेशन थ्योरी' मे यह स्वीकार किया है कि "सामान्य अर्थ में भूमंडलीकरण पश्चिमीकरण और विशेष अर्थ में अमेरिकीकरण का पर्याय है (मैक्वेल 221)।" भूमंडलीकरण के नाम पर पूरे विश्व में अमेरिका का प्रसार हो रहा है।

संस्कृति वैश्वीकृत सम्राज्यवाद के रास्ते की सबसे बड़ी बाधा है। आज सम्राज्यवाद इतना शक्तिशाली हो चुका है कि वह अपनी प्रभुता से किसी भी संस्कृति को उलट कर अपनी शक्तिशाली संस्कृति को आरोपित कर सकता है। यह संस्कृति न केवल हमारे विचार को बल्कि, जीने की मूल्य प्रणालियों, उपभोग के प्रतिमानों यहाँ तक कि प्रेम और कामभावना जैसी मानवीय इच्छाओं तक को बदल देती है। इसका उद्देश्य भारतीय मध्यवर्ग को अमेरिकी जीवन मूल्यों से जोड़कर भारतीयों में नई रूचियाँ पैदा करना और उन्हें वैश्विक, सांस्कृतिक परिदृश्य पर पहुँचाने का भाव पैदा करना है। पश्चिमी संस्कृति में बहुत कुछ ऐसा है जिसे अपनाने की जरूरत है, लेकिन वैश्वीकरण के फलस्वरूप पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति की सबसे बेहतरीन के बजाय बदतरीन चीजें ही आयातीत हो रही है। यह सच है कि वैश्वीकरण के कारण सांस्कृतिक आदान – प्रदान बढ़ा है, लेकिन आज जितनी अधिक संस्कृति की निरंतरता, विविधता और पुनर्रचना संकट में है, इससे पहले कभी नहीं था। आज सतहीपन, कृत्रिमता और कूपमंडूकता ही संस्कृति है। इस वैश्विक संस्कृति में चारों ओर कामुकता है और स्त्री देह की अपरंपार लीला। इसी संदर्भ में 'प्रभा खेतान' 'भूमंडलीकरणः ब्रांड और संस्कृति' पुस्तक में लिखती है –

> अतः भूमंडलीय संस्कृति एक ओर जहाँ समान्यता की चर्चा करेगी, वहीं अपने भीतर अतिशय भिन्नतामूलक मूल्यों को लिए हुए होगी। भूमंडलीय संस्कृति में विचार, सूचना मूल्य और आधुनिक रूचियों का निरंतर प्रवाह जारी रहता है, क्योंकि सूचना संसार की अति उन्नति के कारण भूमंडलीकृत संस्कृति का एक विशेष रूप विकसित

होता है। इससे एक परा राष्ट्रीय संस्कृति विकसित होती है जो विभिन्न राष्ट्र राज्य और समाज से नहीं जुड़ी होती। (खेतान 30)

वैश्वीकरण भौतिक परिवर्तन करने में इतना मशगूल है कि उन्हें सांस्कृतिक सम्राज्यवाद का स्वर सुनाई नहीं दे रहा है। इससे बचने के लिए हमें प्रतिरोध की संस्कृति अपनानी होगी।

उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास 20वी शताब्दी के मध्य अमेरिका में हुआ। आज यह संस्कृति सारे संसार में अपना पैर फैला चुकी है। उपभोक्ता संस्कृति का लक्षण केवल भोग करना नहीं है, बल्कि जनता द्वारा पूँजी के आधिक्य के कारण आवश्यकता से अधिक आवश्यक-अनावश्यक चीजों का प्रतिकात्मक उपयोग करना है। पूँजीपति वर्ग द्वारा अधिक से अधिक चीजों को पाने की इच्छा उपभोक्ता संस्कृति को जन्म देता है, जहाँ चीजों के साथ मानवीय सौहार्द का भी वस्तुकरण घटित होता है। मानव स्वयं एक प्रोडक्ट बनकर रह जाता है। 'अमीत कुमार सिंह' अपनी पुस्तक 'भूमंडलीकरण और भारतः परिदृश्य और विकल्प' में कहते हैं –

> भूमंडलीकृत भारत का समाज एक ऐसे उपभोक्तावादी समाज के रूप में विकसित हो रहा है जहाँ बाजारवाद भारतीयों की नई जीवन शैली बनकर उभरा है। भारत का मध्य वर्ग एक नई दुनियाँ में प्रवेश कर चुका है, जहाँ उपभोग का संबंध केवल उसकी आवश्यकता एवं संतुष्टि से नहीं रह गया है। यह व्यक्ति के पहचान से भी संबंधित हो गया है। (सिंह 95)

विदेशी पूँजी द्वारा विज्ञापन के माध्यम से फूहड़ संस्कृति परोसी जा रही है। जीवन-मूल्य, संस्कृति सब कुछ वैश्वीकृत बाजार में माल के रूप में बदल चुका है। उपभोग मानव जीवन का प्रमुख उद्देश्य है और आवश्यकता भी। लेकिन, बदलती दुनिया के साथ – साथ उपभोग का स्वरूप भी बदला है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने आदमी को सामाजिक चिंताओं से विमुख कर आत्मकेन्द्रित कर दिया है। इसने मूल्य संस्कृति को, नैतिक चेतना को नष्ट कर सुख और मजा को ही लक्ष्य बना लिया है। इस संस्कृति में आदमी का मूल्य नैतिक, बौद्धिक और मानवीय गुणों से नहीं आंका जाता है, बल्कि बाजार में उसकी जगह और सत्ता से आंका जाता है। इस संस्कृति के प्रभाव में सबसे अधिक मध्य वर्ग आता है। यह मध्य वर्ग एक साथ कितना कुछ पाने और सुखी जीवन बिताने की लालसा में नैतिकहीनता की ओर बढ़ता चला जाता हैं। 'डॉ. शम्भुनाथ' 'सभ्यता से संवाद' पुस्तक में सवाल उठाते हुए कहते हैं –

> सवाल उठने चाहिए। विकास मूल्य मुक्त हो या मूल्य नियंत्रित। विकास में यदि गड़बड़ी है, नैतिक प्रदूषण होगा। आज समाज में एकतरफा हवस बढ़ती जा रही है और दूसरी तरफ निराशा। इस माहौल में जब आदमी कभी शिकारी और कभी शिकार है, नैतिकता एक चिथड़ी मनुष्यता बन जाती है। (शंभुनाथ120)

इस संस्कृति का उद्देश्य है बाजार में सबकुछ बेचना और मुनाफा कमाना, इसके लिए हर मर्यादा का उल्लंघन किया जा रहा है।

भूमंडलीकरण की संस्कृति ने ब्रांड की संस्कृति को जन्म दिया है। वस्तुओं के ब्रांड के साथ हमारा ऐसा भावात्मक संबंध बना दिया जाता है कि हम बाजार में जाकर अपने पसंदीदा ब्रांड की ही खोज करते हैं। प्रभा खेतान सही मानती हैं कि आज के युग में वस्तु की जरूरत केवल देह के स्तर पर नहीं रह गई है, बल्कि उपभोग का अपना एक आध्यात्मिक आयाम भी है और ब्रांड बेचने वाले वस्तु का संबंध मन से स्थापित करता है, क्योंकि वह जानता है कि यदि ग्राहक के मन में एक बार कोई विशेष ब्रांड बैठ जाय तो वह दूसरे ब्रांड को नहीं अपनाएगा। हम किस वर्ग में आते हैं इसकी पहचान हमारे द्वारा प्रयोग किए जाने वाले ब्रांड से होता है। ब्रांड की संस्कृति को विकसित करने में महान कलाकार, खिलाड़ी, संगीतज्ञ आदि का बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किया जाता है। वे विज्ञापन के द्वारा हमारे मानस पर किसी ब्रांड का असर छोड़ते हैं। यह हमारी मानसिकता को बदलता है साथ ही हमारे मूल्यबोध को भी। ब्रांड के लिए नये-नये प्रतीकों की खोज जारी है। इस परिवर्तन के दौर में, बाजार की भीड़ और ब्रांड की बाढ़ में व्यक्ति का अनुभव जगत नष्ट हो रहा है। इस समस्या की ओर प्रकाश डालते हुए 'संजय कुमार' ने 'नव उपनिवेशवाद और हिन्दी कहानी पुस्तक में सही कहा है –

> पारस्परिक सौहार्द, स्नेह, सुख-दुख में एक होने की भावना तथा आस्था एवं विश्वास के सभी मूल्य व्यक्ति स्वातंत्र मूल्य के सम्मुख विलुप्त हो गए। शहरीकरण और औद्योगीकरण की नयी नीति ने सामाजिक ढ़ांचे में अमूल परिवर्तन कर दिया। परम्परागत सामाजिक मूल्यों में बड़ी तेजी से विघटन हुआ और आर्थिक विषमता ने व्यक्ति के परम्परागत संबंधों की कमर तोड़ दी। भोगवादी बाजार की संस्कृति ने जहाँ संबंधों को बिखराया वहीं वह अपने संबंधगत दायित्व से दूर हो गया। (कुमार 56)

मध्य वर्ग बाजार द्वारा ललचायी गई वस्तु को प्राप्त करने के लिए भ्रष्टाचारी बन गया है। वह हर कीमत पर आराम के साधनों को पाना चाहता है। आज हर व्यक्ति स्वतंत्र होकर जीना चाहता है। इस कारण संबंध भी औपचारिक बनते चले जा रहे हैं। ऐसे समय में व्यक्ति को अपनी पहचान, अपनी जगह नहीं मिल पाती है। वह शारीरिक रूप से स्वतंत्र होते हुए भी मानसिक रूप से गुलाम ही रह जाता है। प्रभा खेतान का यह कहना सही समीचीन होता है कि –

> हर आदमी एक प्रति-संस्कृति के रूप में विकसित होती हुई बहुनिगमों की संस्कृति का शिकार होता जा रहा है। हालाकि स्पेश की चाह बहुतों को है। इतिहास के बोझ

तले आदमी खत्म नहीं होना चाहता, वह तो ऐसा बहुत कुछ चाहता है जो उसका अन्तरंग हो, निजी हो, दूसरों द्वारा निर्देशित न हो। (खेतान 46)

आज का नया युवा वर्ग कूल संस्कृति के नाम पर जो चाह रहा है; वह कहीं तो उसके लिए परिवर्तन का सूचक है, तो कहीं बदलते मूल्य का स्वरूप। आज के युग में कुछ भी पहनना केवल फैशन न होकर परिवर्तन का प्रतीक बन गया है। यह बात सही है कि भारतीय बाजार में ब्रांड की अह्म भूमिका स्थापित हो गई है, फिर भी भारतीय समाज का ढ़ाँचा ऐसा है कि इसे समझना बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए आसान नहीं है। भारतीय बाजार में एक मध्यवर्ग ऐसा भी है जिसे ब्रांड से कोई मतलब नहीं, उसे तो बस माल से मतलब है। कपड़ा धोने के लिए निरमा या रीन के ब्रांड की आवश्यकता उसे नहीं है। उसे तो कपड़ा धोने से मतलब है, चाहे वह साधारण साबून क्यों न हो। उदारीकरण के दौर में भारतीय बाजार में कई बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपना एक विशाल उद्देश्य लेकर आई कि भारतीय बाजार में उनके ब्रांड को देखते ही लोगों की भीड़ लग जायेगी और उनके सामानों की माँग बढ़ने लगेगी, किन्तु ऐसा हुआ नहीं। भारतीय समाज में 80 प्रतिशत ऐसा वर्ग है जो शॉपिंग मॉल में शॉपिंग नहीं करता। उसे तो स्थानीय बाजार और वहाँ मिलने वाली वस्तु से ही उसकी पूर्ति हो जाती है।

वैश्विक दौर में वस्तु को भूमंडलीय स्वरूप में पेश किया जाता है ताकि पूरे विश्व में उसकी खपत हो। वे भूमंडलीय गाँव के बाजार में एक ही तरह की वस्तुएँ बेचना चाहते हैं, जबकि लोगों की रूचि एवं स्थानीय स्वादानुसार वस्तु बनाना बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए सिर दर्द का काम है। इसलिए कुछ बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ उपभोक्ता वर्ग की रूचि को ही बदल देना चाहती हैं, इसके लिए विज्ञापनों में बेहिसाब खर्च किया जाता है जिससे वस्तुओं की लागत कीमत बढ़ जाती है, वहीं लोकल ब्रांड बड़ी आसानी से बाजार में बाजी मार लेता है। फिर भी लोकल ब्रांड को हमेशा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की ताकत से डर लगा रहता है, क्योंकि बड़ी कम्पनियाँ लोकल ब्रांड को ही खरीद लेती है और बाजार पर अधिकार जमा लेती है। शायद इसीलिए 'डॉ. शम्भुनाथ' को 'सभ्यता से संवाद' में कहना पड़ा –

भूमंडलीकरण बिना रक्तपात और रोकटोक के लूट का दूसरा नाम है। यह लूट प्राकृतिक और मानवीय संसाधनों की ही नहीं है, यह एक सांस्कृतिक लूट और गूंडागर्दी भी है। सभी लोग दर्शकदीर्घा या उपभोक्ता बाजार में होंगे। कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। सभी को हँसते रहना होगा, कोई दुःख व्यक्त नहीं कर सकता। भूमंडलीकरण ने सांस्कृतिक तहस-नहस को एक सुंदर खेल बना दिया है- खेलो इंडिया खेलो। उसका भारी आक्रमण आदमी की उस सृजनात्मकता पर है। उसने एक जीवन विरोधी माहौल ही नहीं, रचना विरोधी माहौल भी पैदा कर रखा है। कहना

होगा कि वह विकास का चाहे जितना ढ़ोंग रचे, उसकी नजर मनुष्य पर नहीं है, वह उपनिवेशवाद का ही नया परिष्कृत और महीन रूप है। (शंभुनाथ 220)

असल में भूमंडलीय कुप्रभाव का खतरा यह नहीं है कि पेड़ नहीं होंगे, चींजे नहीं होंगी, चीजों की तो इफरात होगी, सिर्फ मनुष्य का उनसे रागात्मक रिश्ता टूट जायेगा। मनुष्य और चीजों के संबंध की एक अनुलंघनीय दूरी बन जायेगी। इस वैश्वीकरण ने मनुष्य के जीवन में बहुत परिवर्तन लाया। इसने जहाँ मनुष्य को उपभोक्ता बना दिया, वहीं हाशिए पर जी रहे लोगों के जीवन में भी भारी परिवर्तन घटित किया। हाशिए पर जी रहे लोगों को अपने अधिकारों का ज्ञान हुआ। कुल मिलाकर कहें तो वैश्वीकरण की घटना ने कई विमर्शों को एक साथ साहित्य जगत में लाकर खड़ा कर दिया। अतः मेरे शोध का उद्देश्य भी वैश्वीकरण के कारण उत्पन्न परिस्थितियों में 21 वीं सदी के दूसरे दशक की कहानी में व्यक्त विभिन्न विमर्शों की दिशा को समझना और हाशिए पर जी रहे किसान, स्त्री, दलित, आदिवासी जैसे समुदाय के अधिकार एवं समस्याओं को समझते हुए उनका विश्लेषण करना है। आजकल इन विमर्शों की हिन्दी साहित्य में धूम मची हुई है। इन विमर्शों पर कई शोध कार्य हो रहे हैं, किन्तु जहाँ तक मैंने साहित्यलोकन किया तो पाया कि 21वीं सदी के दूसरे दशक की कहानियों पर इस तरह का कोई कार्य मेरी समझ में नहीं हुआ है। अतः इस पर शोध कार्य करना ही मेरे शोध को महत्व प्रदान करेगा।

1.8. विमर्श की अवधारणा:-

विमर्श एक पद है जिसका सामान्य अर्थ है बातचीत करना। इसे अंग्रेजी के डिस्कोर्स शब्द का समानार्थी समझा गया, किन्तु हिन्दी साहित्य में विमर्श का अर्थ केवल बातचीत करना तक सीमित नहीं है, इसका अर्थ एवं स्वरूप कई आयामों को लिए हुए है। अतः विभिन्न विद्वानों ने समय – समय पर अपने तरीके से इसे परिभाषित करने की कोशिश की है।

'ऑक्सफोर्ड डिक्सनरी' के अनुसार विमर्श का अर्थ है – 1. विचार विवेचन 2. परीक्षण 3. समीक्षा 4. तर्क।

आबिद रिज्वी 'वृहद हिन्दी शब्दकोश' में लिखते हैं – "विमर्श यानी समालोचना, परामर्श, परीक्षा, किसी बात पर अच्छी तरह विचार करना"।(रिज्वी 922)

'ज्ञान शब्द कोश' के अनुसार – "विचार, विवेचन, परीक्षण, समीक्षा, तर्क, ज्ञान"। (741)

'संस्कृत-हिन्दी शब्द कोश' में विमर्श का आशय है- "विचार-विनिमय, सोच विचार, परीक्षण, चर्चा"। (946)

'हिन्दी विश्व कोश' में विमर्श के संबंध में लिखा है- "1. वितर्क, विचारना, 2. तथ्यानुसंधान, किसी तथ्य का अनुसंधान 3. विवेचना, आलोचना 4. युक्ति द्वारा परीक्षा करना 5. असंतोष 6. अधैर्य, अधीरता"। (478)

'डॉ. भोलानाथ तिवारी' का विमर्श से आशय है- "तबादला-ए-ख्याल, परामर्श, मशविरा, राय-बात, विचार-विनिमय, सोच विचार"। (तिवारी 572)

'हेमंत शेष' 'कलाओं की मूल्य दृष्टि' में विचार रखते हुए कहते हैं – "विमर्श चेतना या अर्थमय उन्मेष है और अर्थ वे तत्व होते हैं जिन्हें आत्म चेतन चेतना विषयों के रूप में प्रस्तुत कर उनके माध्यम से अपने सत्य को व्यक्त करती है (शेष 75)।"

'अभय कुमार दुबे,' 'आधुनिकता के आईने में दलित' पुस्तक में कहते हैं –

> विमर्श/आख्यान/कलाम (डिस्कोर्स): इसका निपट अर्थ है दो वक्ताओं के बीच संवाद या बहस या सार्वजनिक चर्चा। लेकिन उत्तर-आधुनिक पदावली के प्रचलन के कारण समाज विज्ञान में इस शब्द का बदले हुए अर्थ में प्रयोग किया जाता है। यहाँ विमर्श का अर्थ होता है अभिव्यक्ति के उन तत्वों और पहलुओं की संरचना जो अपने कुलजोड़ से भी परे जाकर कोई खास अर्थ देने की क्षमता रखता हो। इसे यूँ भी कह सकते हैं कि एक निश्चित सामाजिक संदर्भ में भाषा के जरिये किसी एक विषय के इर्द-गिर्द होती हुई बहस द्वारा व्याख्याओं, तात्पर्य और मान्यताओं के निर्माण की प्रक्रिया को विमर्श या आख्यान या कलाम का नाम दिया जा सकता है। (दुबे 413)

क्रिस बार्कर के अनुसार –

> विमर्श ज्ञान की वस्तुओं का बोधगम्य तरीके से परिकल्पना करते हैं, संरचना करते है, निर्माण करते हैं, साथ तर्क के अन्य तरीकों को अबोधगम्य बनाते हैं। (बार्कर 229)

वैभव सिंह का कहना है –

> एक निश्चित सामाजिक संदर्भ में भाषा के जरिये किसी एक विषय के इर्द गिर्द सम्पन्न बहस द्वारा व्याख्याओं, तात्पर्यों और मान्यताओं के निर्माण की प्रक्रिया का नाम विमर्श है। (सिंह 9)

डॉ. रोहिणी अग्रवाल का यह मानना है कि –

> विमर्श यानी वाद-विवाद-संवाद । यानी किसी भी समस्या या स्थिति को एक कोण से न देखकर भिन्न मानसिकताओं, दृष्टियों, संस्कारों और वैचारिक प्रतिबद्धताओं का

> समाहार करते हुए उलट-पलट कर देखना, इसे समग्रता से समझने की कोशिश करना और फिर मानवीय संदर्भों में निष्कर्ष प्राप्ति की चेष्टा करना। (अग्रवाल 264)

डॉ. कामना पाण्ड्या के अनुसार – "विमर्श द्वारा अभिप्राय निकलता है- संवाद या बातचीत द्वारा निर्मित निश्चित एवं संतुलित दृष्टिकोण।"(पाण्डया 87)

सुधीश पचौरी के अनुसार –

> यह सांस्कृतिक अध्ययन के क्षेत्रों में एक अनिवार्य पारिभाषिक पद है जो अपने क्षेत्रांत वैविध्य के कारण किसी शब्द कोश की परिभाषा से बंधा न रहकर, विमर्शात्मक प्रक्रिया में ही अर्थ ग्रहण करता है और इसलिए इसका उपयोग सामानयीकरण की तरह दिखते हुए भी विशिष्ट होते हैं। (पचौरी 227-228)

अतः विमर्श में दो चीजें निकल कर आती है- 1. सोच विचार कर तथ्य या वास्तविकता का पता लगाना। 2. किसी बात या विषय पर कुछ सोचना या समझना। हम कह सकते हैं कि विमर्श एक प्रकार से सोचने, विचारने एवं धारणाएँ गढ़ने आदि की व्यापक विचार दृष्टि है। यह महज आलोचना न होकर आलोचना से बढ़कर विषय को समझने की कोशिश है। आलोचना और विमर्श में अंतर स्पष्ट करते हुए नामवर सिंह कहते है –"आलोचना में देखना होता है। देखे हुए की व्याख्या करनी होती है। परन्तु विमर्श में पाठ महत्वपूर्ण हो जाता है। आलोचना में तर्क- वितर्क, संवाद, खंडन-मंडन होता था परन्तु विमर्श में पाठ की संरचना ही प्रमुख हो जाती है (सिंह 195)।" 'भारतीय अस्मिता और हिन्दी' पुस्तक में प्रो. शंभुनाथ विमर्श को विचार विमर्श से बढ़कर मानते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में –"विमर्श न आलोचना है, न संवाद और न विचार विमर्श। विमर्श की पहली खूबी है, इसमें पहले से तय होता है, क्या बार-बार कहा जाना है और क्या बिल्कुल नहीं कहना है (शंभुनाथ 300)।" विमर्श को साहित्य के केन्द्र में लाने का श्रेय हंस के सम्पादक राजेन्द्र यादव जी को जाता है। उन्होंने विमर्श केन्द्रित कई अंक निकाले और साहित्य जगत में विमर्श को केन्द्र में ला दिए। विमर्श ने आज के युग में नये-नये संदर्भों को जन्म दिया है। वंचित और अवहेलित समुदाय को जगाया है। चाहे वह दलित हो, स्त्री हो, किसान हो या आदिवासी हो। ये सारे संदर्भ अपने ऐतिहासिक संदर्भ के साथ आज के दौर में अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ रहे हैं।

1.9. विमर्श का स्वरूप:-

आजकल साहित्य में विमर्श शब्द बहुत प्रचलन में है। विमर्श ने समाज के हाशिए पर जी रहे वर्ग की चेतना को हवा देने का काम किया है। आज हर समस्या को विमर्श के साथ जोड़ दिया जा रहा है, बिना यह विचार किये कि विमर्श है क्या? इसका स्वरूप क्या है?

विमर्श के स्वरूप पर विचार करते हुए' डॉ. अर्जुन चव्हान' अपनी पुस्तक 'विमर्श के विविध आयाम' में कहते हैं –

> किसी बात पर गहन सोच विचार विनिमय करना ही विमर्श है। कहना सही होगा कि किसी विषय विशेष के संदर्भ में गंभीरता से चिंतन, मनन, विवेचन, सलाह, मशविरा, विचार विनिमय और सोच विचार करना ही विमर्श करना है। बहुत कारगर ढ़ंग से सोचकर वस्तुनिष्ठ तथा तर्क संगत विवेचन और आलोचना करना ही विमर्श करना है। विमर्श किसी भी विषय को लेकर हो सकता है। व्यक्ति, समाज, वर्ग, जाति, विचार तथा कोई विशिष्ट स्थिति आदि सब विमर्श के विषय हो सकते हैं। (चव्हान 9)

भारतीय परिप्रेक्ष्य में 1990 के बाद की नीति ने भारतीय मानस में एक बड़ा परिवर्तन घटित किया। वह हर वर्ग जो समाज से दरकिनार था, वह चर्चा के केन्द्र में आया। साहित्यिक रचनाओं में अनुभूति की प्रमाणिकता पर बल दिया जाने लगा। फलस्वरूप एक साथ कई विमर्श साहित्य चर्चा के केन्द्र में आने लगे। विमर्श की उत्पत्ति के संबंध में शंभुनाथ जी 'भारतीय अस्मिता और हिन्दी' में कहते हैं – "भारत की राजनीतिक व्यवस्था में केन्द्रीकरण हमेशा एक बड़ी सम्स्या है। यही वजह है कि हाशिए के लोगों को अपनी आवाज मुखर करने के लिए पृथकता का रास्ता बार-बार चुनना पड़ा (शंभुनाथ 240)।" फलस्वरूप कई विमर्शों ने अपनी हाजिरी जाहिर की और विमर्श का स्वरूप धीरे-धीरे बढ़ने लगा। इसने अपनी परिधि में हर विषय वस्तु को ले लिया, जिसपर विचार किया जाना अपेक्षित लगा। 'अतः 'विमर्श के विविध आयाम' पुस्तक में अर्जुन चौहान लिखते हैं-

> विमर्श का स्वरूप अत्यंत व्यापक है। यह एक ऐसी संकल्पना है कि जिसके अन्तर्गत संसार के किसी भी विषय पर तर्क संगत सोच-विचार-विनिमय हो सकता है, विवेचन-विश्लेषण किया जा सकता है। स्पष्ट है कि विमर्श का स्वरूप बहुत व्यापक है, किन्तु इसमें किसी विषय पर सूक्ष्मता से सोच-विचार अपेक्षित है। (चव्हान 19)

आज विमर्श के अन्तर्गत स्त्री और दलित ही नहीं, बल्कि आदिवासी, किसान, बाल, किन्नर, पर्यावरण जैसे कई मुद्दे शामिल हो रहे हैं, क्योंकि विमर्श विचारों की सम्बद्ध प्रक्रिया है जो सभी प्रकार की अवधारणाओं को समझने की शक्ति का विकास करती है और मानवीय बोध को जन्म देती है। विमर्श के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए सुधीश पचौरी का 'वाक् पत्रिका' में कहना है –

> विमर्श अनिवार्यता सत्ता और ज्ञान के निर्माण की जटिल प्रक्रिया के हिस्से होते हैं, उनकी पूर्व कल्पना करते हैं और वैधता सिद्ध करते हैं। विमर्श निर्धारित कर दी गई भाषा में होते हैं जो संस्थानों से अपनी वैधता प्राप्त करती है। वे विविध विचार समूहों, व्यवहारों, ज्ञान रूपों के दूहराव से नियमन करते हैं। यह ज्ञान के हर क्षेत्र में

होता है। ये विमर्शात्मक रूप कहलाते हैं। वे सत्ता को वैध या अवैध बनाते हैं। इस प्रक्रिया में विमर्श, किसी सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति में कौन क्या कहता, लिखता है, इसे नियमित करते हैं। (पचौरी 228)

आज दलित हो, स्त्री हो या किसान विमर्श, स्वानुभूति और सहानुभूति के आधार पर अभिव्यक्ति चर्चा का विषय बना हुआ है। इतना कहा जा सकता है कि स्वानुभूति द्वारा रचित साहित्य में सहानुभूति आधारित साहित्य की तुलना में जीवंतता कहीं अधिक होती है। इसे ही लक्ष्य कर सुधीश पचौरी हंस में लिखते हैं - "आज विमर्श का पॉजिटिव पक्ष है कि वह डिफरेन्स बताने की कोशिश कर रहा है। न्याय के रूप में देखो तब न्याय देना (पचौरी 207)।" यह डिफरेन्स मिटाना ही सामुदायिक विमर्श का मूल लक्ष्य है।

विमर्श की समस्या यह है कि यह किसी समस्या को सुलझाता नहीं है। इसमें आलोचना तो होती है, किन्तु निष्कर्ष नहीं होता। आलोचना हमेशा खुली रहती है और उसका अन्त नहीं होता। इसमें प्रश्न रह जायेंगे। प्रो. शंभुनाथ का कहना है –"सामुदायिक विमर्श समाज के दबे संदर्भों को सामने लाता है और सामंती मिजाज को बौखलाहट से भर देता है, पर उसकी खूबी यह है कि यह कोई समाधान नहीं दे पाता (शंभुनाथ 13)।" विमर्श की भले अपनी सीमा हो और यह भले कोई निष्कर्ष न देता हो, किन्तु एक बात तो तय है कि इस विमर्श ने वंचित और अवहेलित समुदाय को जगाया है और हजारों सालो से जिस समुदाय को समाजिक अधिकारों से वंचित रखा गया था, अब उन्हें अधिकार मिलने लगे हैं और अभी इसे और बहुत दूरी तय करना बाकी है।

1.10. वैश्विक संदर्भ में विभिन्न विमर्शः

आज के दौर में एक साथ कई विमर्श उभर कर आयें हैं, इसे हम सामुदायिक विमर्श भी कह सकते हैं। इसके अंतर्गत उन वंचित एवं शोषित वर्ग के विमर्श को रख सकते हैं जो हमारे समाज में हजारों वर्षों से दबाये गये हैं। हजारों वर्षों के शोषण और अत्याचार के बाद आज ये वर्ग अपने अधिकार की लड़ाई लड़ रहे हैं और बहुत हद तक इनकी आवाजें सुनी जा रही हैं। अतः इसके अंतर्गत हम स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श, किसान विमर्श आदि की व्याख्या कर सकते हैं। इन विमर्शों के आलावा भी कई समस्याओं पर आधारित विमर्श भी हैं। अर्थात् अभी ये समस्या के रूप में है और अभी अगर इसपर ध्यान नहीं दिया गया तो भविष्य में ये विमर्श बन सकते हैं। इसके अंतर्गत पर्यावरण विमर्श, बाल विमर्श, घरेलू कामगार, विस्थापन विमर्श आदि को रखा जा सकता है।

1.10.1. स्त्री विमर्शः-

स्त्री विमर्श भारत ही नहीं पूरे विश्व में आज एक ज्वलन्त मुद्दा बना हुआ है। स्त्री स्वतंत्रता और स्त्री अस्मिता का सवाल हर साहित्य में एक प्रमुख विषय के रूप में विद्यमान है। पश्चिम में नारी मुक्ति आन्दोलन 1960 के आस पास प्रारम्भ हुआ। भारतीय समाज में आठ्वे दशक तक इसको लेकर काफी बहसें हुई। पत्रकारिता ही नहीं साहित्य में भी स्त्री

मुक्ति और नारी चेतना के स्वरों को मुखर किया जाने लगा। कात्यायनी का 'दुर्ग द्वार पर दस्तक' पुस्तक में कहना है- ''साठ के दशक में पश्चिमी दुनिया में पुरूष वर्चस्ववाद की सामाजिक सत्ता और संस्कृति के विरूद्ध उठ खड़े हुए स्त्रियों के प्रबल आन्दोलन को नारीवादी आन्दोलन का नाम दिया गया (कात्यायनी 49)।'' नारी को एक ओर जहाँ देवी, माता, भगिनी, अर्धांगिनी आदि संबोधनों से सुशोभित किया गया है, वहीं सामाजिक परिप्रेक्ष्य में वह सदा कुत्सा का शिकार और सामाजिक विसंगतियों का कारण मानी जाती रही हैं। हमारे समाज में पुरूष और स्त्री के लिए अलग-अलग सामाजिक नियम बनाये गये हैं। मृणाल पाण्डे 'स्त्री देह की राजनीति से देश की राजनीति' पुस्तक में लिखती हैं –'' दुनिया में पुरूष और स्त्री के बीच संतुलन बहुत बिगड़ा हुआ है। स्त्री का पलड़ा तमाम जिम्मेदारियों की बोझ के नीचे झुका दिया गया है, जबकि पुरूष का पलड़ा सत्ताकी ताकत से बराबर ऊपर रखा गया है (पाण्डेय 84)।''

पश्चिम में सीमेन द बोउवार, केट मिलट, वैटी, फरीडन, इरीगैरी, देरिदा, लाका आदि ने स्त्री विमर्श को उठाकर एक नई बहस को जन्म दिया और पैतृक मूल्यों को समस्या ग्रस्त बताया। हिन्दी साहित्य में भी कई महिला रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से इस चेतना को आगे बढ़ाने का काम किया, जिनमें प्रमुख है- ममता कालिया, चित्रा मुद्गल, नासिरा शर्मा, कृष्णा अग्निहोत्री, मणिक मोहनी, मृदुला गर्ग, मृदुला सिन्हा, मंजुला भगत, मैत्रेयी पुष्पा, मृणाल पाण्डे, दीप्ति खंडेलवाल, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, शिवानी, उषा प्रयम्वदा, इन्दू जैन, सुनीता जैन, कुसुम भंसल आदि। जबकि इन सबसे बहुत पहले महादेवी वर्मा द्वारा नारी मुक्ति की चेतना से युक्त साहित्य 'श्रृंख्ला की कड़ियाँ' का प्रकाशन हो चुका था। इसे 'नारी मुक्ति का घोषणा पत्र' भी कह सकते हैं। महादेवी के बाद स्त्री-चेतना को लेकर आगे आने वाली महिला रचनाकारों के बीच एक लम्बा अन्तराल रहा। साठ-सत्तर के दशक में जाकर उपर्युक्त महिला रचनाकारों द्वारा स्त्री चेतना को आगे बढ़ाने का काम किया गया।

स्त्री विमर्श स्त्री लेखन का मूल आधार है, जिसका उद्देश्य नारी मुक्ति है। स्त्री विमर्श पारम्परिक ज्ञान और दर्शन को चुनौती देता है, जिसके आधार पर स्त्रियों को वर्षों से शोषण का शिकार बनाया गया था। मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं –

> उस समय स्त्री की स्वाधीनता का प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं था, जितना उसके जीने के अधिकार का। वह जन्म से लेकर सती होने तक मौत के दरवाजे पर खड़ी रहती थी, स्वेच्छा से नहीं, पुरूष की इच्छा से क्योंकि उसकी इच्छा और शरीर पर पुरूषों का अधिकार था। (पाण्डेय 28)

अतः स्त्रीवाद स्त्रियों के दमन के विरूद्ध प्रतिक्रिया है। इसका संबंध स्त्री आन्दोलन से है। नारी मुक्ति आन्दोलन ने स्त्रियों को अपने अधिकारों, अस्तित्व एवं अस्मिता के प्रति जागरुक किया। स्त्री अस्मिता, स्त्री अधिकार और स्त्री स्वतंत्रता की माँग ने स्त्री विमर्श को

नया आधार प्रदान किया। 'राकेश कुमार', नारीवादी विमर्श' पुस्तक में कहते भी हैं कि "स्त्री विमर्श ने सदियों से चली आ रही स्वत्वहीनता एवं खामोशी को तोड़ा है तथा अपनी चुप्पी को गहरे मानवीय अर्थ दिए है। हाशिये की दुनिया को तोड़ा है, सच्चे अर्थों में यही स्त्री-विमर्श की भूमिका है।" (कुमार 19)

स्त्री विमर्श को विभिन्न विद्वानों द्वारा निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया गया है।–

प्रभा खेतानः

> स्त्री न तो स्वयं गुलाम रहना चाहती है, न ही पुरूष को बनाना चाहती है, स्त्री चाहती है मानवीय अधिकार में समानता। (खेतान 140)

डॉ. करुणा उमरेः

> स्त्री-विमर्श पुरूषों के विरूद्ध अभियान नहीं है, न ही प्रतिस्पर्धा करने की चेष्टा है। स्त्री विमर्श स्त्री को स्त्री रूप में बनाए रखने की विचारणा है। (उभरे 33)

शशिकला त्रिपाठीः

> स्त्री-विमर्श का मतलब पुरूष का बहिष्कार नहीं है कि पुरूष से टकराव करके लुकाठी लेकर घर फूँक दिया जाए। स्त्री-विमर्श का मतलब है सहअस्तित्व की भावना, ताकि स्त्री को बराबर का दर्जा दिया जाए। (त्रिपाठी 33)

प्रो. प्रकाश कृष्णदेवः

> स्त्री-विमर्श स्त्री ने स्त्री होने के नाते, सहे हुए आघातों से मुक्ति तथा मनुष्य के रूप में व्यवहार कर सकने और उसी प्रकार का व्यवहार पाने के लिए स्त्री की जद्दोजहद की प्रक्रिया है। (कृष्णदेव 124)

मनीषा कुलश्रेष्ठः

> फैमिनिज्म के शब्दकोशीय अर्थ में जाएं तो यह पुरूष और स्त्री के बीच सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समानता के पक्ष में खड़ा हुआ एक आन्दोलन है और ब्लैक फैमिनिज्म, मार्क्सवादी फैमिनिज्म...आदि कुछ इसकी शाखाएँ है। भारत के संदर्भ में आज भी 'सिस्टर हुड' या 'फैमिनिज्म' का अर्थ उन स्त्रियों के आन्दोलन से है जो पुरूषों से घृणा करती है और आजाद जिन्दगी की पक्षधर होती है। (कुलश्रेष्ठ 88)

डॉ. अर्जुन चव्हाणः

> स्त्री-विमर्श और कुछ नहीं अपनी अस्मिता की पहचान, स्व की चिंता, अस्तित्व बोध और अधिकार को जतलाने और बतलाने का विचार चिंतन है। यह सदियों से स्थापित पुरूष मानसिकता का तर्पण है भावुक स्त्री का समर्पण नहीं। (चव्हान 29)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि स्त्री-विमर्श का मूल आधार मानवीय है। यह प्रतिशोध का विमर्श नहीं है। स्त्री-विमर्श अपने लिए न्याय, स्वतंत्रता, समानता की माँग करता है। स्त्री की लड़ाई पुरूष से नहीं, बल्कि पुरूषतंत्र से है। स्त्री-विमर्श से मतलब स्त्री को अपने 'स्व' के प्रति जाग्रत करना है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्त्री को एक ओर जहाँ सरस्वती, दुर्गा, लक्ष्मी, काली आदि कहकर देवी का दर्जा दिया गया, वहीं पितृसत्तात्मक व्यवस्था के अंतर्गत धर्म और परम्परा का सहारा लेकर उसपर अमानवीय अत्याचार किये गये। पितृसत्तामक व्यवस्था ने स्त्री को पूरे तरीके से पुरूषों के अधीन कर दिया। पितृसत्तात्मक व्यवस्था की व्याख्या करते हुए प्रो. शंभुनाथ कहते हैं –

> पितृसत्ता स्त्री के लिए सामने खड़े पिता या पति का नाम नहीं है। यह एक बड़ा धार्मिक, सांस्कृतिक और बाजारवादी नेटवर्क है, यह समझ विकसित होने में काफी वक्त लग रहा है। 70 के दशक के आधुनिकतावादियों के साहित्य में स्त्री महज यौन बिम्ब बना दी गई थी, जैसे देह की स्वतंत्रता ही पितृसत्ता को चुनौती हो। (शंभुनाथ 310)

सामंती व्यवस्था ने स्त्री को चार दिवारी के अंदर कैद करने की साजिश की। उसे केवल भोग की सामग्री के रूप में समझा जाने लगा। स्त्री को धार्मिक रिवाजों में हिस्सा लेने का अधिकार तो था, किन्तु शिक्षित एवं अधिकार सम्पन्न होने का अधिकार नहीं था। स्त्री की अस्मिता को नियमों एवं रिवाजों के आधार पर बंधक बनाया गया और इस काम में धर्म ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। स्त्री-विमर्श इसी व्यवस्था एवं पितृसत्ता का निषेध है। स्त्री की इस दशा को पुरूष लेखकों ने अपने साहित्य के माध्यम से वर्षों तक जिलाए रखा। प्रो. जगदीश्वर चतुर्वेदी जी का कहना है –''अपितु स्त्री को अधिकारहीन बनाने, स्त्री की स्वतंत्र अस्मिता को खत्म करने और उसे मातहत बनाने, भोग की वस्तु बनाने, बिक्री योग्य बनाने में पुरूष लेखकों ने सैकड़ों वर्षों से खुलकर मदद की (चतुर्वेदी 29)।'' 19 वीं सदी के उतरार्द्ध में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद स्त्री अपने अधिकारों के लिए आन्दोलन की ओर प्रवृत्त हुई। इससे पहले कई सामाजिक सुधार आन्दोलन पुरूषों द्वारा ही चलाये गये थे, जिससे बाल विवाह, सती प्रथा आदि का उन्मूलन हुआ और स्त्री शिक्षा को बढावा मिला। अतः शिक्षित एवं सक्षम महिलाओं ने अपने अधिकारों एवं शोषण के खिलाफ़ आवाज उठाई।

स्त्री – विमर्श उत्तर औद्योगिक विमर्श वृत्त से है। वैश्वीकरण के उपरान्त जो बाजार हमारे सामने आया, उसका स्त्री अस्मिता से कुछ लेना-देना नहीं है। इसका मूल मक्सद

मुनाफा कमाना है। इसलिए वैश्वीकरण में स्त्री मुक्ति एक मुद्दा है पर यह मुक्ति कैसे होगी, इसका जवाब नहीं है। विजेन्द्र सिंह चौहान अपनी पुस्तक 'मीडिया व स्त्री-एक उत्तर विमर्श' में दिखाते हैं-

> वैश्वीकरण के साथ स्त्री देह का भी वैश्वीकरण हुआ है। पूरी दुनिया एक मुक्त मंडी बन गई है। इस बाजार में दुर्लभ वस्तुओं की माँग बढ़ गई है। नारी सौन्दर्य और देह ऐसी ही दुर्लभ वस्तुएँ है। जिसका बाजार अच्छे से इस्तेमाल कर रहा है। आज की स्त्री पारम्परिक नारी की भूमिका में स्वयं को पंगु नहीं बना देना चाहती किन्तु इससे बाहर आते ही उसे अपने नारीत्व का उल्लंघन करना पड़ता है। (चौहान 24)

आज महिला सशक्तिकरण के नाम पर स्त्री अपने सौन्दर्य के बल पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के उत्पाद बेचने में मशगुल है। एकप्रकार से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने उसे अपना दास बना रखा है। स्त्रियों के पास और कोई रास्ता भी नहीं बचा है। क्षमा शर्मा कहती भी है – ''कल तक भी औरत मात्र एक देह थी, आज भी वह एक देह भर है, वह भी तब तक, जब तक बाजार में उसके पसंद करने वाले मौजूद हैं, जिनके जरिए वह भारी मुनाफा का साधन बन सके (शर्मा 25)।'' स्त्री को केवल एक सेक्स अब्जेक्ट के रूप में बदला जा रहा है और इसमें हमारी मीडिया और मनोरंजन के साधनों का विशेष योगदान रहा है। मृदुला सिन्हा इसलिए कहती हैं – ''स्त्री की वर्तमान अधिकांश समस्याएँ उसे देह मानकर ही है। यदि उसे शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समुच्चय माना जाए, बातें बदल जायेंगी। स्त्री से संबंधित धारणाएँ बदलनी ही है। वरना समाज का बहुत स्वरूप बिगड़ेगा (सिन्हा 6)।'' बाजारवाद में सबसे ज्यादा सेक्स और हिंसा ही बिकी जाती है। महिला सशक्तिकरण के नाम पर केवल देह प्रदर्शन और सैक्स विमर्श ही इसका मुद्दा नहीं होना चाहिए।

वैश्वीकरण अपने साथ 'यूज एण्ड थ्रो' की संस्कृति लेकर आया। इसके लिए कोई भी मानवीय मूल्य का महत्व नहीं है। हर चीज एक वस्तु है; चाहे वह नारी ही क्यों न हो। बाजारवाद का नारा इसी नारी शरीर को पाना और उसे अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करना है। राजकिशोर जी का सही कहना है कि ''वस्तुओं से हमारा जो संबंध रहेगा, अंततः वही मनुष्यों से भी बन जायेगा। उपभोक्तावाद का यह शरीरशास्त्र इसलिए और ज्यादा खतरनाक है, क्योंकि यह स्त्री को मनुष्य नहीं माध्यम बना डालता है (राजकिशोर 98)।'' बाजार ने नारी की आकांक्षाओं को विस्तार जरूर दिया है, किन्तु बाजार ने नारी से इसकी कीमत भी वसूली है। बाजार ने नारी के बीच प्रतिद्वन्द्विता पैदा की है। यही कारण है कि नारी एक वर्ग में तब्दील नहीं हो पा रही है। जब तक नारी संगठित नहीं होती, मुक्ति महज इल्यूजन है। विजेन्द्र सिंह चौहान कहते हैं-

> नारी न केवल अपनी देह और सेक्सुअलिटी के साथ, बल्कि अपनी ईर्ष्या और अपनी मुक्ति के इल्यूजन को पाने की उच्चाकांक्षी छवि के साथ बाजार के लिए उपलब्ध है

> और मीडिया इस छवि को न केवल भुना रहा है, बल्कि इसके द्वारा नारी के लिए ऐसा स्वप्निल संसार तैयार कर रहा है जिसमें वह उस मायामृग का पीछा सदैव करती रहती है जिसका नाम मुक्ति है। (चौहान 25, 26)

स्त्री का संघर्ष दलित, आदिवासी, किसान की तुलना में अधिक जटिल और कठिन हो जाता है, क्योंकि स्त्री, दलित, आदिवासी या किसान की तरह एक वर्ग में तब्दील नहीं हो पाती है। साथ ही पुरूष के निरंकुशतावादी मानसिकता के विरूद्ध लड़ने के लिए उसके पास साहित्य के अलावा कोई हथियार नहीं है। इसीलिए स्त्री ने साहित्य का रास्ता चुना और साहित्य के माध्यम से अपना विरोध दर्ज किया। स्त्री साहित्य का आरम्भ कविता से हुआ, आगे चलकर कहानी, उपन्यास, आत्मकथा आदि विधाओं के माध्यम से स्त्री ने अपनी वेदनाओं एवं पीड़ाओं को अभिव्यक्ति दी। बी. आर. गायकवाड. कहते हैं – ''अतः नारियों के अधिकारों का एवं उनके पुरूषों के साथ सामाजिक, राजकीय एवं आर्थिक समानता का पक्षधर आन्दोलन नारीवाद के रूप में पहचाना जाता है'' (गायकवाड़ 182)। स्त्री आन्दोलन का इतिहास बहुत गहरा है। स्वाधीनता संग्राम में भी स्त्री की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। पश्चिम के स्त्री आन्दोलन और भारत के स्त्री आन्दोलन के बीच यही अन्तर था कि ''पश्चिम के स्त्री आन्दोलन को साम्राज्यवाद से संघर्ष नहीं करना पड़ा जबकि भारत के स्त्री आन्दोलन को साम्राज्यवाद से संघर्ष करना पड़ा (चतुर्वेदी 184) ।'' किसी भी चीज को देखने की स्त्री दृष्टि पुरूषों से भिन्न होती है, उसी प्रकार दोनों की अभिव्यक्ति की शैली भी भिन्न ही होगी। स्त्री विमर्श के अंतर्गत यह महत्वपूर्ण होता है कि स्त्री की दृष्टि कैसी है? वह सामाजिक असमानता को किस रूप में देखती है? यहीं कारण है कि एक पुरूष की दृष्टि से हम स्त्री साहित्य की समीक्षा नहीं कर सकते। सुचिता मिश्रा कहती हैं-

> स्त्री साहित्य की यह माँग है कि स्त्री दृष्टि उतनी ही विश्वव्यापी है, जितनी पुरूषों की, लेकिन जिसे पितृसत्तात्मक समाज कहते हैं उसके चलते उसे गंभीरता से नहीं लिया जाता, इसलिए स्त्री की समाज में मूल्य दृष्टि, भाषा व लेखन शैली को सही – सही समझा जाना चाहिए। (मिश्रा 88)

स्त्री लेखिकाओं का मानना एकदम सही है कि स्त्री की पीड़ा, उसके शोषण के दर्द को एक स्त्री जितनी गहराई से समझ सकती है, एक पुरूष कभी नहीं। इसीलिए जगदीश्वर जी यह सलाह देते हैं कि –

> स्त्री की व्यक्ति के रूप में अस्मिता को स्थापित करना, उसकी संवेदनाओं, भावों एवं विचारों को अभिव्यक्ति देना स्त्री साहित्य का बुनियादी दायित्व है। स्त्री की अस्मिता, उसकी समस्याओं एवं उसकी अनुभूतियों की व्याख्या पुरूष संदर्भ में करने की मानसिकता से बचना चाहिए। स्त्री को स्त्री के सामाजिक संदर्भ में विश्लेषित करने का नजरिया विकसित करना होगा। (चतुर्वेदी 5)

अतः 'जो लोग इस बात के हिमायती होते हैं कि पुरूष द्वारा रचित स्त्री साहित्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना स्त्री रचित साहित्य, वे इस स्वानुभूति और सहानुभूति के मुद्दों को फिर से ताजा करना चाहते हैं। वह यह बात भूल जाते हैं कि 'स्त्री के अंतर्मन की बातें महिलाएँ जिस गहराई, प्रमाणिकता और विश्वसनीयता से लिख सकती है, पुरूष कथाकार स्त्री के मन पर खुद को प्रतिरोपित कर देने के खतरे से बच नहीं सकते।' (डॉ. रेशमी 14)

वर्तमान स्त्री विमर्श की कमी की बात की जाय तो यह इस रूप में सामने आती है कि आज स्त्री विमर्श से गरीब स्त्री गायब है। स्त्री विमर्श मध्यवर्गीय स्त्री और उन मुद्दों पर केन्द्रित हो गया है जो मीडिया और ग्लैमर वर्ल्ड को प्रभावित करता है। क्षमा शर्मा इस ओर सोचते हुए लिखती है – ''गरीब, बदहाल, परेशान, एक कपड़े में जीवन काटने वाली, घास की रोटी खाने वाली, दाने-दाने को मोहताज औरतों का जिक्र तो छोड़िए, नाम लेना तक जैसे गुनाह है। वे हर स्त्री विमर्श की बहस से जैसे गायब कर दी गई हैं (शर्मा 9) ।''

आज स्त्री विमर्श अतिवाद की ओर बढ़ रहा है। आज औरतें मानो यह कहते नजर आती हैं कि उन्हें पुरूष की जरुरत नहीं है। पुरूष जैसा ही उच्छृंखल होना स्त्री विमर्श का उद्देश्य नहीं है। किन्तु, आज ऐसा लगता है जैसे पुरूष से सत्ता छिनकर स्त्री के हाथों जाने से ही स्त्री विमर्श सार्थक हो जायेगा। क्षमा शर्मा लिखती हैं –

> स्त्री सत्ता का अर्थ अगर पुरूष को सताना भर माना जाए, तो हम पुरूषों से किस तरह अलग माने जाए। उन्होंने हमें सताया तो हम उन्हें सताएं। क्या यह समाज बिना स्त्रियों या बिना पुरूषों के चल सकता है। सच तो यह है कि महिलाओं को पुरूषों का साथ और सहयोग चाहिए। (शर्मा 12)

स्त्री और पुरूष जीवन रूपी गाड़ी के दो पहिये हैं। एक पहिया से कभी जीवन रूपी गाड़ी नहीं चल सकती। स्त्री विमर्श को महादेवी वर्मा द्वारा कही इस बात को कभी नहीं भूलना चाहिए कि 'हमें न किसी पर जय चाहिए न किसी से पराजय, न किसी पर प्रभुत्व चाहिए, न किसी पर प्रभुता, केवल अपना वह स्थान, वे स्वत्व चाहिए जिनका पुरूषों के निकट कोई उपयोग नहीं है, परन्तु जिनके बिना हम समाज का उपयोगी अंग बन नहीं सकेंगी।' (वर्मा 316-317)। महादेवी वर्मा की उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर ही स्त्री विमर्श की सार्थकता सिद्ध हो सकती है।

1.10.2 दलित विमर्शः

दलित विमर्श समाज में व्याप्त भेदभाव, अन्याय, शोषण एवं वर्गभेद के खिलाफ़ लड़ाई लड़ने की चेतना है। दलित वह है जिसे हजारों सालों से वर्ण व्यवस्था के नाम पर, जाति व्यवस्था के नाम पर दबाया जाता रहा है। जिसे शूद्र ही नहीं नीच से नीच जाति माना गया है और जिससे समाज के सारे अधिकार छीन लिए गए। इसे सामाजिक विषमता

से जनित एक कैटेगरी माना गया, जिसे अस्पृश्य कहा गया और जिसका 'जन्म केवल ब्राह्मण की सेवा के लिए ही हुआ है' कहकर शोषण किया गया। दलित विमर्श इसी शोषण के खिलाफ़ उपजी आवाज है जो अपने साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति पा रहा है। डॉ. अर्जुन चव्हान के अनुसार –''वस्तुतः सदियों से दमित, पीड़ित और अत्याचारित समाज अर्थात् जाति से पिछड़े हुए लोगों पर किया गया सोच-विचार, चिंतन, विवेचन-विश्लेषण, समीक्षण, परीक्षण, निरीक्षण और गहन- गंभीर अध्ययन ही मूलतः दलित विमर्श है (चव्हान 44)।''

हिन्दी में दलित विमर्श सन् 1914 में सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' से माना जाता है, किन्तु एक विमर्श के रूप में इसकी शुरुआत 1990 के बाद ही माना जाता है। मराठी के 'दलित पैंथर आन्दोलन' का इसपर गहरा प्रभाव पड़ा है, फिर भी दलित लेखक हिन्दी साहित्य के सिद्थ –नाथ से लेकर भक्तिकाल में इसके बीज़ ढूँढ़ निकालते हैं। राजनीतिक रूप से 1984 में बहुजन समाज पार्टी की स्थापना ने दलित विमर्श को एक आधार भूमि देने का काम किया।

साहित्य के माध्यम से ही आज हाशिए पर कर दिए गए दलित की पीड़ा शब्द बनकर फूट रहा है। इस अभिव्यक्ति में कल्पना के स्थान पर यथार्थ एवं स्वानुभूति है। यह मनोरंजन का साहित्य न होकर जातिप्रथा के नाम पर फैलाई गई विषमता के विरूद्ध संघर्ष है। ओम प्रकाश वाल्मीकि के शब्दों मे कहें तो –

> दलित साहित्य की आंतरिक चेतना में निराशावाद, भाग्यवाद नहीं है, वर्ण-व्यवस्था के प्रति उसका कठोर रुख है जिसे विध्वंश करके समाज में समानता, भाई-चारा और स्वतंत्रता की भावना स्थापित करना दलित चेतना के सरोकारों में शामिल है। (वाल्मिकी 105)

अतः जिस वर्ण व्यवस्था से उपजी पीड़ा को दलितों ने वर्षों से झेला है, अब दलित अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ना सीख चुका है। दलितों द्वारा समूल परिवर्तन की आवाज उठ रही है। अब दलित जातिगत और धार्मिक आधार पर खींची गई दमन, शोषण एवं असमानता की रेखाओं को मिटाने के लिए संगठित हो रहे हैं। जयप्रकाश कर्दम कहते हैं – ''वस्तुत दलितों की समस्या केवल पेट भरने की नहीं है। इससे कहीं बढ़कर उनकी समस्या सम्मानजनक जीवन जीने की है। वे चाहते हैं कि दूसरों की तरह उनको भी बराबर का मनुष्य समझा जाय (कर्दम 150)।'' दलित चिंतन के केन्द्र में गाँधी, बुद्ध और अंबेडकर के जीवन दर्शन का पूरा प्रभाव पड़ा है, इसके बावजूद दलित विमर्शकार अपना आदर्श अम्बेडकर के सिद्धांत को मानते हैं, क्योंकि दलितों को जाग्रत करने का काम सबसे पहले

बाबा भीमराव अम्बेडकर द्वारा दिया नारा- 'शिक्षित बनो, संगठित होओ और संघर्ष करो' से किया। इसीलिए दलित साहित्यकार शरण कुमार लिम्बाले ने कहा है –

> क्योंकि बाबा साहेब अम्बेडकर के विचारों और आन्दोलन से दलित समाज को स्वाभिमान मिला है, यदि बाबा साहेब न होते तो हम न होते। दलित समाज में प्रत्येक व्यक्ति का एक दूसरे को अभिवादन करते हुए जयभीम का उच्चारण करना भी इस बात का द्योतक है कि बाबा साहेब अम्बेडकर ही हमारी सच्ची प्रेरणा हैं। (लिम्बाले 52)

अम्बेडकर द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण करने के उपरान्त यह धर्म वैचारिक स्तर पर दलित विमर्श के लिए महत्वपूर्ण बना, क्योंकि हिन्दू धर्म की अमानवीयता और शोषण के विरुद्ध बौद्ध धर्म ऐसे धर्म के रूप में आया जहाँ हर मनुष्य बराबर था, किन्तु बौद्ध धर्म के दर्शन में भी वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद का विरोध होने के बावजूद दलितों के हिमायती या मुक्ति का ठोस रास्ता नहीं था। यही कारण है कि डॉ. धर्मवीर भारती ने दलितों के लिए बौद्ध धर्म को बहुत उपयोगी नहीं माना। धर्मवीर भारती ने दलित विमर्श के अंतर्गत कबीर तक को जोड़ा है। यह सच है कि कबीर, रैदास आदि संतों ने वर्णाश्रम-व्यवस्था और जातिप्रथा के विरूद्ध आन्दोलन छेड़ा था, किन्तु इन संतों के पास भी दलितों के लिए कोई स्वप्न मौजूद नहीं था। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी 'हिन्दुस्तान' दैनिक पत्र में तर्क देते हुए कहते हैं- ''अवर्ण निर्गुण सन्त प्रधानतः अलगाव की स्थिति में होने के कारण उसकी उपेक्षा या तिरस्कार तो कर सकते थे, किन्तु उसे नवगठित करने की बात नहीं सोच सकते थे। अनुमानतः वे एक प्रतिष्ठान तंत्र से परिचित भी नहीं थे (त्रिपाठी)।'' अम्बेडकर की जिन्दगी का एकमात्र उद्देश्य दलितों का उद्धार था, इसलिए उन्होंने दलित हित को देश हित से भी ऊपर रखा है। उनकी नजर में जातिवाद सबसे बड़ी समस्या है और इसी जातिवाद की उपज है- अस्पृश्यता। वे जानते थे कि जब तक जातिवाद खत्म नहीं होता, अस्पृश्यता खत्म नहीं होगी। वे कहते हैं-

> आपको यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि आप जाति प्रथा में दरार डालना चाहते हैं तो इसके लिए आपको हर हालत में वेदों और शास्त्रों में डाइनामाइट लगाना होगा, क्योंकि वेद और शास्त्र किसी भी तर्क से अलग हटाते हैं और वेद तथा शास्त्र किसी भी नैतिकता से वंचित करते हैं। (अम्बेडकर 99)

जबकि गाँधी भी अस्पृश्यता को हटाना चाह रहे थे, किन्तु वे जातिप्रथा के समर्थक थे। अम्बेडकर जी 'सम्पूर्ण गाँधी वाङमय' में आगे कहते हैं – ''अछूत लोग जातिप्रथा की उपज है। जब तक जातियाँ है तब तक अछूत भी रहेंगे। जाति प्रथा का नाश हुए बिना अछूतों की मुक्ति सम्भव नहीं है।'' (अम्बेडकर 284) अम्बेडकर दलितों का उद्धार केवल जाति या धर्म उत्पीड़न से ही नहीं करना चाहते थे, बल्कि वे चाहते थे कि दलित को राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से भी मजबूत होना होगा। वे जानते थे कि जब तक दलित को सत्ता में

भागीदारी नहीं मिलेगी तब तक उसे पूर्ण समानता नहीं मिलेगी। इसीलिए प्रो. शंभुनाथ जी कहते हैं – ''दलितों की राजनीतिक और आर्थिक सफलताओं का व्यापक असर उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा पर पड़ा है। यदि उनके पास सत्ता हो, ब्राह्मण भी उनके चरण छूते हैं (शंभुनाथ 329)।''

भारतीय समाज में जाति व्यवस्था पिरामिडीय संरचना के समान है और समकालीन दलित विमर्श जाति संबंधित विमर्श है। एकतरफ जहाँ यह वर्ण व्यवस्था के खिलाफ़ एक आन्दोलन हैं, वहीं यह विमर्श आगे चलकर खुद के अन्दर ही जाति व्यवस्था के चंगुल में फँस जाता है। दलितों में दलित और अछूतों में अछूत की भावना ने घर बनाना शुरु किया। 'शवयात्रा' कहानी ने इस भावना की आग को और तेज किया। दलितों में भी चमार और बलिहार के बीच भेदभाव की भावना को उजागर किया। दलितों में घुसी ब्राह्मणवादी सोच का भांडाफोर हुआ। वाल्मीकि और सूरजपाल चौहान के बीच यह बहस का विषय रहा। यह दलित विमर्श का अंतर्विरोध ही है। इसलिए यह सच है कि दलित विमर्श के अंतर्गत केवल सवर्णों से मुक्ति ही नहीं दलितों के अंदर व्याप्त जातिवाद की भावना से मुक्ति भी एक प्रमुख समस्या है। कई विद्वानों को तो इसमें ब्राह्मणों की साजिश नजर आती है। ताकि दलित आपस में लड़ते रहें और उनका आन्दोलन कमजोर पड़ जाए। ज्योतिबा फूले का कहना है –

> शूद्र- अतिशूद्रों के समाज की संख्या जैसे-जैसे बढ़ने लगी, वैसे-वैसे ब्राह्मणों में डर की भावना उत्पन्न होने लगी। इसीलिए उन्होंने शूद्र-अतिशूद्रों के बीच घृणा और नफरत की भावना को बढ़ाने की योजना तैयार की। उन्होंने समाज में प्रेम की बजाय जहर के बीज बोये। इसमें उनकी चाल यह थी कि यदि शूद्र-अतिशूद्र(समाज) आपस में लड़ते-झगड़ते रहेंगे तब ही यहाँ हमारे टिके रहने की बुनियाद मजबूत रहेगी। (फूले 40)

ज्योतिबा फूले का ऐसा कहना अतिश्योक्ति ही लगता है। यह एक प्रकार से अपने अंदर व्याप्त बुराई को छिपाने के लिए सामने वाले को दोष देना लगता है। जरुरी तो यह है कि अपने अंदर जो बुराई व्याप्त है, उसे दूर करने का प्रयास करना चाहिए। तभी एक होकर वर्णवादी व्यवस्था का विरोध किया जा सकता है।

जाति की पिरामिडीय ढ़ाँचे में ही यह व्यवस्था है कि हर जाति अपने नीचे एक जाति ढूँढ़ लेती है। दलितों में दलित, अछूतों में अछूत का प्रमुख कारण आर्थिक स्थिति ही है। चमार जाति ही जब चमड़ा का काम छोड़कर सम्पन्न हो जाता है तो वह खुद को जाटव कहने लगता है। दलित विमर्श का अंतर्विरोध जो जाटव और वाल्मीकि जाति से शुरु हुआ था, वह जाटव और चमार तथा वाल्मीकि और भंगी तक जा चुका है। दलित विमर्श में यह जरूरी है कि इन अंतर्विरोधों को दूर करें और संगठित तरीके से आन्दोलन की रणनीति बनाये, तभी वे सामाजिक परिवर्तन को सही दिशा में ले जा सकते हैं। इस ओर संकेत करते हुए ही प्रो. शंभुनाथ को कहना पड़ा –

> हिन्दी क्षेत्र में दलित विमर्श एक विलंबित विमर्श है। इसमें फिलहाल फूले, अम्बेडकर और दलित पैंथर्स के दौर की ऊँचाईयाँ नहीं हैं। आज के दलित विमर्श में कुछ सच्ची पीड़ाओं के बावजूद उत्तेजनात्मक बातें अधिक है। यह विमर्श हिन्दी क्षेत्र में आज भी आन्दोलन का रूप नहीं ले पा रहा है। (शंभुनाथ 246)

जिस दलित विमर्श की शुरुआत दलित पैंथर से हुआ, जो आन्दोलन मुम्बई, नासिक, औरंगाबाद से होते हुए गुजरात, उत्तर प्रदेश तथा पंजाब तक पहुँचा, यह आन्दोलन छः साल बाद ही दो गुटों में विभक्त हो गया। एक गुट के नेता राजा ढाले ने इसे सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन कहते हुए अम्बेडकर के सिद्धांत को महत्वपूर्ण माना, वहीं दूसरे गुट के नेता नामदेव ढसाल ने अम्बेडकर के साथ-साथ मार्क्सवाद को आवश्यक माना। हिन्दी में जब यह विमर्श आया तब इसमें मार्क्सवाद को लेकर खूब विवाद हुए। शरण कुमार लिम्बाले लिखते हैं – ''दलितों की आर्थिक दासता का कारण यहाँ की भारतीय समाज व्यवस्था में छिपा हुआ है तो इस मुक्ति का अंतिम मार्ग मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद इन दोनों के समन्वय में मिल सकेगा (लिम्बाले 70)।'' अतः शरण कुमार लिम्बाले दलितों की समस्या को आर्थिक दृष्टि से देखते हैं और अम्बेडकर के साथ-साथ मार्क्सवाद को भी जरुरी मानते हैं।

मार्क्सवादी आलोचक मैनेजर पाण्डेय, शिव कुमार मिश्र, कमला प्रसाद आदि ने दलित साहित्य में मार्क्सवाद की भूमिका पर कई विचार रखे, इसके बावजूद दलित लेखकों ने मार्क्सवादी लेखकों की भूमिका को कभी नहीं स्वीकारा। जयप्रकाश कर्दम 'इक्कीसवीं सदी में दलित आन्दोलन' पुस्तक में तर्क देते हुए कहते हैं –

> दलित जहाँ जाति – विहीन और वर्ग विहीन समाज की स्थापना के लिए संघर्षरत है, मार्क्सवादी वहीं पुराने केवल वर्गभेद मिटाने के अपने पोथीनिष्ठ सिद्धांतों पर अडिग है। जाति विरोध से उनका कोई लेना-देना नहीं है।.....मार्क्सवादी आन्दोलन सामंतवाद या पूँजीवाद अर्थात् वर्ग भेद के खात्मे पर जाकर विराम ले लेगा क्योंकि यही उनकी मंजिल है जबकि दलितों के सामने जाति तब भी एक समस्या बनी रहेगी और उसे तब भी जाति के खिलाफ़ लड़ना पड़ेगा। (कर्दम 54)

इसप्रकार जयप्रकाश कर्दम ने यह सिद्ध कर दिया कि दलितों की समस्या केवल आर्थिक न होकर सामाजिक भी है और सामाजिक में भी जाति प्रथा के खिलाफ़ है, जिसका समाधान मार्क्सवाद में सम्भव नहीं।

समकालीन दलित विमर्श अम्बेडकर के सिद्धांत तक ही रूका नहीं है। वह उससे आगे का रास्ता खुद तलाश रहा है। अम्बेडकर के पास दलितों की मुक्ति का रास्ता था- अन्तर्जातीय विवाह और सहभोग या विभिन्न संस्थाओं में प्रवेश। ये दोनों रास्ते ही सवर्णों के हृदय परिवर्तन पर टिका हुआ है। अर्थात् दलित इन्तजार करें कि कब इन सवर्णों का हृदय परिवर्तन हो और ये उन्हें अपनाये। अम्बेडकर का दलित सुधार ऊपरी था, ठीक गाँधी

की तरह। जब गाँधी कहते हैं – ''अस्पृश्यता के विरुद्ध यह आन्दोलन दबाव का नहीं, परन्तु हृदय परिवर्तन का आन्दोलन है (गाँधी 285)।'' किन्तु वर्तमान दलित विमर्शकार को सवर्णों के हृदय परिवर्तन में तनिक भी आस्था नहीं है। अब तो वे खुद अपनी अस्मिता को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

1.10.3 किसान विमर्शः

किसान विमर्श किसानों के अधिकारों का विमर्श है। किसान जो इस देश की रीढ़ की हड्डी है, जो करोड़ों लोगों का पेट भरता है, स्वयं दो जून रोटी के लिए तरसता है। आज देश एक ओर कॉरपोरेट की ओर बढ़ रहा है, वहीं दूसरी ओर किसानों की स्थिति बद से बदतर होती जा रही है। अतः किसान विमर्श आज की हकीकत बन गई है। किसान की आवाज को बुलंद करने का काम किसान विमर्श के अंतर्गत किया जा रहा है। पूँजीवादी सभ्यता के विकास के साथ किसान का जीवन हाशिए पर चला गया। कल-कारखानों की स्थापना, उद्योगों का विकास, नये-नये मशीन, संचार क्रांति, उर्वरक बीज, कीटनाशक दवाएँ, आदि ने एक तरफ जहाँ कृषि के क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रांति ला दी, वहीं किसानों की स्थिति दिन ब दिन और खराब होती चली गयी। किसानों के उपजाऊ जमीन हड़पे जाने लगे, फसलों का उचित मूल्य मिलना मुश्किल हो गया, बाढ़, सूखा या किसी प्राकृतिक आपदा के कारण फसल बर्बाद हो जाय तो किसानों के लिए कर्ज वापस करना दूभर हो जाता और कर्ज का सूद दिन दूनी रात चौगूनी की रफ़्तार से बढ़ता जाता। उसे या तो खेत बेचने पड़ जाते या वे खेती छोड़कर अन्य कामों की ओर चले जाते। सरकारें बदलती रहीं, किन्तु किसानों की इस दशा की ओर किसी ने ध्यान तक देना उचित नहीं समझा। वैश्वीकरण के उपरान्त एक नए बाजारवाद ने जन्म लिया, जिसका गहरा प्रभाव समाज पर पड़ा। इस वैश्वीकरण के केन्द्र में पूँजी थी, इसलिए यह अपने पूँजी और बाजार के दम पर सबको अपने कब्जे में जल्द ही ले लिया। किसान इससे बुरी तरह प्रभावित हुए। अब भूमि अधिग्रहण संबंधी सारे कानून बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को ध्यान में रखकर बनने लगे। सरकार के द्वारा उपजाऊ जमीनों का आवंटन बड़े-बड़े कल-कारखाने लगवाने, बड़े-बड़े अपार्टमेंट बनवाने, शॉपिंग मॉल, पार्क आदि बनवाने के लिए होने लगा। इसप्रकार आजादी के बाद भी किसानों की दशा में कोई सुधार नहीं आया। अब तो उसे अपने ही फसल का उचित मूल्य़ भी मिलना मुश्किल हो गया। खेती में हुए घाटे को न सह पाने और कर्ज न चुका पाने के कारण वह आत्महत्या की ओर प्रवृत्त होने लगा।

'नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो' के अनुसार 1995 से 2010 तक लगभग 2,56,913 किसानों ने आत्महत्या की, जिसमें दो तिहाई हिस्सा केवल महाराष्ट्र, कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश, मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़, इन पाँच राज्यों का था। 30 दिसम्बर,2016 को जारी इसी ब्यूरो की रिपोर्ट 'एक्सीडेन्टल डेथ एन्ड सुसाइड इन इंडिया 2015' के अनुसार सन् 2015 में कुल 12,602 किसानों और खेती से जुड़े मजदूरों ने आत्महत्या की। इसमें ज्यादातर आत्महत्याएँ महाराष्ट्र में हुई। इन आत्महत्याओं में छोटे किसानों की संख्या ज्यादा थी।

रिपोर्ट के अनुसार इन आत्महत्याओं का मूल कारण कर्ज, कंगाली और खेती से जुड़ी समस्याएँ थी। इस बीच कई किसान खेती का काम छोड़कर शहर की ओर पलायन कर गये और कारखानों में मजदूर बन गये। पी. साईनाथ ने इसी आधार पर कहा है कि पिछले 20 सालों में हर दिन दो हजार किसान खेती छोड़ रहे हैं, ऐसे किसानों की संख्या लगातार घट रही है जिनकी अपनी खेतीहर जमीन हुआ करती थी और ऐसे किसानों की संख्या बढ़ रही है जो किराये पर जमीन लेकर खेती कर रहे हैं। इन किरायेदार किसानों में 80 प्रतिशत कर्ज में डूबे हुए हैं।

किसानों का विद्रोह इतिहास में सामंती व्यवस्था से ही देखने को मिलता है। अंग्रेजी शासन काल किसानों के दमन, शोषण, उत्पीड़न के साथ-साथ किसान विद्रोह का भी काल रहा है। 1778 से लेकर आज तक सैकड़ों किसान विद्रोह हो चुके हैं और इन्हें हर विद्रोह में अपने प्राणों की आहुतियाँ देनी पड़ी है। संथाली और त्रिगुटों का संघर्ष 1811, 1820, 1830 किसे याद नहीं है! इन संथाल किसानों के आगे दमनकारी पुलिस, जमींदार, महाजन, व्यापारी सबको झुकना पड़ा था। इन विद्रोहों को दबाने के लिए अंग्रेजों को क्रूर से क्रूर दमनात्मक रवैये के साथ मार्शल लॉ लागू करना पड़ा था। इन विद्रोहों में 25 हजार से ज्यादा किसानों को अंग्रेजों के हाथों अपनी जान गवाँनी पड़ी थी। अंग्रेजों द्वारा राजस्व प्रणाली में महत्वपूर्ण सुधार के उपरान्त महाजन वर्गों में तेजी से वृद्धि हुई थी। महाजनी सभ्यता में किसानों की दशा में कोई सुधार नहीं आया। शोषण के खिलाफ़ किसानों ने कई जगह आन्दोलन भी किये, किन्तु आन्दोलनों को कुचल दिया गया। किसानों का आन्दोलन मुख्यतः जमींदारी प्रथा, महलबारी व्यवस्था, रैयतवाड़ी व्यवस्था, लगान वृद्धि, बेदखली, सूदखोरी आदि के विरूद्ध विद्रोह था। ब्रिटिश शासन के दौरान ही किसानों ने कई आन्दोलन किए। अशोक कुमार अपने 'राजनीतिक विज्ञान' पुस्तक में लिखते है-

> ब्रिटिश शासन काल में नील आन्दोलन (1859-60), दक्कन के दंगे (सन् 1874-75), रामोसियों का विद्रोह (सन् 1822), वासुदेव फड़के का विद्रोह (सन् 1876-77), पावना कृषक आन्दोलन (सन् 1873), मोपला विद्रोह (सन् 1836-84), चम्पारण का किसान आन्दोलन (सन् 1917), खेड़ा का किसान आन्दोलन (सन् 1918), बारदोली सत्याग्रह (1928), तिभाग आन्दोलन आदि किसान आन्दोलन हुए।'' (कुमार 484,488)

इनमें से कई आन्दोलनों को बलपूर्वक दबा दिया गया तो कईयों में किसानों के शर्तों के सामने सरकार को झूकना पड़ा था। किसानों को संगठित करने के लिए अखिल भारतीय किसान संगठन की स्थापना 1936 में की गई जो एक महत्वपूर्ण घटना थी। देशव्यापी आन्दोलनों के कारण किसानों की स्थिति में सुधार के लिए सरकार को कई नियम बनाने पड़े। इन परिस्थितियों पर विचार करते हुए डॉ. उत्तम पटेल लिखते हैं-

> भारतीय किसानों की नई वर्गीय संगठन-संस्थाओं की शुरूआत तो असहयोग आन्दोलन के बाद ही सम्भव हो सकी थी। सन् 1923 में आन्ध्रप्रदेश में रैयत मंडलों

एवं किसान तथा खेत मजदूरों के संगठन की स्थापना की गई। सन् 1926-27 में पंजाब, बंगाल और उत्तर प्रदेश के किसान सभाओं के प्रतिनिधियों ने श्री मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में राष्ट्रीय स्वतंत्रता की माँग की। बल्लभ भाई पटेल ने किसान की अधिकतर माँगों को सरकार के द्वारा पास करा दिया था। परिणामस्वरूप किसान आन्दोलन को प्रोत्साहन मिला। (पटेल 28)

इस प्रकार स्वतंत्रता पूर्व ही किसान आन्दोलन ने अपनी संगठित शक्ति के बल पर कामयाबी हाशिल की। स्वातंत्र्योत्तर काल में हैदराबाद - मुक्ति - संग्राम में किसानों को सफलता मिली, किन्तु यह एक सशस्त्र आन्दोलन था। इसके बाद पंजाब में मुस्लिम जमींदार के खिलाफ़ किसान आन्दोलन हुआ। इस आन्दोलन की कई माँगों को सरकार द्वारा मान लिया गया। आचार्य नरेन्द्र का कहना है – ''इन संघर्षों के फलस्वरूप किसान और खेतीहरों को बहुत कुछ लाभ हुआ। सरकार को कई कानून पास करने पड़े, अपने व्यवहार में भी तब्दीली करनी पड़ी।(नरेन्द्र 259)।'' किसान आन्दोलनों में नक्सलबारी का आन्दोलन एक महत्वपूर्ण आन्दोलन है। इस आन्दोलन का उद्देश्य जमींदारी प्रथा का उन्मूलन था। इसी आन्दोलन में 'भूमि हथियाओं' अभियान चला था। इस आन्दोलन में भू-स्वामियों और सूदखोरों पर सशस्त्र हमला किया गया था। 'नक्सलबारी आन्दोलन के पीछे जमींदारों के द्वारा किसानों के शोषण की लम्बी कहानी थी। यह आन्दोलन तिभाग आन्दोलन वामपंथी, कम्युनिस्ट पार्टी प्रेरित तथा चीन की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा निर्देशित था। (फाडिया, जैन 838)। इसके बाद भी तमिलनाडु, पंजाब, कर्नाटक आदि कई राज्यों में किसान विद्रोह चलता रहा। कई संगठन बने। रेल, बस, सड़के रोकी गई। कई मोर्चे आयोजित हुए। विधान सभाओं का घेराव किया गया। जेल भरे आन्दोलन भी हुए। आज भी लाखों किसान कभी दिल्ली की ओर पैदल चल पड़ते हैं तो कभी विधान सभा का घेराव कर धरना प्रदर्शन करते हैं। ऐसे कई उदाहरणों से पन्ने भरे हुए है। सात मई, 2011 को ग्रेटर नोएडा में जमीन के अधिग्रहण का विरोध कर रहे किसानों पर पुलिस के दमन में दो किसानों की मौत हो गई। मई-जून, 2017 को मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र के किसान अपनी कर्ज माफी और अपनी फसल के उचित मूल्य के लिए आन्दोलन कर रहे थे। इस दौरान किसानों पर हमले हुए, उनपर हिंसा हुई और सात किसानों को अपनी जान गवानी पड़ी। मई-जून, 2018 को नासिक से 40 हजार किसान मुंबई के लिए पैदल चल पड़े। छः दिन बाद 200 किलो मीटर पैदल यात्रा करके वे मुंबई पहुँचे। इस आन्दोलन में साधारण जनता ने भी उनका भरपूर सहयोग किया। रास्ते में उन किसानों के पानी और खाने की व्यवस्था भी लोगों ने की। मार्च-अप्रैल, 2017 में भी तमिलनाडू से किसानों का एक जत्था जंतर-मंतर में आन्दोलन कर रहा था। कई दिनों के आन्दोलन के बावजूद उनकी तरफ सरकार का ध्यान तक नहीं गया। अंततः किसानों को खाली हाथ लौटना पड़ा। अब यह इत्तेफाक़ ही है कि उसी साल तमिलनाडु में किसान आत्महत्या में भारी तेजी आई।

खाद्यान्नों की आपूर्ति और किसानों की दशा सुधारने के लिए सरकार द्वारा डॉ. एम. एस. स्वामीनाथन की अध्यक्षता में नेशनल कमिशन ऑन फार्मर्स का गठन किया गया। कमीशन ने पाँच रिपोर्ट सौंपी थी। अंतिम रिपोर्ट 04 अगस्ट, 2006 को सौंपी गई। इस कमीशन ने सरकार को कई सुझाव दिये थे। इन सुझावों से बढ़ती हुई जनसंख्या को पर्याप्त अन्न तो मिल गया, किन्तु किसानों की दशा में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं हुआ। सरकार द्वारा किसानों की कर्ज माफी से लेकर सब्सिडी की व्यवस्था, क्रेडिट कार्ड, प्रशिक्षण व्यवस्था, बेहतर ऋण व्यवस्था, फसल बाजार, किसान मेला जैसे कई सराहनीय कदम उठाये गये है, किन्तु इसका फायदा कुछ ही किसानों को मिल पा रहा है। ऊपर से इन सारे स्कीमों में बिचौलियों की बाछें खिल रही है। सरकार द्वारा किसानों के बैंक अकाउन्ट में डाइरेक्ट बेनिफिट की व्यवस्था की जा रही है, फिर भी अभी तक इसका सीधा फायदा किसानों को नहीं मिल पा रहा है। सरकार को तटस्थ होकर सोचने और कारगर कदम उठाने की जरूरत है। हर बार सरकार द्वारा किसानों के कर्ज माफी और हर महीने बैंक एकाउन्ट में पैसे देने का वादा किया जाता रहा है। पर सच्चाई तो यही है कि किसानों के समुचित विकास एवं उनकी समस्याओं को सुलझाने में केन्द्र से लेकर राज्य की सरकारें असफल ही रही हैं।

1.10.4 आदिवासी विमर्शः

आदिवासी विमर्श जल, जंगल और जमीन पर अपने हक का विमर्श है। जिन प्राकृतिक संसाधनों पर आदिवासियों का हक था, वैश्वीकरण के उपरान्त प्रकृति पर कब्जा जमाने की होड़ ने आदिवासियों को उनके जल, जंगल और जमीन से ही पद्च्यूत कर दिया। आज तो सरकारी और गैर सरकारी दोनों स्तरों पर जल, जंगल और जमीन को आसानी से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हवाले किया जा रहा है। आदिवासी दर्शन और विचार ही नहीं आदिवासी अस्तित्व को मिटाने की कोशिश दोनों ही स्तरों पर सुनियोजित तरीके से की जा रही है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप जब बड़े-बड़े कारखानों की स्थापनाएँ हुईं, खादान बने, बड़े-बड़े बाँध बनाये गए, इसकी चपेट में आकर आदिवासी समाज उजड़ गया और उन्हें विस्थापन के लिए मजबूर होना पड़ा। आज आदिवासियों की अस्मिता, भाषा और संस्कृति संकट में है। इस विस्थापन ने आदिवासियों को उनकी भाषा और संस्कृति से दूर कर दिया। जल, जंगल और जमीन पर आधारित आदिवासी समाज अपने अस्तित्व को बचाने के लिए विवश हो गये और उन्हें विद्रोह का रास्ता चुनना पड़ा। सरकार ने भी कई नए-नए वन विभागीय कानून बनाकर पूँजीपतियों का काम आसान कर दिया। ऐसे- एसे कानून बने कि इन आदिवासियों को जंगल में घुसने से ही जेल भेज दिया जाता हैं। इन कम्पनियों के पक्ष में यह दलीलें दी गईं कि आदिवासियों के हितों का ध्यान रखा जायेगा। इन्हें नौकरी दी जायेंगी, इनके पुनर्वास के लिए जमीने दी जायेंगी। परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। इस तरफ ध्यान खींचते हुए अमरेन्द्र किशोर जी लिखते हैं –

> आदिवासियों की जमीन और उनके जीवन के आधार जंगल पहले विवादास्पद हुए और बाद में उनपर सरकार ने अपना अधिकार जमाया। वन कानूनों की आड़ में वन

> विभाग देश का सबसे बड़ा जमींदार बन बैठा। पं. नेहरु ने उन विस्थापित गिरिजनों की जमीन और जमीन के प्रति सम्मान और हिफाजत की जो बातें दोहराई उस बारे में जो सुझाव आये और आयोगों के जरिए आश्वस्तियों के स्वर फूटे, वे सरकारी सदिच्छाओं के प्रति आग्रही दिखे। अब यह माना गया कि जोतदार को अधिग्रहित जमीन के एवज में जमीन दी जाए और भूमिहीनों को रोजगार के साधन मुहैया करवाए जाएं। इस संबंध में महाराष्ट्र पुनर्वास अधिनियम 1989 और उड़ीसा पुनर्वास नीति जैसे कई पैकेज अस्तित्व में आए। मगर आदिवासियों की हालत बद से बदतर होती चली गई। आज जमीन और जंगल से बिछुड़ने वाले लोगों की संख्या सवा दो करोड़ से ऊपर जा पहुँची है। जिसमें 60 फीसदी से कहीं ज्यादा आबादी आदिवासी जनों की है। (किशोर 22)

भारत के भूमंडलीकृत होते ही मुक्त बाजार के नाम पर बेलगाम बाजार का आगमन हुआ। बाजार का लक्ष्य ही है लागत पूँजी को लाभगत पूँजी में बदलना और इस लाभ के लिए बाजार ने सबसे अधिक दोहन प्रकृति का किया, उस प्रकृति का जो आदिवासी समाज के लिए सब कुछ है। बाजार ने अपने कच्चे संसाधनों के लिए उन क्षेत्रों का दोहन किया जो इनके वासस्थान थे। आदिवासी समाज पर एक साथ आर्थिक वैश्वीकरण, सांस्कृतिक वैश्वीकरण, राजनीतिक वैश्वीकरण, धार्मिक वैश्वीकरण, नस्लीय, लैंगिक और भाषायी वैश्वीकरण ने हमला किया। इस दशा को चित्रित करते हुए वंदना टेटे कहती हैं - ''पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अनुरूप समाज के सांस्कृतिक अनुकूलन में धर्म, दर्शन, भाषा, संस्कृति आदि को कारगर हथियार की तरह इस्तेमाल किया जाता है ताकि भौतिक सम्पत्तियों के निजीकरण को वैध बनाये रखा जा सके (टेटे 127)।" हम जानते हैं कि औद्योगीकरण कभी भी प्राकृतिक समन्वय के साथ सम्भव नहीं है। औद्योगीकरण की नीति, नगरीकरण की नीति, प्रकृति को नुकशान पहुचाँए वगैर सम्भव नहीं। इसलिए आदिवासी समाज ने वैश्वीकरण और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की नीति के खिलाफ आवाज उठाई। वंदना टेटे मानती हैं कि आदिवासियों का यह विरोध पहली बार नहीं हुआ है। यह विरोध हर दौर मे रहा है, जब- जब आदिवासियों की जमीनें छीनी गई है, इस समाज ने अपनी आवाज मुखर की हैं। वह लिखती हैं –

> बाजार और विकास की आधुनिक अवधारणा के खिलाफ़ आदिवासी सचेतनता, विमर्श और संगठित संघर्ष कोई नई परिघटना नहीं है, बल्कि यह भूमंडलीकरण की प्राथमिक अवस्था से लेकर आज की चरम अवस्था तक के सभी दौर में एक समान तीव्रता के साथ अभिव्यक्त होती रही है। (टेटे 127)

इतना ही नहीं आज यह भूमंडलीकृत बाजार अपने साथ केवल उत्पाद लेकर नहीं आया है, इसके साथ-साथ बाहर की भाषा भी आई है और यह बाहरी भाषा ही आदिवासियों पर जबरन थोपा जा रहा है। अतः आज आदिवासी संस्कृति को भी भारी खतरों से गुजरना पड़ रहा है।

आदिवासी ज्ञान का प्रमुख श्रोत प्रकृति को मानते हैं। उनके पुरखों द्वारा संचित ज्ञान वे परम्परागत प्रशिक्षण से प्राप्त करते हैं। यह सारा ज्ञान वाचिक रूप में विद्यमान है। इसी आधार पर आदिवासी दर्शन के पाँच तत्व स्वीकार किये जा सकते हैं – सामूहिकता, सहअस्तित्व, सहजीविता, समानता और सामुदायिकता। आर्य संस्कृति की वर्णवादी व्यवस्था ने आदिवासी को दबाया, पूँजीपति, साहुकार या जमींदार ने इनका हमेशा शोषण ही किया। अतः आदिवासी साहित्य की चेतना का प्रमुख लक्ष्य अपने अस्मिता और अस्तित्व की खोज करना है। शाशक वर्ग इसे 'वनवासी' कहकर इनके पहचान को मिटाना चाहता है, जबकि आदिवासी नामकरण में ही 'आदि' शब्द 'मूल' के लिए आता है। अर्थात् ये भारत के मूल निवासी है। इस आलोक में वीरभारत तलवार सवाल करते हुए लिखते हैं –

> बुनियादी सवाल यह है कि आदिवासी, जनजाति, ट्राईवल, मूल निवासी और वनवासी इन शब्दों की राजनीति क्या है? दिलचस्प बात यह है कि न सिर्फ आर. एस. एस. बल्कि भारत सरकार भी आदिवासी शब्द के इस्तेमाल से बचना चाहती है। आर. एस. एस. का शब्द 'वनवासी' है तो भारत सरकार का 'जनजाति'। आदिवासी और जनजाति, दोनों को ट्राईवल के हिन्दी अनुवाद के रूप में बरता जाता है। ट्राईवल अपने मूल रूप में एक अपमानजनक शब्द है। यूरोपीय समाज के साभ्यतिक दंभ ने सभ्य और बर्बर का जो विभाजन किया, वह नृतत्व शास्त्र तक ट्राइब और ट्राईवल की अवधारणा के रूप में पहुँचा। भारत के संदर्भ में ट्राईब और इसका हिन्दी अनुवाद जनजाति मुख्यतः एक प्रशासनिक, राजनीतिक और नृतत्वशास्त्रीय शब्द है। ट्राइब के लक्षणों में भौगोलिक अलगाव, सरलता, तकनीक, प्रकृति पूजा, आदिम भाषा, पिछड़ापन आदि को शामिल किया जाता है। (तलवार 48)

अतः आदिवासी एक समूहवाचक शब्द है। यह कई जातियों का समावेश है। इसमें भील, पावरा, गोंड, परधान, कोलाम, आन्ध्र, महादेव, कोली, वारली, बोडो, नागा, आदि कई जनजातियों का समावेश होता है। अतः हर जनजाति पर लिखा साहित्य आदिवासी साहित्य के अंतर्गत आता है। यह एक भाषा या बोली का साहित्य न होकर कई भाषाओं और बोलियों में रचित साहित्य का समावेशी है। विनायक तुमराम के शब्दों में कहें तो – ''वनवासियों का क्षत जीवन, जिस संस्कृति की गोद में छुपा रहा, उसी संस्कृति के प्राचीन इतिहास की खोज है यह साहित्य। आदिवासी साहित्य इस भूमि से प्रसूत आदिम वेदना तथा अनुभव का शब्दरूप है (तुमराम 3)।" भारत में लिखित रूप में आदिवासी साहित्य की शुरुआत ब्रिटिश शासन में बीसवीं सदी के आरंभिक दौर में हुई। आज पूरे विश्व में आदिवासी साहित्य की अवधारणा पर विमर्श की शुरुआत हुई है। हम जानते हैं कि आदिवासी दर्शन प्रकृतिवादी है जहाँ असमानताएँ नहीं हैं। उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि में साहित्य जैसी कोई श्रेणीगत परम्परा नहीं रही है। आदिवासी समाज सत्ता रहित सभ्यता

और संस्कृति का वाहक रहा है। अतः यहाँ साहित्य का आधार वाचिकता है, लिखित परम्परा नहीं। वंदना टेटे कहती हैं –

> आदिवासी साहित्य मूलतः वाचिकता (ऑरेचर) है। वाचिकता में ही आदिवासी दर्शन का प्रवाह है। आदिवासी दर्शन के प्रवाह को संरक्षित, प्रसारित और साझा करने वाला साहित्य ही आदिवासी साहित्य है। आदिवासी दर्शन और उसकी वाचिकता को जाने-समझे वगैर, आदिवासी भाषा संस्कृति की अज्ञानता के साथ रचा जा रहा साहित्य आदिवासी साहित्य नहीं है। दर्शन, वाचिकता और भाषा के अनुपस्थित होते ही आदिवासी दुनिया भी अदृश्य हो जाती है। (टेटे 55)

लिखित ही साहित्य है कि 'अवधारणा आदिवासियों के लिए असंगत है। आदिवासी समाज में प्रथाएँ, लोक गीत, नाटक, परम्पराएँ, उनके जीवन का अभिन्न अंग है जिन्हें शब्दबद्ध कभी किया ही नहीं गया है। थ्योंगो की मान्यता है कि तथाकथित आधुनिक साहित्य की तरह आदिवासी साहित्य (ऑरेचर) एक आयामी नहीं है, यह बहुआयामी है और विविध कलात्मक अभिरूचियों और प्रदर्शनों का सामूहिक, सहजीवी परफॉरमेंस है। वे आगे कहते हैं- ''आदिवासी साहित्य एक जीवंत परम्परा है क्योंकि इसका आधार वाचिकता है जो शब्दों के नये प्रयोग और अनुभव से हमेशा तरोताजा व नवीनतम बना रहता है (थ्योंगो 83)।'' अतः आदिवासी साहित्य में केवल लिखित अनुभूति या भाव नहीं होता है बल्कि यह प्रकृति और समष्टि का, विभिन्न परम्पराओं का, कलात्मक अभिरूचियों का समग्र रूप है जिसका उद्देश्य सामूहिकता, सहजीविता और सहअस्तित्व है।

आदिवासी साहित्य की परम्परा को गैर आदिवासी साहित्य के प्रतिमानों के आधार पर मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। आदिवासी साहित्य को अन्य साहित्य के सौन्दर्य शास्त्र के आधार पर मूल्यांकित करना व्याख्या का विभ्रम पैदा करना है। यह समझने का विषय है कि साहित्य आदिवासी जीवन का प्रमुख अंग नहीं रहा है। हमारे यहाँ जिसप्रकार से शास्त्र और अशास्त्र का भेद रहा है, वैसा आदिवासी समाज में कभी नहीं रहा है। आदिवासी साहित्य के मूल्यांकन के लिए परम्परा, संस्कृति और जातीय विशिष्टता के पहलुओं पर गहराई से विचार करना जरूरी है। आदिवासी साहित्य के अग्रणी विद्वान डॉ. दिनेश्वर प्रसाद का कहना है –''हर समाज की काव्यात्मक अभिव्यक्ति अपने ढंग से होती है। उसके अपने कलात्मक प्रतिमान होते हैं और इसीलिए किसी अन्य जाति या समाज के गीत या कविता के प्रतिमानों के आधार पर उसका मूल्यांकन नहीं किया जाना चाहिए (प्रसाद 361)'' कहने का तात्पर्य यही है कि आज तक हम जिस साहित्यिक प्रतिमान के आधार पर अन्य साहित्य का मूल्यांकन करते रहे हैं, उसी आधार पर आदिवासी साहित्य का मूल्यांकन संभव नहीं। आदिवासी साहित्य के मूल्यांकन की दृष्टि बदलनी होगी। इसके लिए नये प्रतिमान गढ़ने होंगे, तभी आदिवासी साहित्य के साथ न्याय किया जा सकता है।

1.11 निष्कर्ष-

उपर्युक्त अध्ययनों के उपरान्त हम कह सकते हैं कि वैश्वीकरण के द्वारा विश्व कल्याणकारी होने का जो भ्रम पाला गया था, वह मायाजाल आज के वैश्विक आर्थिक संकट को देखकर टूटता हुआ दिखाई दे रहा है। आर्थिक मंदी से निपटने में विश्व बैंक एवं अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी संस्थाएँ नाकाम साबित हुई हैं। वैश्वीकरण एक व्यापारिक प्रतिस्पर्धा है और प्रतिस्पर्धा से समानता नहीं लाई जा सकती। इससे केवल संघर्ष उत्पन्न होता है। संघर्ष एक दूसरे से बड़ा होने की, विश्व में सबसे आगे निकलने की। इस लड़ाई में हमेशा छोटी कम्पनियाँ मुँह की खाती हैं। यही कारण है कि अमेरिका, यूरोप, जापान जैसे बड़े देश और बड़े होते जाते हैं जबकि गरीब देश दिनों-दिन अधिक विपन्न होते जाते हैं। व्यापारिक प्रतिस्पर्धा ने मनुष्य में बेहतर से बेहतर जीवन पाने की ललक पैदा की। आज हम बाजारवाद के भयंकर दौर से गुजर रहे हैं। यह बाजार एक साथ कई चीजें लेकर आया है। बाजार के स्वरूप पर शंभुनाथ जी कहते हैं –

> बाजार में आदमी की जाति, उसका मजहब, उसका राष्ट्र, उसका सब कुछ बाजार है। बाजार अपने ढंग से अ-पृथकता ला रहा है, जो एकरूपता है। बाजार में हर आदमी सिर्फ उपभोक्ता है। बाजार में होड़ है, मस्ती है। समाज में होड़ है और लहू है। दोनो जगह झुंड बन रहे हैं, दोनो जगह व्यक्ति मिट रहा है। (शंभुनाथ 128)

यह बाजार इतना चकाचौंध भरा है कि इसने हमारे अन्दर उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया है। समाज में कई नई समस्याओं ने जन्म लिया और कई नये-नये विमर्शों का जन्म हुआ।

21 वीं सदी के दूसरे दशक में हम वैश्वीकरण के पूरे चपेट में आ चुके हैं। मानवीय मूल्य धराशायी हो चुके हैं। कई नये मूल्यों ने जन्म ले लिया है। समलैंगिगता कानून आ चुका है। किन्नरों को भी सामाजिक अधिकार मिलने का कानून आ चुका है। लिभ इन रिलेशन आम बात हो चुकी है। अस्मिता बोध ने दलित और स्त्री को उनके अधिकारों और समानता के सिद्धांतों के प्रति सचेत किया है। वृद्धों की हालत खराब हुई है। पर्यावरण की समस्या विकराल हुई है, किसानों की समस्याओं का समाधान हम आज तक नहीं ढूंढ पाएं हैं, वे आत्महत्या को मजबूर हो रहे हैं। अतः इन नई परिस्थितियों ने विमर्श को भी एक नया आयाम दिया है।

यह सच है कि वैश्वीकरण की नीतियों के फलस्वरूप भारतीय अर्थ व्यवस्था को एक समय नई ऊचाई प्राप्त हुई। प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हुई, संचार क्रांति हुई। कुल मिलाकर एक नये भारत का उदय हुआ, लेकिन इसने क्षेत्रिय विषमता, आर्थिक विषमता, बदहाल कृषि, मानव विकास जैसे मुद्दों के बढ़ावा दिया। गरीब देश और गरीब होता गया और धनी देश और धनी। भारत के ऑकड़े बताते हैं कि यहाँ 2009 में पाँच लाख लोगों की नौकरियाँ गई। इसी समय अमेरिका में एक करोड़, स्पेन में 40 लाख, मलेशिया में 55000 लोगों को नौकरियों से हाथ धोना पड़ा। भारत में इंडिया साईनिंग के शोर के बीच कंगालीपन की यह

प्रक्रिया यहाँ भी थमी नहीं है। यह सब पूँजी के असमान वितरण तथा समाज के एक वर्ग विशेष में केन्द्रित हो जाने का परिणाम है।

वैश्वीकरण ने औद्योगीकरण की हवा को तेज किया जिससे औद्योगीकरण से फैली विकृतियाँ भी तेज हुई। गाँवों का परिवर्तन शहर के रूप में होने लगा, हमारी नागरिकता, हमारी पहचान भीड़ का हिस्सा बन गई। अब हमारा विवेक भी किसी और के द्वारा संचालित होने लगा है। औद्योगीकरण के लिए सरकार कृषि योग्य भूमि को भी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को उद्योग लगाने के लिए आवंटित कर रही है। कृषि उत्पादन की वार्षिक वृद्धि दर कम रही है। कृषि पर सार्वजनिक निवेशों में कमी आई है। आज भी 69 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर आधारित है। कृषि की बदहाली के कारण ही कृषकों की आत्महत्या में वृद्धि हुई है। किसानों की दशा पहले से बदतर हो चुकी है। पूरे देश का पेट भरने वाला भूखों मर रहा है। ऐसी परिस्थिति ने किसान विमर्श को आज अपरिहार्य बना दिया है। जहाँ शहरों में बड़े-बड़े शॉपिंग मॉल और बड़े-बड़े ब्रांड रोज खुल रहे हैं वहीं रोज – रोज किसानों की आत्महत्याएँ मन को विचलित कर देने वाली है। टाइम्स ऑफ इंडिया ने यह बताया है कि भारत के 36 अरब पतियों की आय सकल घरेलू आय का 25 प्रतिशत हिस्सा है, वहीं दूसरी ओर प्रति 30 मिनट में एक किसान आत्महत्या कर रहा है।

वैश्वीकरण के उपरान्त आदिवासी और दलित समाज में भारी परिवर्तन आया। नये कल-कारखानों, बाँधों, पुल, बिजली, खननों आदि के विकास ने आदिवासियों की जमीन को हड़प कर उन्हें विस्थापित जीवन जीने के लिए मजबूर किया। दलित समाज भी वैश्वीकरण की इस आँधी में अपने हक के लिए आन्दोलन रत हो रहे हैं। आरक्षण की नीति पर सरकार की गहरी नजर टीकी हुई है। आरक्षण का मुद्दा बड़ा मुद्दा बनता नजर आ रहा है। इस वैश्वीकरण के समय में प्रकृति का जितना विनाश हुआ उतना विनाश कभी नहीं हुआ था, बाल विमर्श, घरेलू कामगार विमर्श जैसे विमर्श अस्तित्व में आ रहे हैं। ऐसी परिस्थितियों में 21वीं सदी के दूसरे दशक की कहानी में साहित्यकारों ने किस प्रकार इन विमर्शों पर अपनी लेखनी चलाई है और वे किस हद तक सफल हुए हैं। साहित्यकारों ने समस्या को किस रूप में चिन्हित कर उसके समाधान की क्या दिशा तय की है आदि सवालों से मुखातिब होना ही मेरे शोध का उद्देश्य है।

संदर्भ – ग्रंथ

आधार- ग्रंथ हिन्दी

1. अग्रवाल, रोहिणी. *इतिवृत्त की संचेतना और स्वरूप.* आधार प्रकाशन, 2006.
2. अम्बेडकर. *सम्पूर्ण वाड़मय.*
3. अम्बेडकर. *सम्पूर्ण गाँधी वाड़मय.* खण्ड-53.
4. कर्दम, जयप्रकाश. *दलित साहित्य वार्षिकी-2006.* अकादमिक प्रतिभा, 2006.
5. कर्दम, जयप्रकाश. *''अनुभव, संघर्ष एवं यथार्थ''.* आलोचना की तीसरी परम्परा और डॉ. जयप्रकाश कर्दम. संपादक डॉ. नामदेव, अमन प्रकाशन, 2014.
6. कर्दम, जयप्रकाश. *''दलित साहित्य और मार्क्सवादी नजरिया''.* इक्कीसवीं सदी में दलित आन्दोलन. पंकज पुस्तक मंदिर, 2004.
7. काबरा, कमल नयन. *भूमंडलीकरणः विचार, नीतियाँ और विकल्प.* प्रकाशन संस्थान, 2005.
8. किशोर, अमरेन्द्र. *जंगल, जंगल लूट मची है.* राधा कृष्ण प्रकाशन, 2005.
9. कुमार, अमित. *भूमंडलीकरण और भारत परिदृष्य और विकल्प.*सामयिक प्रकाशन, 2010.
10. कुमार, कमलेश. *आदिवासी विमर्शः अवधारणा और आन्दोलन.* तेज प्रकाशन, 2014.
11. कुमार, पवन. *मध्यम वर्ग की अजीब दास्तान.* राजकमल प्रकाशन, 1999.
12. कुमार, संजय. *नव उपनिवेशवाद और हिन्दी कहानी.* शब्द सृष्टि प्रकाशन, 2009.
13. कृष्ण, प्रणय. *उत्तर औपनिवेशिकता के श्रोत और हिन्दी साहित्य.* हिन्दी परिषद, 2008.
14. खेतान, प्रभा. *भूमंडलीकरणः ब्रांड और संस्कृति.* सामयिक प्रकाशन, 2010.
15. गुप्ता, रमणिका. आदिवासी साहित्य यात्रा. राधाकृष्ण प्रकाशन, 2014.
16. चव्हान, अर्जुन. *विमर्श के विविध आयाम.*वाणी प्रकाशन, 2008.
17. टेटे, वंदना. *वाचिकताः आदिवासी दर्शन, साहित्य और सौन्दर्य बोध.* राधा कृष्ण प्रकाशन, 2020.
18. तुमराम, विनायक. *आदिवासी साहित्य-उद्गम आणि भाणि.* लोकमत साहित्य यात्रा, 5 दिसम्बर, 1982.
19. ज्ञानी, शिवदत्त. *भारतीय संस्कृति.*राजकमल प्रकाशन,1944.
20. दुबे, अभय कुमार. *आधुनिकता के आईने में दलित.* (सम्पादित) वाणी प्रकाशन, 2008.
21. पटेल, डॉ. उत्तम. *स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में कृषक जीवन.*
22. पाण्डेय, ब्रजकुमार. *भूमंडलीकरणः विविध आयाम.* विनोद बुक सेंटर, 2008.

23. प्रो. शंभुनाथ. *भारतीय अस्मिता और हिन्दी.* सामयिक प्रकाशन, 2012.
24. प्रो. शंभुनाथ. *सभ्यता से संवाद.* वाणी प्रकाशन, 2008.
25. फूले, ज्योतिबा. *गुलामगीरी.* संगीता प्रकाशन, 2006.
26. भरद्वाज, नंद. *संस्कृति, जनसंचार और बाजार.* सामयिक प्रकाशन, 2007.
27. मैक्वेल, डी. *मैक्वेल्स मास कम्युनिकेशन थ्योरी.* 2000.
28. लिम्बाले, शरण कुमार. *दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र.* अनुवादक रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2000.
29. शेष, हेमंत. *कलाओं की मूल्य दृष्टि.* प्रथम संस्करण, वाणी प्रकाशन, 2009.
30. सिंह, कुमार अमित. *भूमंडलीकरण और भारतः परिदृश्य और विकल्प.* सामयिक प्रकाशन, 2009.
31. सिंहा, सच्चिदानन्द. *भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ.* वाणी प्रकाशन, 2003.
32. सोनवणे, वाहरु. *''आदिवासी हिन्दू नहीं है''. आदिवासी कौन?.* संपादन रमणिका गुप्ता. राधा कृष्ण प्रकाशन, 2014.

आधार ग्रंथ-अंग्रेजी

1. गिडेन्स, एन्थोनी. *द कॉन्सीक्वेन्सेस ऑफ मॉडर्निटी.* स्टैन्फोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1990.
2. मिश्रा, गिरीश. *ग्लोबलाइजेशन एन्ड कल्चर, सम अस्पेक्ट.* मैन्सट्रीम, 16.08.2003.
3. न्गूगी वा थ्योंगो. *ग्लावलेटिक्स.* कोलम्बया यूनिवर्सिटी प्रेस, 2004.
4. स्टीग्लिट्ज, जोसेफ. *ग्लोबलाइजेशन एन्ड इट्स डिस्कॉन्टेंट.* डब्लयू.डब्लयू. नॉर्टन एन्ड कम्पनी,2002.
5. थोमस, एल. फिडमैन. *द मैनिफेस्टो फॉर द फास्ट वर्ल्ड.* द न्यूयार्क टाइम्स मैगाजिन, 28 मार्च 1999.

<u>पत्र-पत्रिकाएँ</u>

1. कुलश्रेष्ठ ,मनीषा. *नया ज्ञानोदय.* सितम्बर, 2008.
2. तलवार, वीरभारत. *समकालीन जनमत पत्रिका.* सितम्बर, 2003.
3. दत्त, गौरी. *द हिन्दू पत्रिका.* 08.01.2000.
4. निर्मोही, देश. *पल प्रतिपल.* अंक- जनवरी –मार्च, 2004.
5. पचौरी, सुधीश. *वाक् पत्रिका.* अंक-जुलाई-दिसम्बर, 2007.
6. पचौरी, सुधीश. *हंस.* अंक-अगस्ट, 2004.
7. पाण्डया, कामना. *शोधश्री पत्रिका.* स्त्री विमर्श विशेषांक, 2009.

8. पाण्डेय, मृणाल. *अक्षर पर्व पत्रिका.* अंक- मार्च, 2004.
9. मिश्रा, सुचेता. *''कविता स्वतंत्रता और स्त्री''.* पूर्वग्रह – 104.
10. यशपाल. *अक्षरपर्व पत्रिका.* अंक-मार्च, 2004.
11. यादव, राजेन्द्र. ''परिचर्चा विषय- बाजार और संस्कृति''. *हंस पत्रिका.* अंक- अक्टूबर, 2000.
12. रघुवंशमणि. *परिवेश.* अंक- अप्रैल-दिसम्बर,1996.
13. वार्कर, क्रिस. *वाक् पत्रिका.* अंक-जुलाई-दिसम्बर, 2007.
14. विरेन्द्र, *वाक्.* अंक-4, 2008.
15. सिंह, नामवर. *हंस.* दलित विशेषांक, 2003.
16. सिंह, वैभव. *लमही पत्रिका.* अंक- अक्टूबर-दिसम्बर, 2019.
17. त्रिपाठी, पं. विश्वनाथ. कबीर के राम, *हिन्दुस्तान दैनिक,* 29 फरवरी, 1999.

इंटरनेट

1. **Oxforddictionary.com**
2. **hdr.undp.org>report**
3. **http.//in.one.un.org>imf**

शब्दकोश

1. तिवारी, भोलानाथ. *हिन्दी प्रयायवाची कोश.* (सम्पादित) प्रभात प्रकाशन, 1999.
2. प्रसाद, दिनेश्वर. *झारखण्ड इनसाइक्लोपीडिया.* मुंडा दुरंड़, खण्ड-4, वाणी प्रकाशन, 2008.
3. रिझवी, आबिद. *बृहद हिन्दी शब्दकोश.* सम्पादित. रवि पॉकेट बुक्स.

द्वितीय अध्याय

वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में स्त्री

विमर्श : दशा एवं दिशा

द्वितीय अध्याय

वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में स्त्री विमर्श : दशा एवं दिशा

भूमिकाः

हिन्दी साहित्य में अब तक स्त्री विमर्श पर बहुत कुछ लिखा और कहा जा चुका है। जिस स्त्री विमर्श को 'हंस' के माध्यम से राजेन्द्र यादव ने साहित्य के केन्द्र में स्थापित किया था, वह अब तक लगभग 50 वर्षों की विकास यात्रा तय कर चुका है। जाहिर है, इतनी विकास यात्रा में बहुत कुछ बदला है। स्त्री प्रश्न जिसने एक आन्दोलन का रूप ले लिया था, आज तकनीकि प्रगति के युग में गहरे और जटिल भी हुए है। 'स्त्री मुक्ति' शब्द का अर्थ-विस्तार हुआ है। मिथकों, इतिहास, धर्मों से गुजरते हुए स्त्री विमर्श आज कई आयामों में नये – नये संदर्भों में अभिव्यक्त होता आया है। किन्तु, आज की कठिन परिस्थिति में जहाँ तकनीक और बाजार का दबदबा है, स्त्री के लिए खतरों की कमी नहीं है, स्त्री मुक्ति और स्त्री अस्मिता को और कारगर तरीके से इन परिस्थितियों से लड़ने की जरूरत आन पड़ी है। शोध के इस दूसरे अध्याय में स्त्री विमर्श की दशा एवं दिशा को हिन्दी कहानी के परिप्रेक्ष्य में समझने की कोशिश की जाएगी।

2.1. स्त्री विमर्शः स्वरूप

स्त्री विमर्श का संबंध स्त्री मुक्ति से है। स्त्री की सामाजिक स्थिति, उसके संघर्ष और पीड़ा की अभिव्यक्ति से ही स्त्री विमर्श का सरोकार है। इसमें स्त्री की देह मुक्ति से लेकर सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्वतंत्रता और समानता की वकालत निहित हैं। रोहिणी अग्रवाल 'हंस' पत्रिका में लिखती हैं –

> आज स्त्री विमर्श न आयातित नारा है न अकादमिक बहस का मुद्दा। यह स्त्री समाज की अस्मिता की माँग है- साँस लेने की तरह नैसर्गिक और अनिवार्य। इसका एक सिरा यदि पितृसत्तात्मक व्यवस्था के निरीक्षण-पुनरीक्षण से जुड़ा है, तो दूसरा स्त्री नियति को उसकी समग्रता और विविधता में जानने से है। (नवम्बर-2002)

स्त्री विमर्श के अर्थ पर विचार करें तो ''लिंग के आधार पर अनुभूति को अलगाने वाला विवेचन ही स्त्री विमर्श है (पाठक 137)।'' प्रकाश कृष्ण देव का मानना है- ''स्त्री विमर्श स्त्री ने स्त्री होने के नाते, सहे हुए आघातों से मुक्ति तथा मनुष्य के रूप में व्यवहार कर सकने और उसी प्रकार का व्यवहार पाने के लिए स्त्री की जद्दोजहद की प्रक्रिया है (देव124)।'' डॉ. प्रज्ञा शुक्ला का कहना है – ''नारी पुरुष सत्ता का विकल्प न चाहते हुए, उनके समक्ष रहकर उसकी साझेदारी से अपने लिए मानवी रूप, समाज में प्रतिष्ठित स्थान चाहती है

(शुक्ला 176)।'' अतः लिंग के आधार पर वर्षों से शोषित स्त्री की मुक्ति की दासतान ही स्त्री विमर्श है।

स्त्री विमर्श की लड़ाई पुरुष से नहीं है, पुरुष तंत्र से है, पितृसत्ता की मानसिकता से है, जो स्त्री को मानव न समझकर अपनी भोग की वस्तु समझता हैं और उसे हर तरह के अधिकार से वंचित रखता है। उसकी दृष्टि में स्त्री का दमन, उत्पीड़न और शोषण करना पुरुष का प्रकृति प्रदत्त अधिकार है। तसलीमा नसरीन कहती हैं – ''हमारा विरोध पुरुष जाति से नहीं हैं, विरोध हैं पुरुष की उस सामंती मनोवृत्ति से, जो नारी को दासी से अधिक दर्जा नहीं देती (नसरीन 100)।'' राजेन्द्र यादव ने स्त्री को एक उपनिवेश मानते हुए, इसकी आजादी को अवश्यम्भावी माना है। वे कहते हैं – ''बीसवीं सदी के उतरार्द्ध में दुनिया भर में जो उपनिवेश भौतिक और मानसिक रूप से स्वतंत्र हुए उनमें स्त्री नाम का उपनिवेश भी है। दलित हमारे घरों और बस्तियों से बाहर होता है। स्त्री हमारे भीतर है, इसलिए उसका संघर्ष जटिल है (यादव 7)।'' सीमेन दे बोउवार ने स्त्री के उत्पीड़न का कारण जेंडर को माना है। वे मानती है कि स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि बनाई जाती है। वे कहती हैं –

> औरत जन्म से ही औरत नहीं होती, बल्कि बढ़कर औरत बनती है। कोई भी जैविक, मनोवैज्ञानिक या आर्थिक नियति आधुनिक स्त्री के भाग्य की अकेली नियन्त्रा नहीं होती। पूरी सभ्यता ही इस अजीबो-गरीब जीव का निर्माण करती है। (बोउवार 121)

स्त्री के स्त्री बनने की प्रक्रिया में पितृसत्ता का प्रमुख हाथ है, इसलिए रोहिणी अग्रवाल कहती है-

> स्त्री विमर्श अस्मिता आन्दोलन है। यह हाशिए पर धकेल दी गई अस्मिताओं को पुनः केन्द्र में लाने और उनकी मानवीय गरिमा को पुनर्प्रतिष्ठित करने का महा अभियान है। स्त्री विमर्श अपनी मूल चेतना में स्त्री को पराधीन बनाने वाली पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था का विश्लेषण करता है। यह स्त्री को दोयम दर्जे का प्राणी मानने का विरोध करता है और स्त्री को एक जीवंत मानवीय इकाई समझने का संस्कार देता है। (अग्रवाल 12)

स्त्री स्वतंत्रता की माँग ने स्त्रियों को अपनी बात खुलकर रखने की आजादी दी। स्त्रियों ने देह और कोख पर से पुरुष के वर्चस्व को नकारा। अपने अनुसार जीने की कोशिश की। मृणाल पाण्डे के शब्दों में –''नारीवाद पुरुषों का नहीं उनकी मानवीय घराने वाले उस छद्म मुखौटे का प्रतिकार करता रहा है, जो मर्दानगी के नाम पर गढ़ा गया है और उसके पीछे झूठी अह्ममन्यता और उत्पीड़क प्रवृत्ति के अलावा कुछ नहीं है (पाण्डे 09)।'' स्त्रियों का विद्रोह उसे मनुष्य न समझ कर वस्तु समझने से है। स्त्री विमर्श पर यह आरोप लगाया जाता है कि यह पुरुष को हटाकर स्त्री को स्थापित करने का संघर्ष है, जो कि झूठ है। स्त्री विमर्श का

मक्सद अपनी पहचान कायम करना है। पुरुष को मिटाकर खुद आसन पर बैठना नहीं। इसे लक्षित कर डॉ. करुणा शर्मा लिखती है –

> स्त्री विमर्श मूलतः स्त्रियों को पुरुषों के बराबर वैधानिक, राजनीतिक, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक क्षेत्रों में उनके परिवार, समुदाय, समाज एवं राष्ट्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में निर्णय लेने की स्वायत्ता के लिए किया जाने वाला संघर्ष है तथा यह स्त्री के प्रति समाज के दृष्टिकोण और मानसिकता में परिवर्तन के लिए भी संघर्षरत है। (शर्मा 59)

स्त्री अपने ऊपर लगाये गये सारे प्रतिबंधों, परम्पराओं, प्रथाओं से मुक्ति चाहती है जो उसके शोषण का कारण है। रमणिका गुप्ता के अनुसार – ''दरअसल स्त्री मुक्ति का अर्थ है पुरानी परम्पराएं, प्रतिबंध या प्रथाएँ, जो समाज, पुरुष सत्ता या धर्म ने उसपर थोप रखी है, उनसे मुक्त होकर एक मनुष्य की तरह आचरण करने का निर्णय लेने की स्वतंत्रता (गुप्ता 133)।'' स्त्री तो बस पुरुष के समान अधिकार ही चाह रही है। उसे भी एक मनुष्य के रूप में समझे जाने की वकालत कर रही है, उसे पुरुष के प्रतिस्पर्द्धा में नहीं देखना चाहिए। रमणिका गुप्ता आगे कहती है

> स्त्री विमर्श पुरुष का विरोधी नहीं है। वह पुरुष की वर्चस्ववादी प्रवृत्ति और स्वामित्व का विरोधी है। वह स्त्री को जैविक, सामाजिक, मानसिक, आर्थिक, राजनैतिक स्तर पर पुरुषों के समान स्थान प्राप्त करके, अपने अस्तित्व की अलग पहचान कायम करने का पक्षधर है। (गुप्ता 70)

स्त्री विमर्श की यह विडम्बना है कि यह कहीं न कहीं मध्यमवर्गीय स्त्रियों तक सीमित हो गई है। इसे अपने दायरे से बाहर निकल कर हर वर्ग की स्त्रियों तक पहुँचना होगा। सर्वहारा और निम्न वर्ग की स्त्रियों को स्त्री मुक्ति या स्त्री विमर्श की पहचान तक नहीं है। इसके बावजूद वे मध्यम वर्ग की स्त्रियों से अधिक मुक्त रहती हैं। ये स्त्रियाँ खेतों, कारखानों, रोड, भवन आदि स्थानों पर श्रमिक के तौर पर काम करती हैं। मध्यवर्गीय स्त्रियों में देह मुक्ति का जो दौर चला, ऐसा दौर कभी सर्वहारा वर्ग में नहीं रहा। रमणिका गुप्ता लिखती है – ''देह से वे पारिवारिक व अपने समाज की वर्जनाओं-तर्जनाओं के कारण उतनी गुलाम नहीं होती, जितनी मध्यवर्गीय औरतें या गृहणियाँ होती है (गुप्ता 34)।'' ये सर्वहारा स्त्रियाँ स्त्री मुक्ति का अर्थ जाने बिना प्रतिरोध करना जानती है। वे आसानी से पति के जुल्मों का विरोध करना जानती है।

2.2. स्त्री – पुरुष संबंधः-

स्त्री-पुरुष संसार का वह संबंध है, जहाँ ये दोनों लिंगिय दृष्टियों से भिन्न होते हुए भी युगों-युगों से एक दूसरे के साथ सहचर बन चलते आये हैं। वस्तुतः स्त्री-पुरुष संबंध

अपनी तिक्तता के बावजूद आत्मीयता की भावना के साथ सृष्टि को नव-निर्मित करते रहे हैं। राजकिशोर का मानना है-

> स्त्री-पुरुष की दुनिया एक उद्वेगपूर्ण दुनिया रही है। उसमें सुख है, दुख है, ताप है, तनाव है, प्रेम है, संघर्ष है, समर्पण है, दमन है, ऐश्वर्य है, दैन्य है, छलांग है, ठहराव है, गति है, जड़ता है यानी ऐसा क्या नहीं है जो जीवन के दूसरे पहलुओं में पाया जाता हो। (राजकिशोर 20)

समाज की पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने पुरुष को हमेशा स्त्री से हर क्षेत्र में आगे रखा। पुरुष को सारे अधिकार दिए और स्त्री को हर क्षेत्र में शोषण के लिए छोड़ दिया। पुरुष ने स्त्री को कैद करने के लिए जितने तरीके इजाद किए और स्त्री का उपनिवेशीकरण किया गया, पुरुष ने अपने को भी अकेला कर लिया। इस पर दृष्टि देते हुए जगदीश्वर जी कहते हैं- ''स्त्री-पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं और एक दूसरे से भिन्न एवं स्वायत्त भी हैं। सामाजिक विकास की प्रक्रिया में पूरक तत्व पर इस कदर जोर दिया गया है कि पुरुष ने स्त्री की अस्मिता एवं सत्ता को ही हजम कर लिया (चतुर्वेदी 01)।'' स्त्री और पुरुष प्रकृति द्वारा प्रदत्त जैविक विभिन्नता लेते हुए दो अलग-अलग प्राण तत्व है, किन्तु सृष्टि के नव- निर्माण हेतु स्त्री-पुरुष संबंध अवश्यमभावी है। स्त्री-पुरुष परिवार की एक ईकाई है। अतः परिवार के निर्माण और सामाजिक विकास के लिए स्त्री-पुरुष संबंध का स्वस्थ होना अति आवश्यक है। स्त्री विमर्श ने स्त्री स्वतंत्रता पर खूब जोर दिया है। पितृसत्ता के अत्याचारों से मुक्ति की कामना और समानता के सिद्धांत ने स्त्री को अपनी मुक्ति और अपनी स्वतंत्र पहचान कराने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है, किन्तु यह भी सच है कि स्त्री स्वतंत्रता की भावना ने स्त्री- पुरुष संबंधों में जटिलता का निर्माण भी किया है। डॉ. विजय पडोडे का कहना है –

> शिक्षा के प्रचार ने स्त्री-स्वतंत्रता की धारा प्रवाहित करते हुए स्त्री में प्रेम के साथ अधिकार भाव को भी जागृत किया। परिणामस्वरूप स्त्री- पुरुष संबंधों में जटिलताएँ निर्माण होने लगी। साहित्य में भी स्त्री-पुरुष संबंधी चिंतन में एक नया मोड़ आया। जिसने दिल और दिमाग दोनों को जोड़ दिया। (पडोडे 33)

स्त्री के अंदर उत्पन्न अधिकार भाव ने उसके अंदर स्वतंत्र होने की चेतना की चिंगारी को जन्म दिया। वह जानती है कि अपने परिवार में कुशल गृहिणी का भार संभालने के बावजूद वह परिवार की मुख्य भूमिका में कभी नहीं रही। सारे निर्णय पुरुषों के अधीन रहा। पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने स्त्री को दोयम दर्जे का नागरिक माना। समय के साथ-साथ स्त्री-पुरुष संबंधों में बदलाव आया है। इस बदलाव से स्त्री-पुरुष संबंधों में समानता के साथ-साथ बहुत कुछ बिगड़ा भी है। उषा महाजन का कहना है-

> औरतों की आजादी और उनके समान अधिकारों की मांग ने दामपत्य संबंधों के परम्परागत ढ़ाँचे को तोड़ दिया है। महिलाएँ पति के गलत व्यवहार को चुपचाप सहन नहीं करतीं। आर्थिक स्वतंत्रता ने उनमें एक प्रकार की सुरक्षा और आत्म सम्मान की भावना को जन्म दिया है जो हमारे पुरुष प्रधान समाज में अहं के

> टकराव का कारण बन गई है। आपसी समझ की भावना के अभाव में छोटी-छोटी समस्याएँ भी विकराल रूप धारण कर पति-पत्नी के संबंधों में जहर घोलने लगी हैं। (महाजन 112)

वास्तव में स्त्री हमारे समाज में केवल स्त्री के रूप में कभी समझी ही नहीं गई। उसे हमेशा एक आवरण में जीना पड़ा। वैश्वीकरण ने एक स्त्री में जितना परिवर्तन लाया उतना परिवर्तन पुरुष में कभी घटित नहीं हुआ, जिससे स्त्री-पुरुष संबंधों में परिवर्तन के साथ-साथ स्त्रियों के लिए बहुत कुछ नहीं बदला। इस संदर्भ में डॉ. ज्योति का मानना है- ''भूमंडलीकरण ने एक नई औरत को जन्म अवश्य दिया लेकिन वह नये मर्द को जन्म नहीं दे पाया जो इस 'पावर वूमेन' के साथ नए तरह के नर-नारी संबंधों का सिलसिला शुरू कर सकता (ज्योति 77)।'' किन्तु, वैश्वीकरण ने नारी के जीवन में कैसा परिवर्तन लाया इसे स्पष्ट करना डॉ. ज्योति भूल गई।

आज स्त्री-पुरुष संबंध केवल भावनात्मक न रहकर मनोवैज्ञानिक हो गया है। स्त्री विमर्श ने स्त्री – पुरुष संबंधों को नया रूप दिया। मुक्त प्रेम की कामना ने स्त्री- पुरुष संबंधों को प्रेम से काम में रूपान्तरित कर दिया है। यही कारण है कि पति-पत्नी का प्रेम सामाजिक दायरे से निकल कर प्रेमी-प्रेमिका में परिवर्तित होने लगा, जिसने विवाहेत्तर प्रेम को न्यौता दिया। इसने नैतिकता की परिभाषा को बदल दिया। डॉ. विजय कहते हैं- ''स्त्री पुरुषों के संबंधों में वैयक्तिक चिंतन को छोड़कर व्यक्तिगत चिंतन पर लेखकों का ध्यान आकर्षित हुआ है। अतः स्त्री पुरुष के हृदय में सामाजिक बंधनों के प्रति विद्रोह का भाव झलकता है (पडोडे 64)।'' स्त्री विमर्श के अंतर्गत समान अधिकार की भावना पर जोर दिया गया है, किन्तु प्रकृति ने स्त्री को विशेष बनाया है। शारीरिक बनावट ही नहीं, सृष्टि की संरचना का गुण भी प्रकृति ने स्त्री को ही दिया है। किन्तु, बराबर की मानसिकता ने स्त्री जीवन पर बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं लाया है। वरंच, इसने हर घर में एक प्रतिद्वन्द्वि को जन्म दिया है। इसलिए मृदुला सिन्हा कहती हैं-

> बराबरी की मानसिकता से हर घर एक अखाड़ा बना हुआ है। समाज के विभिन्न घटकों के बीच बहुत सारे अखाड़े हैं, जाने -अनजाने हमने एक और अखाड़ा बना लिया और स्त्री- पुरुष को उस अखाड़े में खड़ा कर दिया। चतुर्दिक विकास के बावजूद परिवार, समाज का समुचित विकास होता नहीं दिखता। कहीं-कहीं पहले से भी बदतर स्थिति बनती नजर आती है। (सिन्हा18)

मृदुला सिन्हा इस बात पर जोर देती हैं कि बेटा-बेटी को मात्र बराबर न समझकर बेटी को विशेष माना जाय और हर क्षेत्र में बेटी के लिए विशेष अवसर मुहैया कराया जाय।

स्त्री विमर्श ने जब पितृसत्तात्मक व्यवस्था के खिलाफ़ विद्रोह किया, अपने ऊपर हुए हर शोषण और अत्याचार के खिलाफ़ बोलना शुरु किया, स्त्री – पुरुष संबंधों में संकट उत्पन्न होना शुरु हुआ। स्त्री जो हमेशा से समाज के लिए एक वस्तु तुल्य थी, विमर्श ने उसे

वस्तु से व्यक्ति बनाने की पहल की। पुरुष समाज ने स्त्री को पूर्ण मनुष्य के रूप में कभी नहीं समझा। संवैधानिक रूप में स्त्री- पुरुष समान होते हुए भी वास्तविक धरातल पर कभी समान नहीं समझा गया। जबकि नासिरा शर्मा इस बात पर जोर देती हैं-''औरत मर्द एक चने की दो दाल है दोनों के सहयोग से ही बेहतर समाज की संरचना सम्भव है। जो परिवार की सुरक्षा, शांति, प्रेम और बेहतर भविष्य का वचन दे सकता है (शर्मा 7)।'' स्त्री को पुरुष की पितृसत्तात्मक सोच से मुक्त होना होगा। अस्मिता की पहचान और समानता के अधिकार की पहल ही स्त्री- मुक्ति की पहचान है। अतः स्त्री की मुक्ति के लिए प्रतिरोध की संस्कृति का विकास करना होगा। रमणिका गुप्ता लिखती है – ''स्त्री को जैसे ही यह अहसास हो जायेगा कि समाज, विशेष कर पुरुष, उसके प्रति विवेकमूलक दृष्टिकोण अपनाए, उसपर वर्चस्व नहीं जमाए, वह प्रतिरोध करने का मन बनाने की दिशा में सोचने लगेगी। यह सोच ही मुक्ति का लक्षण है (गुप्ता 61)।'' कहने के लिए स्त्री-पुरुष परिवार रूपी गाड़ी के दो पहिये है, किन्तु यथार्थ में परिवार का सर्वेसर्वा पुरुष ही बना रहता है। स्त्री को पुरुष के अधीन ही समझा जाता रहा है। निर्णय लेने का अधिकार पुरुषों के पास ही सुरक्षित रखा गया है। पति जैसा भी हो स्त्री पर उसका पूरा हक माना जाता रहा है। स्त्री स्वाधीनता ने स्त्री को पुरुष के समान ला कर खड़ा कर दिया है। आज की स्त्री हर क्षेत्र में बराबरी कर रही है। अतः आज परिवार के कई फैसले स्त्री द्वारा लिए जा रहे हैं। राजकिशोर लिखते हैं – ''स्त्री-पुरुष संबंध दुनिया का जटिलतम संबंध है, इसलिए उसका अंतर्संघर्ष भी बहुआयामी है। उसमें प्रेम के साथ गुस्सा, भय के साथ आत्म विश्वास तथा संघर्ष के साथ लगाव भी लिपटा हुआ है (राजकिशोर 39) ।'' अतः स्त्री विमर्श के अंतर्गत स्त्री पुरुष संबंधों की जाँच परताल करना और एक निर्णय पर पहुँचना आसान नहीं रह गया है।

2.2.1. प्रेमः-

प्रेम संसार का मूल है। संसार में जो कुछ भी है सब प्रेमवश ही है। ईश्वर ने भी संसार की रचना प्रेम के कारण ही की है। प्रेम आत्मानुभूति की चीज है। प्रेम के कई स्वरूप हो सकते हैं। जहाँ तक स्त्री-पुरुष के प्रेम की बात है, यह दोनों के बीच सहज आकर्षण से निर्मित होती है। प्रेम के संबंध में जैनेन्द्र का कहना है – ''प्रेम अपने आप में वह चीज है कि जिसके समर्थन के लिए हमें समाज की ओर देखना नहीं है (जैनेन्द्र 137)।'' एक तरफ जहाँ हम राधा-कृष्ण के प्रेम की सराहना करते हैं, वहीं समाज में प्रेम को अनैतिक ही माना जाता रहा है। हमेशा से स्त्री-पुरुष का प्रेम छुपा छुपाया ही गया है। मुक्त प्रेम की अवधारणा का विकास आज तक पूरी तरह से नहीं हो सका है। प्रेम विवाह को आज भी समाज में अच्छी नजर से नहीं देखा जाता है। कई राज्यों में तो प्रेम विवाह करने वालों को मौत की सजा दे दी जाती है। स्त्री और पुरुष के प्रेम में अंतर होता है। गौतम सान्याल कहते है-''प्रेम का अर्थ नारी के लिए सेवा है, पुरुष के लिए मेवा। प्रेम का अर्थ नारी के लिए अर्पण है,

समर्पण है, त्याग है, वर्जन है जबकि पुरुष के लिए ग्रहण है और ग्रहण है (सान्याल 197)।'' हालाकि सान्याल जी के प्रेम की इस परिभाषा को सहज ग्रहण नहीं किया जा सकता। यह सच है कि हर धर्म में स्त्री - पुरुष प्रेम को ओछी नजर से देखा गया है। यौन विषयों पर आज भी हम खुलकर चर्चा नहीं कर पाते हैं। प्रेम को कोठे की चीज बना दी गई है। समाज में प्रेम करने वाला कुसंस्कारी माना जाता है। रमणिका गुप्ता लिखती है –''समाज में प्रेम या यौन संबंध मुक्त होता या छिपाया नहीं जाता अथवा जहाँ बंदिशे इतनी कड़ी नहीं होती, उन्हें सभ्यता से बाहर, नैतिकता से परे और संस्कारहीन माना जाता रहा है। मानो संस्कारित होने का अर्थ ही यौन व प्रेम पर काबू पाना है (गुप्ता 21)।'' स्त्री विमर्श के अंतर्गत प्रेम के तीन रूप देखने को मिलते है – प्रेम विवाह, विवाह के बाद प्रेम और विवाहेत्तर प्रेम। स्त्री स्वतंत्रता ने स्त्रियों को प्रेम विवाह ही नहीं विवाहेत्तर प्रेम की ओर अधिक आकर्षित किया है। लेखिकाओं ने अपनी रचनाओं में प्रेम की तलाश के लिए विवाह ही नहीं, विवाह के बाद भी कईयों के साथ प्रेम की पराकाष्ठा को दिखाया है। सीमेन द बोउवार ने स्त्री और पुरुष के प्रेम को स्पष्ट करते हुआ कहा है – ''पुरुष का प्रेम पुरुष के जीवन का एक हिस्सा भर होता है, लेकिन स्त्री का तो यह सम्पूर्ण अस्तित्व ही है (बोउवार 331)।'' प्रेम के इसी स्त्री अर्थ को स्पष्ट करते हुए डॉ. निर्मला जैन लिखते हैं- ''प्रेम में भावुकता की जगह विवेक, विचारशीलता और सहभागिता की मांग स्त्री चेतना की देन है- विवेक समपन्न प्रेम- प्रेम की नई अवधारणा के लिए यह संज्ञा प्रस्तावित की जा सकती है। यह प्रेम का नया अर्थ है। प्रेम का स्त्री अर्थ (जैन 10)।'' अतः प्रेम के स्त्री अर्थ को समझने की जरूरत है।

प्रेम स्त्री-पुरुष दोनों के लिए आवश्यक है। प्रेम का अर्थ केवल काम भावना नहीं है। जबकि, मृदुला गर्ग यह मानती है कि ''प्रेम का मूल आधार है मनुष्य की काम वृत्ति।''(गर्ग 189) आशुतोष कुमार यह बात स्वीकार करते हैं कि प्रेम मात्र भावुकता नहीं है। उनके अनुसार – ''आवेगपूर्ण भावुकता, आत्म करुणा, सरलता, समर्पणशीलता, एकपक्षीय निष्ठा, दृष्टिहीन आस्था ऐसे तमाम स्त्री सुलभ गुण दोष प्रेम नहीं है (कुमार 1)। '' अतः स्त्रियों का प्रेम केवल शारीरिक न होकर उसमें भावुकता प्रधान होती है। स्त्री के लिए प्रेम सम्पूर्ण अस्तित्व है।

2.2.2. कामः-

स्त्री – पुरुष के बीच शारीरिक संबंध को काम कहा जाता है। डॉ. लक्ष्मी प्रसाद सिंह के अनुसार – ''दो भिन्नताओं (स्त्री - पुरुष) के बीच के संबंध को काम कहते हैं। यह वह प्रवृत्ति है जो विषय और विषयी को एकात्म बनाती है (सिंह 26)।'' फ्रायड ने काम का संबंध मनोविज्ञान से जोड़ा है और काम भावना के सामने सभी अन्य भावनाओं को नगण्य माना है। काम वह प्रवृत्ति है जिसके अभाव में स्त्री और पुरुष दोनों अधूरे हैं। जैनेन्द्र ने माना

भी है – ''जीव सृष्टि मैथुनी इसलिए है कि इसी क्रिया में सत्व विसर्जन की अदम्य चेष्टा है वहाँ मानो क्षण के लिए ही सही समस्त द्वैत नष्ट हो जाता है (जैनेन्द्र 555)।'' मुक्त काम भावना से नैतिकता का क्षरण होता है। अतः समाज द्वारा विवाह जैसी व्यवस्था के पीछे भी काम भावना की तुष्टि ही रही है, जहाँ स्त्री-पुरुष एक रिश्ते में बँधकर काम भावना को अंजाम देते हैं। डॉ. नीरजा राजकुमार का कहना है – ''साहित्य में वर्णित प्रेम और विवाह की समस्याओं का संबंध मनुष्य की जैविक आवश्यकता काम से है। प्रेम व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और विवाह एक सामाजिक संस्था। लेकिन दोनो काम से सम्बद्ध है (राजकुमार 68)।'' काम भावना की पूर्ति न होने पर ही व्यक्ति काम कुंठा से पीड़ित होता है। स्त्री- पुरुष के बीच स्थापित आकर्षण में भी काम भाव निहित होता है। डॉ. विजय पडोडे का मानना है – ''प्रेम के मूल में काम की आन्तरिक प्रक्रिया जारी रहती है जो समय पाकर सृजनात्मक रूप धारण करती है (पडोडे 33)'' पडोडे प्रेम के मूल में काम की उपस्थिति पर जोर देते हैं।

काम स्त्री-पुरुष के बीच प्राकृतिक और अनिवार्य आवश्यकता है। विवाह के बिना काम का होना हमारे समाज में अनैतिक समझा जाता है। स्त्री विमर्श की लेखिकाओं द्वारा इसी नैतिकता को तोड़ते हुए मुक्त काम की अवधारणा उसे देह विमर्श से जोड़ती है। डॉ. अन्नपूर्णा सिंह कहती है – ''हमारी समस्त मनःस्थिति, मनोद्वेग तथा मनोविकार का मूल स्थल यौन भावना ही है (सिंह 15)।'' वैवाहिक जीवन में काम पूर्ति होना अति आवश्यक है। काम के संबंध में डॉ. एम. वैंकेटेश्वर कहते हैं-

> स्त्री-पुरुष के बीच काम संबंधों के दो प्रयोजन होते हैं। वात्सयायन ने अपने काम-सूत्र में काम के सामान्य और विशेष दो भेद किए है। उनके मतानुसार आत्मा से संयुक्त तथा मन से अधिष्ठित पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अपने-अपने विषयों में प्रयुक्त होकर आनन्द उपभोग करने की प्रकृति विशेष काम है। और स्त्री-पुरुष के बीच संयोग से स्पर्श विशेषजन्य सुखानुभूति विशेष काम है। वात्सयायन द्वारा निर्दिष्ट विशेष काम का ही आधुनिक युग में व्यवहार होता है। (वैंकेटेश्वरा 96)

अतः काम की संयत और मर्यादित भावना हमारे संस्कृति की विशेषता रही है। मदुराई के मंदिरों में भी काम कला की मूर्तियाँ इसका प्रमाण है, क्योंकि जीवन का मूलाधार ही काम और प्रेम है। किन्तु, आज उन्मुक्त सेक्स की भावना ने काम और प्रेम के स्वरूप को धूमिल किया है। आये दिन बलात्कार की खबरों ने कई रिश्तों को तार-तार किया है। देह का प्रदर्शन ही आधुनिक संस्कृति का संवाहक प्रतीत हो रहा है। इसी का फायदा बाजार उठा रहा है। प्रेम का स्वरूप इतना विकृत हो चुका है कि वह शरीर तक सीमित हो गया है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि पुरुष के प्रेम को ठुकराये जाने पर स्त्रियों पर एसीड फेंक कर चेहरा जलाने की घटना बढ़ रही है।

2.2.3. विवाहः-

विवाह एक प्रथा है जिसके द्वारा स्त्री-पुरुष एक दाम्पत्य संबंध में बँधकर परिवार का निर्माण करते हैं। डॉ. रमेश जैन के अनुसार- ''विवाह हिन्दू जीवन का पवित्र पर्व है। यह वह आध्यात्मिक बंधन है जो स्त्री-पुरुष को एक सूत्र में बाँध देता है। अतः विवाह पर जीवन का सुख-दुख आधारित है (जैन 107)।'' कमल सिंघवी के अनुसार – ''विवाह मनुष्य के अंतरंग, भावनात्मक और दैहिक जरूरतों को पूरा करने की विधि है तो समाज के यन्त्र को संचालित करने का एक अनिवार्य उपकरण भी है (सिंघवी 3)।'' स्त्री-पुरुष संबंध के लिए विवाह आवश्यक है क्योंकि इससे ही समाज का निर्माण होता है। यह एक सामाजिक तत्व है। विवाह में स्त्री- पुरुष के बीच सुख के साथ दुःख को भी सहन करना होता है। जैनेन्द्र ने विवाह के संबंध में कहा है – ''पति-पत्नी संबंध वह है जिसमें उत्कृष्टता ही प्राप्त नहीं होती बल्कि निकृष्टता भी होती है (जैनेन्द्र 63)।'' विवाह जैसी संस्था को दहेज प्रथा जैसी कोढ़ ने व्यवसाय बना दिया है। इसी वजह से विवाह उपरान्त स्त्रियों पर जुल्म की घटनाएँ सबसे ज्यादा देखने को मिलती है। विवाह स्त्री-पुरुष संबंध की जरूरी माँग है। ''विवाह जितना व्यक्तिगत, पारिवारिक उत्सव है उतना ही सामाजिक भी (मृदुला सिन्हा 60)।'' इसके लिए जरूरी है कि न तो पति परमेश्वर है और न ही पत्नी भोग्या या वस्तु। सहधर्मिणी की भावना ही विवाह को स्वच्छ बना सकती है। ''विवाह जीवन में केवल मनोरंजन के लिए नहीं है। यह बड़ा कठिन कर्तव्य है । इसका मार्ग आसान नहीं है। इसमें रोमांच है, आनंद है, परंतु काँटे भी कम नहीं हैं (सिन्हा 64)।'' सुभाष सेतिया मानती है कि आज शिक्षित और आर्थिक दृष्टि से समर्थ महिलाएँ भी विवाह एवं संतान प्राप्ति के मामले में आत्म निर्णय के अधिकार से वंचित है। वह कहती है –

> विवाह मानव जाति को स्वस्थ और संतुलित ढ़ंग से आगे बढ़ाने की व्यवस्था है और साथ-साथ वह यौन संबंधी अराजकता एवं अव्यवस्था पर अंकुश लगाता है। वास्तव में परिवार की अवधारणा का पूरा ढ़ाँचा विवाह की ही नींव पर खड़ा है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि विवाह केवल सुख का श्रोत है। (सेतिया 12)

भारतीय परिप्रेक्ष्य में विवाह एक धार्मिक संस्कार के रूप में माना जाता रहा है। कई संस्कारों और रीति-रिवाजों का पालन किया जाता रहा है। एक घर से दूसरे घर में लड़की को भेजा जाना और ताउम्र उस लड़की को नये घर में खुद को खपा देना ही विवाह का अर्थ होता है। वहाँ स्त्रियों का काम गृहस्थी संभालना और पुरुष की जिम्मेदारी अर्थोत्पादन माना जाता रहा है। स्त्रियों को शिक्षा और अर्थ उत्पादन से दूर रखा जाता था। पति के दुर्व्यवहार करने पर भी पति की सेवा करना उसका धर्म माना जाता था। किन्तु, समाज में परिवर्तन के साथ –साथ विवाह की धारणा भी बदली है। अपनी रूची के अनुसार विवाह करने की प्रथा बढ़ी है। स्त्रियाँ शिक्षित हुई है और अब पति परमेश्वर नहीं

रह गया है। वैश्वीकरण के उपरान्त स्त्रियों के लिए नौकरियों का अवसर बढ़ा है। आज हर परिवार में स्त्री-पुरुष दोनों कामकाजी होते हैं। यह भी सच है कि नई परिस्थितियों ने विवाह के प्रति नव युवक - युवतियों का रुझान भी कम हुआ है। इसके कई कारण हो सकते हैं। लिव इन रिलेशन और काम के दबाव ने अविवाहित स्त्री-पुरुषों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई है। हमारे कानून में भी विवाह की उम्र तय की गई है, किन्तु विवाह को अनिवार्य नहीं किया गया है। डॉ. करुणा शर्मा विवाह के संबंध में लिखती है –''अब तो अवसरवादी समझौता माना जाने लगा है, क्योंकि अब इसका आधार रोमांस या प्रेम होने लगा है जिसे तलाक के द्वारा जब चाहे तब तोड़ा जा सकता है (शर्मा 117)।'' अतः विवाह आवश्यकता हो सकती है, अनिवार्य नहीं। ग्रामीण परिवेश में विवाह एक अच्छी प्रथा मानी जाती है। अविवाहितों को वहाँ अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता है। परिवार की जरूरत सबको है। एक सामाजिक प्राणी होने के नाते जिम्मेदारियों के बोझ के डर से विवाह से भागना सही नहीं है। आज इंसान स्वार्थी हो चुका है, तभी उसे विवाह में भी अपना स्वार्थ दिखाई देने लगा है। विवाह सब कुछ देख, सोच और समझकर किया जाने वाला एक समझौता बन कर रह गया है। डॉ. उषा यादव ठीक ही कहती है – ''विवाह मनुष्य के जीवन का एक महत्वपूर्ण अवसर होता है। परंतु, आज का जोड़ने-घटाने का मस्तिष्क वाला इंसान इन भावभीनी संबंधों को भी स्वार्थ की तुला पर तोलने लगा है (यादव 168)।'' विवाह मात्र सेक्स का सर्टिफिकेट न होकर सामाजिक व्यवस्था का एक अंग है। मृदुला सिन्हा लिखती है – ''परिवार व्यवस्था समाज की बहुत सारी जिम्मेदारियाँ निभाने के लिए ही है। बच्चे, विकलांग, बूढ़े, अकेले, बेरोजगार, सबकी समस्याओं का निदान परिवार व्यवस्था में है। भले ही परिवार लघुत्तम क्यों न हो (सिंहा 54)।'' विवाह को कानून का दर्जा प्राप्त हो चुका है। अतः यह केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं रह गया है। विवाह का रजिस्ट्रेशन आवश्यक हो चुका है। रजिस्ट्रेशन पद्धति ने विवाह को कई रिवाजों के जंजाल से मुक्त कर दिया है। पति साथी बन चुका है। विवाह आवश्यक होते हुए भी हम इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि इसी विवाह संस्था ने ही वर्षों से स्त्री का शोषण किया है। स्त्री शोषण में विवाह नामक संस्था ने हथियार का काम किया है। रमणिका गुप्ता परिवार और विवाह को नारी शोषण का हथियार मानते हुए कहती है –

> परिवार ऐसा ढ़ाँचा है, स्त्री जिसकी अनिवार्य सदस्य है और वहाँ पर वह लगभग कैद रहती है। दरअसल, परिवार नामक संस्था स्त्री ही के शोषण तथा यौन उत्पीड़न की सबसे बड़ी कार्यशाला है। विवाह इस कार्यशाला का मुकम्मल औजार है, जिसने स्त्री की गुलामी को अनिवार्य तो बनाया ही, विधि सम्मत भी करार दिया है। (गुप्ता 170)

पुरुष के लिए स्त्री सबसे आसान शिकार है। पत्नी के रूप में तो और भी आसान। इसलिए मृदुला गर्ग अपने उपन्यास में लिखती है – ''कमजोर से कमजोर, गरीब से गरीब, निकम्मे से निकम्मे आदमी के पास एक जायदाद होती है, जिस पर वह हुकूमत कर सकता

है- उसकी बीबी (गर्ग 97)।'' मार्क्स ने भी विवाह को स्त्री के लिए कत्लगाह तक कह दिया था– 'विवाह अस्तित्व और व्यक्तित्व की कत्लगाह है।' जे. एस. मिल. ने भी यह माना है कि विवाह वैधतापूर्ण दासतंत्र को पुख्ता करता है। एंजेल्स परिवार व्यवस्था को नारी के लिए शोषक तंत्र मानते हैं। वे कहते है कि परिवार नारी की घरेलू दासता पर आधारित संस्था और व्यवस्था है। विवाह जिसे एक पवित्र रिश्ता माना जाता है, दहेज जैसी प्रथा ने इसे स्त्री शोषण का औजार बना दिया है। इसलिए तस्लीमा नसरीन कहती है – ''शादी नामक अनुष्ठान स्त्री के विक्रय की पद्धति है। दहेज का आदान-प्रदान, देन मोहर के बदले में शादी। यानी इंसान को इंसान के साथ सम्पर्क से ज्यादा रूपये पैसे के जरिए स्त्री की खरीद-फरोख्त का काम होता है (नसरीन 70)।'' शादी के उपरान्त स्त्री जिस घर पर जाती है, वह संस्कारों और नैतिकता बोध से जुड़कर शोषण का शिकार होने लगती है। वह चाह कर भी नैतिक मूल्यों की सीमा को पार नहीं कर पाती है। -

> घर की चहारदीवारी आदमी को सुरक्षा देती है, पर साथ ही उसे एक सीमा में बाँधती भी है। स्कूल, कॉलेज जहाँ व्यक्ति के मस्तिष्क का विकास करते हैं वही नियम, कायदे और अनुशासन के नाम पर उसके व्यक्तित्व को कुंठित भी करते हैं। (नसरीन 151)

पर यह भी सच है कि आज की स्त्री इन कुसंस्कारों का विरोध करने लगी है। स्वतंत्र अस्तित्व की लड़ाई लड़ने लगी है। अर्थात् दोष विवाह में न होकर विवाह के नाम पर कुरीतियों और शोषण की प्रवृत्ति पर है। इसलिए उषा देवी दाम्पत्य जीवन के लिए विवाह को अनिवार्य मानते हुए कहती है – ''.... तो भी आज मुझे कहना पड़ रहा है- नर नारी के लिए विवाह विशेष प्रयोजनीय है (देवी 166)।'' विवाह को न तो केवल बंधन माना जा सकता है और न इसे स्त्री शोषण का हथियार ही बनने देना चाहिए। विवाह जैसे पवित्र बंधन में स्त्री और पुरुष दोनों का समान महत्व होना चाहिए।

2.3. पितृसत्ता और स्त्रीः-

पितृसत्ता एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जहाँ पुरुष ही परिवार का मुखिया होता है और सारे निर्णय पुरुष द्वारा ही लिए जाते हैं। पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने स्त्रियों को हजारों सालों तक पुरुषों का गुलाम बना दिया और स्त्रियों को दोयम मान कर काल कोठरी में ढकेल दिया। रमणिका गुप्ता के शब्दों में –

> पितृसत्ता ने स्त्री के लिए जहाँ एक तरफ सारे पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक मानदंड धर्म और जाति के आड़ में ही तय किए है, जो यथा स्थिति के समर्थक है, तो उसने परिवार के रूप में भी एक पूरा का पूरा ढ़ाँचा तैयार कर दिया है, जो पितृसत्ता के अधिकारों की रक्षा करता है और स्त्री को जीवन-पर्यन्त गुलाम बनाये रखता है। (गुप्ता 48)

पितृसत्ता को सामाजिक संरचना और क्रियाओं की एक ऐसी व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसमें पुरुष का स्त्रियों पर वर्चस्व रहता है और वे उसका शोषण तथा उत्पीड़न करते हैं। प्रभा खेतान भी इसे स्त्री शोषण के हथियार के रूप में देखती हैं और इसे एक सामाजिक घटना मानती हैं। वह कहती हैं –

> पितृसत्ता एक सामाजिक घटना है, हजारों साल से चल रही ऐसी व्यवस्था है जिसमें स्त्री की अधिनस्थता सर्वविदित है। पितृसत्ता ने स्त्री को अपने ज्ञान की वस्तु बनाया। उसे साधन के रूप में प्रयोग किया – उसके नाम, रूप, जाति, गोत्र सब अपने संदर्भ में परिभाषित किए। (खेतान 39)

हम जानते हैं कि हमारे समाज में पितृसत्ता हमेशा से नहीं थी। वैदिक काल में हमारे समाज में मातृसत्ता थी। स्त्रियों को अध्ययन, पठन-पाठन, शास्त्रार्थ करने, राजनीति, शासन-व्यवस्था हर क्षेत्र में अधिकार था। किन्तु, लम्बे दौर में जब हमारा समाज मातृसत्तात्मक से पितृसत्तात्मक होता गया, पुरुषों ने स्त्रियों पर अपना अधिकार समझना शुरु कर दिया और धीरे-धीरे स्त्रियों के दिमाग में पुरुष के वर्चस्व को स्वीकारने और खुद को अबला समझने की प्रक्रिया शुरु हो गई। धर्म और शास्त्रों के माध्यम से कई नियम बनाकर स्त्रियों को नियंत्रित करने का काम पुरुषों द्वारा किया गया। इस ओर दृष्टि डालते हुए आशारानी ब्होरा लिखती हैं – ''अस्त्र-शस्त्र धारी वीर नारी घोड़े से उतर कर पालकी और परदे में कैद हो गयी। स्वतंत्र प्रेम व चुनाव का अधिकार खोकर मानसिक गुलामी व शोषण का शिकार हुई (ब्होरा 180)।'' अतः इससे साफ पता चलता है कि मातृसत्तात्मक व्यवस्था कायम थी। आज मेघालय की खासी जाति ही नहीं, केरल में भी कई जातियों में मातृसत्ता कायम है। इसमें पुरुष का दोष नहीं, बल्कि इस व्यवस्था का दोष है। लवलीन कहती है – ''दोषी पुरुष नहीं, वह पितृसत्तात्मक व्यवस्था है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक स्त्रियों को ही नहीं, पुरुष को भी लगातार पाठ पढ़ाती है कि स्त्रियाँ उनसे हीन है, दोयम दर्जे की हैं और उनके भोग-उपभोग का साधन मात्र हैं (लवलीन 87)।'' इसी के बल पर स्त्रियों को सदियों से गुलाम बनाया जाता रहा है।

आज भी देश के कई जनजातियों में मातृसत्ता कायम है। देश में पितृसत्ता कब अस्तित्व में आई इसका ठीक – ठीक समय बता पाना आसान नहीं, फिर भी इसके अस्तित्व को लेकर जगदीश्वर चतुर्वेदी जी का कहना है –''ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करें तो पायेंगे कि भारत में ईसा पूर्व 5500 वर्ष से पितृसत्ता का आगमन हुआ। वैदिक आर्यों को पितृसत्ता की विकसित अवस्था माना जाता है (चतुर्वेदी 206)।'' मातृसत्ता से पितृसत्ता की स्थापना ने ही स्त्री को पुरुष के अधीन कर दिया। एंगेल्स के शब्दों में कहें तो – ''मातृसत्ता से पितृसत्तात्मक समाज का अवतरण वास्तव में औरत जाति की सबसे बड़ी ऐतिहासिक हार थी (एंगेल्स 28)।'' इस पितृसत्ता ने जिस पारिवारिक संस्था का निर्माण किया, इसके

नींव में स्त्री शोषण ही था, जहाँ स्त्री को घर के काम काजों में ढ़केल दिया गया और पुरुष को बाह्य जगत के हर क्षेत्र के लिए सुरक्षित रख लिया गया। फ्रांसीसी मनोविश्लेषक जैक लाकां का यह तर्क है कि – ''पितृसत्ता में परिवार की आर्थिक स्थिति, यौन संबंध और सांस्कृतिक मामलों में पुरुष स्त्री पर हावी रहता है। स्त्री अपने घरेलू श्रम का कोई भुगतान नहीं पाती और इसी के बदले उसका जीवन यापन होता है (लाकां 56)।'' इस व्यवस्था के कारण स्त्री बाह्य जगत के हर ज्ञान से वंचित हो गई। स्त्री विमर्श ने इसी पितृसत्तात्मक व्यवस्था के खिलाफ आवाज बुलन्द की है। विज्ञान की प्रगति ने तो गर्भ में ही स्त्री की पहचान को आसान बना दिया, जिससे वह गर्भ में ही मार डाली जाने लगी। स्त्री को पहले धर्म से डराया और मारा गया, अब इसी कार्य के लिए विज्ञान का सहारा लिया जा रहा है। प्रभा खेतान इसे इन शब्दों में व्यक्त करती हैं – ''पितृसत्ता अपने आप को मजबूत करने के लिए पहले धर्म का सहारा लेती थी, आज विज्ञान का सहारा लेती है (खेतान 153)।'' पितृसत्ता की जड़ें सुदूर परम्परा तक फैली हुई हैं जो एक दिन में समाप्त नहीं होगी, अतः स्त्रियों को पुरुष के साथ मित्रवत रहकर ही इस व्यवस्था से निपटने का मार्ग ढूँढ़ना चाहिए। उसका विरोध पितृसत्तात्मक व्यवस्था से है, पुरुष से नहीं।

2.4. स्त्री और आर्थिक आत्म-निर्भरताः-

स्त्री का आर्थिक दृष्टि से संबल होना स्त्री विमर्श का महत्वपूर्ण मुद्दा है। हमारे समाज में ऐसा नियम बना दिया गया है जहाँ स्त्री के लिए अर्थ कमाना और परिवार चलाने की जिम्मेवारी नहीं दी गई है। समाज का ढ़ाँचा ऐसा बनाया गया है कि पति ही पत्नी की सारी जिम्मेवारी उठाता है और स्त्री को गृहकार्य और पति की सेवा का कार्य दिया गया है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि हर चीज के लिए स्त्री को पुरुष के अधीन कर दिया गया। अब पुरुष अत्याचारी हो या शराबी हर जुल्म सहकर भी स्त्री पति का विरोध नहीं कर सकती थी। देवेन्द्र चौबे स्त्री की पराधीनता में अर्थ के महत्व को समझते हुए कहते हैं – ''स्त्रियों का जीवन की मुख्यधारा से अलग-थलग पड़ने की यह प्रक्रिया केवल सामाजिक व्यवस्था के कारणों से ही नहीं होती है, बल्कि उसका एक बहुत बड़ा कारण आर्थिक भी है (चौबे 127)।'' किन्तु, आधुनिक काल में शिक्षा के अधिकार ने स्त्री को शिक्षित होने का अवसर दिया। अवसर पाते ही स्त्री ने हर क्षेत्र में पुरुष के सामने चुनौतियाँ खड़ी कर दी। उसने नौकरी करना आरंभ किया। वह आर्थिक रूप से संबल हुई। अब उसके अंदर पुरुष के अत्याचारों का प्रतिरोध करने की चेतना का विकास हुआ। आज की स्त्री चाहे वह किसी भी वर्ग की हो, अर्थ कमाकर आर्थिक आत्म निर्भर होना चाहती है, अब वह जुल्म को चुपचाप सहन नहीं करना चाहती। वह प्रतिरोध करना सीख चुकी है। वह परिवार ही नहीं संभाल रही, बल्कि घर और बाहर दोनों की जिम्मेदारी संभाल रही है। पुरुष ने भी अब यह जान लिया है कि मजबूत परिवार की रीढ़ स्त्री और पुरुष दोनों का आर्थिक संबल होना है।

स्त्रियों के आर्थिक सबलीकरण ने उसमें एक नया साहस दिया है। अब उसमें सामाजिक बदनामी, धार्मिक वर्जनाओँ और अंधविश्वासों का डर नहीं रहा है। अब वे अपने पतियों के भरोसे नहीं है। रमणिका गुप्ता दिखाती हैं – ''परिवार की अतिरिक्त आमदनी का जरिया बन जाने के चलते, वे परिवार में विशेष रुतबा भी पा जाती हैं। बावजूद इसके वे परिवार संबंधी या खुद अपने या अपने संतान के लिए बड़े निर्णय लेने से घबराती या कतराती रहती है (गुप्ता 35)।'' एंगेल्स ने स्त्री विमर्श के अंतर्गत स्त्री की आर्थिक निर्भरता को जरूरी बताया है। उनके अनुसार आर्थिक श्रेष्ठता के कारण ही पुरुष विवाह के उपरान्त सर्वश्रेष्ठ बनता है। इसीलिए स्त्री के आर्थिक रूप से श्रेष्ठ होते ही पुरुषों की श्रेष्ठता समाप्त हो जाएगी। परिवार में उन्होंने पति को बुर्जुआ कहा तो पत्नी को सर्वहारा। वे लिखते हैं – स्त्रियों की मुक्ति की पहली शर्त यह है कि पूरी नारी जाति फिर से सार्वजनिक उद्योग में प्रवेश करें और इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज के आर्थिक होने के व्यक्तिक परिवार का गुण नष्ट कर दिया जाय (एंगेल्स 226-227)।'' महादेवी वर्मा ने भी स्वीकार किया था कि – यदि स्त्री को अर्थ संबंधी वे सुविधाएं प्राप्त हो जाएँ, जो पुरुषों को मिलती आ रही है, तो न उनका जीवन उनके निष्ठुर कुटुम्बियों के लिए भार बन सकेगा और न वे गलित अंग के समान समाज से निकाल कर फेंकी जा सकेंगी (वर्मा 20)।'' कृषि कार्य में निम्न वर्ग की स्त्रियाँ शुरु से ही आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र रही है। वह निर्भय होकर पुरुष के साथ काम करती रही हैं, किन्तु मध्य और उच्च वर्ग की स्त्रियों के लिए आर्थिक निर्भरता अनैतिक माना जाता रहा है। स्त्री विमर्श ने इन वर्गों की स्त्रियों को भी आर्थिक निर्भर होने की चेतना जगाई। हर क्षेत्र में स्त्रियों द्वारा जीत का डंका बजाने के बावजूद अभी और भी दूरी तय करना बाकी है। आज भी एक समान काम करने के बावजूद पुरुषवादी सोच ने स्त्री के श्रम को पुरुष के बराबर कभी नहीं माना। जब-जब छँटनी की बात आती है, कम्पनी वाले स्त्रियों की ही छँटनी करते हैं।

स्त्री की सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के साथ-साथ कुछ समस्याएँ उनके स्त्री होने के कारण हैं और चूँकि ये समस्याएँ पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा स्त्री के शोषण के लिए इस्तेमाल की गई हैं, इसका समाधान आसानी से नहीं हो पाता है। आज शहरों में कामकाजी स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से संबल हो गई हैं, इसके बावजूद उसकी समस्याएँ पूर्णतः समाप्त नहीं हो पाई है। सुभाष सेतिया का कहना है –''आधुनिक औरतों ने अर्थोपार्जन करने में सक्षम हो जाने के कारण पुरुषों के समान आर्थिक क्षमता भले ही प्राप्त कर ली हो, परंतु उन्हे परिवार तथा समाज में उसके अनुरूप सम्मान आज भी नहीं मिला है (सेतिया 12)।'' वरंच, अब उसे गृहिणी की भूमिका के साथ-साथ ऑफिस में भी कई प्रकार के दबावों और तनावों से गुजरना पड़ रहा है। कभी-कभी पति और परिवार की शंका का शिकार भी होना पड़ रहा है। इस पर भी कुछ स्त्रियाँ आज भी अत्याचारों को भोगते रहती है। डॉ. ज्योति किरण लिखती है – ''स्त्री विरोधी परिवेश में स्त्रियाँ गृहिणी हो या कामकाजी उसे भेदभाव और विसंगतियों से जूझना ही पड़ता है। पूरी व्यवस्था के आम दबावों के अतिरिक्त एक स्त्री

को कुछ अतिरिक्त दबावों-तनावों को झेलना पड़ता है (किरण 75)।'' फलतः मध्यवर्गीय स्त्रियाँ अवसाद से घिर जाती है। उसका पढ़ा- लिखा पति और अधिक तेज होता है, अर्थात् शोषण के नए-नए तरीके इजाद किए जाते हैं। लवलीन लिखती है –

> पुरुष जितना बौद्धिक व कुशाग्र होगा, स्त्री-उत्पीड़न के तरीके उतने ही सूक्ष्म, दैहिक और यंत्रणा देने वाले होंगे। इसीलिए सफल व स्वतंत्र स्त्रियाँ प्रायः बंद फूल सी आत्म केन्द्रित और अकेली हो जाती हैं- समाज में सम्मान और बराबरी का दर्जा न मिलने के कारण अकेली, बेचैन, चिंतित वे तनाव एवं अवसाद से भर जाती हैं। (लवलीन 15)

आर्थिक निर्भरता ने भले स्त्री को सारे अधिकार नहीं दिये, किन्तु स्त्री स्वतंत्रता में आर्थिक निर्भरता ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। स्त्री को मानसिक संतुष्टि मिली है। सुधा अरोड़ा ने सही लिखा है –

> आर्थिक आत्म निर्भरता बेशक प्रताड़ना की स्थिति में कोई बदलाव ला पाने में कारगर नहीं होती, पर इससे जीवन में निर्णय लेने और उन्हें कार्यान्वित करने की क्षमता जरूर बढ़ जाती है। बहुत से समीकरण इस आर्थिक आजादी के चलते बदल जाते हैं। आर्थिक रूप से सक्षम होने का एक मध्यवर्गीय औरत को जो लाभ मिलता है, वह यही है कि गैर-बराबरी और मानसिक यातना से पैदा होती भीषण स्थितियों से जूझना उसके लिए थोड़ा आसान हो जाता है। (अरोड़ा 164)

आज नारी आर्थिक दृष्टि से संबल होने के बावजूद वह देह की नैतिकता से स्वतंत्र नहीं हो पाई है। सामाजिक मान्यता उसे देह की पवित्रता के आधार पर ही मिलता है। राजेन्द्र यादव कहते हैं –

> आर्थिक रूप से आत्म निर्भर स्त्रियाँ भी सेक्स को लेकर ही सबसे ज्यादा चौकस और प्रताड़ित हैं। आर्थिक रूप से आत्म - निर्भरता उन्हें आत्मविश्वास और परिणामतः अपनी प्रतिभा और क्षमता के विकास के आधार जरूर देती है, मगर सामाजिक सम्मान तो सेक्स नैतिकता से ही तय होता है। (यादव 44)

अतः स्त्री को केवल आर्थिक दृष्टि से ही मजबूत होना नहीं है, बल्कि अपने ऊपर होने वाले हर जुल्म का विरोध करना सीखना होगा। आर्थिक आत्म निर्भरता उसे इतना साहस तो देती ही है कि वह खुद अपने लिए निर्णय ले सके।

2.5. स्त्री और देह की राजनीतिः-

प्राचीन काल से ही स्त्री को उसकी देह से जोड़कर देखा जाता रहा है। स्त्री का देह ही है जो उसका अपना है, किन्तु इसपर भी उसका हक नहीं है। शुचिता और नैतिकता के नाम पर समाज ने सारी शुचिता स्त्री के देह तक ही सीमित रखी। स्त्री ने भी इज्जत के नाम पर यौन शुचिता को ही स्वीकार कर लिया। स्त्री के इस देह पर अगर अन्य पुरुष का छुआ लग जाय तो उसे अपवित्र कह दिया गया। ये सारी नैतिकताएँ केवल स्त्रियों पर लागू की गई। जबकि पुरुषों पर यह सब लागू नहीं होता, पर देह तो पुरुष का भी होता है। अतः स्त्री देह को इसी शुचिता से मुक्ति की जरूरत है। देह पर स्त्री का अपना हक भी नहीं है। स्त्री विमर्श पर देह से मुक्ति को लक्षित करते हुए कपिल देव सिंह चौहान कहते हैं –

> नारी जीवन और शरीर पर नारी के अधिकारों का ही दावा होना चाहिए। पुरुष समाज के विधान पर वश होकर एक गुलाम और शोषित का जीवन धर्म वह क्यों स्वीकार करें। स्त्री विमर्श में इसी विचारधारा का चित्रण होता है। (चौहान 16 फरवरी, 2003)

स्त्री कोई वस्तु नहीं है कि किसी के छूने से गंदी हो जाय। शरीर स्त्री का है तो शरीर को लेकर नियम भी स्त्री द्वारा ही बनाये जाने चाहिए। रमणिका गुप्ता लिखती है –

> दरअसल स्त्री देह का दायरा विकसित करने की दरकार है। स्त्री की वर्जनाओं और निषेधों में चूँकि सबसे पहले देह और उसकी शुचिता ही आती है, उसकी इमानदारी, शौर्य और अच्छा नागरिक होना नहीं, इसलिए मुक्ति तो वास्तव में इसी वर्जना से चाहिए। (गुप्ता 105)

अतः स्त्री को स्त्री देह के इस सीमित परिधि से बाहर निकलना होगा।

स्त्री विमर्श पर देहवाद का आरोप लगाया जाता है। दरअसल देह मुक्ति का अर्थ यह नहीं है कि स्त्रियाँ उच्छश्रृंख्ल होकर कई पुरुषों के साथ यौन संबंध करें और उसकी खुलकर व्याख्या करें। चाहे वह स्त्री हो या पुरुष ऐसा करना समाज के लिए सही नहीं माना जायेगा। कुछ लेखिकाएँ इसी देहवादी विमर्श के तहत सीमा पार कर जाती हैं, इसे अपवाद ही माना जाना चाहिए। इस आधार पर पूरे स्त्री विमर्श को देह विमर्श कहना उचित नहीं बनता। राजेन्द्र यादव ठीक ही कहते हैं –

> कैसी हास्यास्पद विडंबना है कि हजारों सालों से पुरुष ने स्त्री को देह से अधिक कुछ भी नहीं माना। शास्त्रों से उसे यही समझाया जाता रहा है कि वह सिर्फ देह है, और उसकी इस देह के स्वामित्व पर ही उसने संस्कृति का सारा वितान खड़ा कर लिया- लेकिन आज जब स्त्री ने सिर उठाकर यह कहना शुरु कर दिया कि हाँ, वह सबसे पहले देह है और अपनी देह की मालिक वह स्वयं है तो सारे पुरुष समीकरण गड़बड़ा गये। (यादव 163)

हमें यह खोज करनी चाहिए कि स्त्री विमर्श के अंतर्गत देह वर्णन कहाँ से आया? हम जानते हैं कि हिन्दी के स्त्री विमर्श में पाश्चात्य स्त्री विमर्श का गहरा प्रभाव पड़ा है। देह विमर्श भी उसी प्रभाव का एक उदाहरण है। पाश्चात्य देशों में 1968 में 'सोसाईटी फॉर कटिंग अप मैन' (SCUM) नामक संस्था का निर्माण होता है, जिसका उद्देश्य पुरुषों को इंकार कर, हर संबंध को भूला कर, उन्मुक्त होकर जीना था। इसे उग्रवादी नारी विमर्श के रूप में भी जाना जाता है। इन नारीवादियों ने यह घोषणा की कि यौन स्वतंत्रता ही स्त्री मुक्ति है। यह आन्दोलन पुरुषों के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ था। अब स्त्रियाँ विवाह पूर्व और विवाह उपरान्त सेक्स को जायज ठहराने लगी। वे भी पुरुषों की भाँति अनेकों से सेक्स संबंध बनाने को सही मानने लगी। उन्होंने उन्मुक्त सेक्स में आस्था प्रकट की। पुरुषों के साथ यौन संबंध को बलात्कार कहा और लैसबियन कल्चर की ओर अग्रसर हुईं। इन सब का कारण पुरुष सत्ता का विरोध करना था। इन नारीवादियों ने नाजायज बच्चे पैदा करने में बुराई नहीं देखी और यह घोषणा की कि नारी देह पर उसका हक है और वह जब चाहे, जिस तरह चाहे सेक्स कर सकती है। यह आन्दोलन ज्यादा दिनों तक नहीं चल सका। बेट्टी फ्राइडन ने इसका विरोध किया और 80 के दशक में उन्होंने कहा – ''यदि नारी मुक्ति का अर्थ इस प्रकार का स्वेच्छाचार है, तो इस मुक्ति से भगवान बचाये (फ्राइडन 101)।'' इसी पाश्चात्य आन्दोलन का ही प्रभाव हिन्दी के स्त्री विमर्श में दिखाई दिया जहाँ स्त्रियों ने उन्मुक्त सेक्स को ही स्त्री विमर्श का पर्याय मान लिया। अतः स्त्री देह के अधिकार का अर्थ उच्छश्रृंख्ल होना नहीं है। हजारों वर्षों से स्त्री के देह को सेक्स अब्जेक्ट के रूप में ही देखा जाता रहा है। राजेन्द्र यादव का कहना है कि – ''पुरुष ने स्त्री के खून में यह भावना, संस्कार की तरह कूट-कूट कर भर दी है कि वह सिर्फ और सिर्फ शरीर है। वह शरीर के सिवा उसकी किसी और पहचान से इनकार करता है (यादव 15)।'' धर्म शास्त्रों और साहित्य में भी श्रृंगार के नाम पर देह का ही वर्णन किया गया है। आज जब स्त्री अपने देह पर हुए जुल्म की दास्तान लिख रही ही तो उसे मात्र देह-विमर्श मान लेना सही नहीं है। आज स्त्रियाँ हर ईट का जवाब पत्थर से दे रही है तो उसके इस हिम्मत को दबाने के लिए उसे देह तक जोड़ देना सही नहीं है। सुभाष सेतिया का कहना है –यह ठीक है कि लड़किया पहले की तरह मोम की गुड़ियाएँ नहीं रहीं, किन्तु बहुत से मामलों में आज भी लड़कियों की हिम्मत और बोल्डनेस को पुरुष के साथ यौन संबंध तक सीमित करने का प्रयास किया जाता है (सेतिया 12)।'' जरूरत है कि स्त्री को देह तक सीमित न मान कर स्त्री विमर्श के अंतर्गत स्त्री – देह के अधिकार का दायरा विकसित किया जाय। रमणिका गुप्ता कहती हैं – ''अब जब वे अपने ऊपर थोपी हुई अश्लीलता को लिखती है या स्वतंत्र रूप से अपने प्यार को या अपनी देह को केन्द्र में रखकर लिखती है, तो उसे हम देहवादी विमर्श या व्यभिचार की छूट की संज्ञा देने लगते हैं (गुप्ता 106)।'' स्त्री ने अपनी आजादी की लड़ाई में स्त्री देह को जहाँ समस्या के रूप में पाया वहीं इसी देह की राजनीति कर कई स्त्रियों ने पुरुष को कटघरे में खड़ा किया है। स्त्री के लेकर जितने कानून बनाये गये वे सब उसके देह को लेकर ही बनाये गये। ऐसे

कानूनों का दुरूपयोग भी कई स्त्रियों द्वारा किया गया है। इस पर प्रकाश डालते हुए रमणिका गुप्ता लिखती है – ''जैसे एक पुरुष अपनी रणनीति में अपने शारीरिक बल को शामिल करके अपनी रणनीति बनाता है, ठीक वैसे ही महत्वकांक्षी स्त्री को भी अपनी रणनीति बनानी होती है, चाहे वह देह के संदर्भ में ही क्यों न हो (गुप्ता 40)।'' हमें यह सोचना चाहिए कि स्त्री को अपने देह की स्वतंत्रता की लड़ाई तो लड़नी ही चाहिए पर देह के नाम पर कानून के दुरूपयोग करने से भी बचना चाहिए।

इतिहास गवाह है कि नारी को अपने अधीन करने के लिए उसकी स्वतंत्रता को काबू किया गया। पुरुष ने लगभग हर तरह की कोशिश की कि स्त्री परतंत्र और निष्क्रिय बनी रहे, इसके लिए उसने नारी देह को ही गुलाम बना लिया। राजेन्द्र यादव का कहना सही लगता है-

> आदमी ने यह मान लिया है कि औरत शरीर है, सेक्स है, वहीं से उसकी स्वतंत्रता की चेतना और स्वच्छन्द व्यवहार पैदा होते हैं। इसलिए वह हर तरह से उसके सेक्स को नियंत्रित करना चाहता है। सामाजिक आचार-संहिताओं, यानी मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों से लेकर व्यक्तिगत कामसूत्र तक औरत को बाँधने और जीतने की कलाएँ है। (यादव 15)

स्त्री के देह में यौनिकता को आधार बनाकर पितृसत्ता ने स्त्री को सेक्स के लिए नियंत्रित रखा। स्त्री-पुरुष संबंध में स्त्री की यौनिकता को पुरुष के अधीन माना गया। आधुनिक स्त्री यौन पर पुरुष के अधिकार का विरोध करती है। अनामिका लिखती है-

> स्त्रियों की अपनी स्वतंत्र यौन इयत्ता है जो किसी कस्ट्रेशन कॉम्प्लेक्स से पीड़ित नहीं और यौन सुख के लिए पुरुष की मुखापेक्षी भी नहीं। क्लाइटोरियस नामक इनका अंग विशेष बहुत सारे ऐसे स्नायु तंत्र की सिद्ध पीठिका है जो इसे शिश्न से अधिक संवेदनशील और तृप्तिमुखी बनाता है। (अनामिका 11-12)।

समाज पुरुष वर्चस्वादिता के आधार पर स्त्री की कामुकता पर नियंत्रण करता आया है और सारी नैतिकता स्त्री देह को केन्द्रित कर स्त्रियों पर लाद दिया गया। प्रभा खेतान इस संबंध में कहती हैं –

> पितृसत्ता ने चूँकि पुरुष यौनिकता को सक्रिय एवं प्रभावी माना इसलिए स्त्री को वस्तु या चीज के रूप में देखा। फलस्वरूप स्त्री यौनिकता एक सांस्कृतिक घटना हो गई। जबकि हकीकत में स्त्री-पुरुष के जैविक विभाजन का इससे कोई लेना-देना ही नहीं है। यह पितृसत्ता की राजनीति थी ताकि कुछ विशिष्ट पुरुषों को स्त्री सुलभ होती रहें। (खेतान 42)

वास्तव में स्त्री देह की मुक्ति का प्रश्न स्त्री द्वारा देह पर अधिकार और उच्श्रृंख्ल होकर सेक्स करने का नाम नहीं है। स्त्री विमर्श मात्र देह विमर्श नहीं है। वह स्त्री के सामाजिक न्याय के

लिए संघर्षरत है। स्त्री मुक्ति का प्रश्न सामाजिक, राजनीतिक मुक्ति के अन्य पक्षों से हटकर नहीं बनाया जा सकता। (कात्यायनी 25)

2.6. स्त्री विमर्श और बाजारः-

प्राचीन भारत के वैदिक युग में नारी को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था। सभ्यता के विकास ने उसी श्रद्धा वाली स्त्री को वस्तु के रूप में देखना शुरु किया। पूँजीवादी व्यवस्था ने तो स्त्री के वर्चस्व को ही समाप्त कर पूरी तरह पुरुषों पर आश्रित कर, स्त्री के वर्चस्व को ही नष्ट कर दिया। तकनीकि प्रगति और शिक्षा ने स्त्री को अपनी गरीमा प्राप्त करने के लिए आन्दोलन का रास्ता दिखाया। आज कई क्षेत्रों में स्त्री विमर्श ने स्त्री स्वतंत्रता और स्त्री अधिकारों की बात की है। इसके बावजूद वैश्वीकरण के युग में, उदारवादी बाजार व्यवस्था ने विज्ञापन के जरिए फिर से स्त्री को वस्तु में परिणत कर दिया है। जिसने स्त्री को गंदे कामों की ओर भी ढ़केल दिया है। देवेन्द्र चौबे का कहना है –

> उपभोक्तावादी संस्कृति के बढ़ते दबाव ने उनकी पुरानी महत्ता को समाप्त कर दिया तथा नई बाजार व्यवस्था ने संबंधों को भी नये ढ़ंग से विकसित करने लिए बाध्य कर दिया। इसका सीधा और गहरा असर उन स्त्रियों पर पड़ा जो आर्थिक रूप से कमजोर होने के कारण विषम परिस्थितियों में पड़कर वैश्यावृत्ति के लिए मजबूर हुईं। (चौबे 127)

अतः बाजारवादी व्यवस्था का दुष्परिणाम सबसे अधिक कमजोर स्त्रियों को झेलना पड़ता है।

वर्तमान बाजार व्यवस्था स्त्री के देह को ताम-झाम के साथ इतना सजाकर पेश करता है कि स्त्री को भी यह अहसास हो जाता है कि 'देह ही उसकी पहचान' है। वह देह से बाहर सोच ही नहीं पाती है। वह समझ ही नहीं पाती कि यह भी पुरुष की चाल है कि वह देह तक ही सीमित रहे। राजेन्द्र यादव जी कहते भी है –

> स्त्री अपनी बौद्धिक या अन्य उपलब्धियों के लिए चाहे जितनी हाय तौबा मचाती रहे, पुरुष की जिद है कि साम, दंड, दाम, भेद से वह उसे कमर, कुल्हे, नितम्ब, छातियों से ऊपर नहीं उठने देगा। देह को वह इस धमाके, ग्लैमर और चकाचौंध के साथ पेश करेगा कि हर औरत देह बने रहने को ही अपने होने की एकमात्र सार्थकता मानने को मजबूर हो जाय। (यादव 28)

विज्ञापन, फिल्म, मॉडलिंग, टी. वी. संगीत आदि में स्त्री की चेतना और स्वतंत्रता से अधिक महत्व उसके शरीर का हो गया है। बाजार ने हमारे घरों पर कब्जा जमा लिया है। कुछ स्त्रियाँ इसमें अपनी आजादी देख रही है, सुंदरता का मिथ पाले हुई है। समस्या यही है कि आज उसे अपनी गुलामी का एहसास तक नहीं हो रहा है। इस संदर्भ में डॉ. ज्योति किरण प्रकाश डालते हुए कहती है – ''आज समस्याएँ अधिक जटिल और गंभीर इसलिए है कि

किसी के अधीन होकर भी आजाद होने का भ्रम है, स्त्री होकर भी स्त्रीत्व से दूर है (किरण 77)।'' आजाद होने का यह भ्रम ही बहुत खतरनाक है।

स्त्री विमर्श के 35-40 वर्ष उपरान्त भी यह देखा जा सकता है कि आज भी स्त्री पूरे तरीके से मुक्त नहीं हो पाई है। वैज्ञानिक उन्नति और उत्तर आधुनिक परिवेश ने यह विश्वास दिलाया कि अब स्त्रियाँ मुक्त हो जायेंगी, किन्तु बाजारवादी व्यवस्था ने अपने उत्पादन की बिक्री और उपभोक्ता के मनोरंजन के लिए स्त्री का उपयोग एक हथियार की तरह किया। हर विज्ञापन में स्त्री के अर्धनग्न, नग्न देह के प्रदर्शन द्वारा बाजार ने अपना मुनाफा ही कमाया है। देवेन्द्र चौबे का कहना एकदम ठीक है कि –

> आज विज्ञापनों में जिस तरीके से स्त्री समाज को प्रस्तुत किया जाता है, वह वास्तव में उपभोक्तावादी समाज और उसकी संस्कृति का एक हिस्सा बन गया है। विज्ञापनों की दुनिया में काम करने वाली ये स्त्रियाँ, उस विशिष्ट समाज वर्ग के लिए वस्तु मात्र है तथा इनका उपयोग करना उनके दैनिक जीवन का मात्र एक व्यवहार। (चौबे 128)

इस बाजार को स्त्री के आत्म सम्मान या स्त्री मुक्ति जैसे शब्दों से कोई वास्ता नहीं है। बाजार की चकाचौंध में स्त्री को अपने आप को हाई-फाई समझने का भ्रम पैदा किया है और इसकी आड़ में बाजार ने स्त्री को अपने अनुसार सजाया-सवाँरा है। वह मुक्त नहीं हो पाई है। रमणिका गुप्ता प्रश्न करती है –

> पहली का पथ प्रदर्शक उसका पति या परिवार व समाज था तो आज के युग की विज्ञापन आश्रित आधुनिकता का निर्देशक उसका बाजार है। वह मेहनतकश, स्वावलम्बी, देश और समाज के विकास और पतन के लिए चिंतित, अपने वजूद को निखारने वाली, कंधे से कंधा मिलाकर साथियों के साथ आगे बढ़ने वाली मुक्त, स्वछंद औरत कहाँ है? (गुप्ता 98)

जरूरत तो आज ऐसी ही स्त्रियों की है जो अपनी अस्मिता और पहचान के लिए लड़े। बाजार के सामने खुद को परोसने से बचे।

स्त्री मुक्ति के नाम पर आन्दोलनों ने पितृसत्तात्मक व्यवस्था को कमजोर तो किया है, किन्तु बाजार ने स्त्री सौन्दर्य के नाम पर नया मिथक गढ़ दिया है, जिसकी चपेट में लगभग हर वर्ग की स्त्री है। इसे ज्योति इन शब्दों में कहती हैं- ''ब्यूटी मिथ' ने औरत की आजादी को मोड़कर उसे चेहरे और देह तक सीमित कर दिया। सौन्दर्य और स्मार्टनेस के इस 'मिथ' से स्त्रियों की सोच के केन्द्र में सिर्फ देह रह गई है (ज्योति 76) ।'' वैश्वीकरण के माहौल में जहाँ स्त्रियाँ अपने कई अधिकारों को पाने में सफल हुई हैं, वहीं वह हजारों बिलियन डॉलर के 'डाईटिंग इन्डस्ट्री', 'कॉस्मेटिक इन्डस्ट्री' की गिरफ्त में है, जहाँ वह टी. वी., सिनेमा य़ा

विज्ञापनों में देह की नुमाइश करते हुए सामान बेचने को मजबूर है और उसे यह भ्रम भी है कि यही उसकी मुक्ति है। समरेन्द्र सिंह कहते हैं –

> आज स्त्री अपनी ''देह मात्र में सिमट गई है। उसे लगता है कि उसका शरीर सामाजिक एवं धार्मिक बंधनों से मुक्त हो गया है और वह अपने देह की मलिका स्वयं है। लेकिन शरीर का मालिक तो वह होता है जिसका मस्तिष्क पर नियंत्रण हो। (सिंह 217)

आज हमारे मस्तिष्क पर हमारा नियंत्रण नहीं रह गया है। सब कुछ बाजार तय कर रहा है। स्त्री पर इसका ज्यादा असर पड़ रहा है। स्त्री इस बाजार के चंगुल में पूरी तरह से फँसी हुई है, इससे मुक्ति इतनी आसान नहीं लग रही है। समरेन्द्र सिंह आगे इसी परिप्रेक्ष्य में कहते हैं – ''वह और उसकी देह, दोनों इस व्यवस्था की पकड़ में ठीक उसी तरह है, जिस तरह एक मध्य युगीन स्त्री। मध्य युगीन स्त्री पर पुरुषों का शासन धर्म एवं मर्यादा के नाम पर होता था और आज यह सौन्दर्य के 'नये धर्म' के नाम पर (सिंह 217)।'' नारी की छवि को देह तक सीमित करने में सौन्दर्य प्रतियोगिताओं का प्रमुख हाथ रहा है। ऐसी प्रतियोगिताओं ने स्त्री के अंदर देह के स्तर तक सुन्दर बनने की कामना पैदा किया है। गोरी, सुडोल, छरहरी काया वाली स्त्री की ही माँग होती है, बिना मेक अप और रंग से सावली स्त्रियों के लिए मानो यह संसार तो व्यर्थ ही है। इस बाजार ने स्त्री सौन्दर्य की परिभाषा को ही बदल कर रख दिया है। ऐसे में स्त्री मुक्ति की कामना मृग मरीचिका के पीछे भागना है। विजेन्द्र सिंह चौहान लिखते हैं –

> नारी न केवल अपनी देह और सेक्सुअलिटी के साथ, बल्कि अपनी इर्ष्या और अपनी मुक्ति के इल्यूजन को पाने की उच्चाकांक्षी छवि के साथ बाजार के लिए उपलब्ध है और मीडिया इस छवि को न केवल भुना रहा है, बल्कि इसके द्वारा नारी के लिए ऐसा स्वप्निल संसार तैयार कर रहा है जिसमें वह उस माया मृग का पीछा सदैव करती रहती है जिसका नाम मुक्ति है। (चौहान 24)

आज का बाजार विस्तृत बाजार है। इस बाजार ने स्त्री का अपना बाजार मूल्य निर्धारित कर दिया है। नारी को ऐसे बाजार मूल्य का विरोध करना चाहिए। सुन्दर दिखना जरूरी है, किन्तु इसका कदापि यह अर्थ नहीं है कि सारे मूल्य सुन्दरता पर आकर खत्म हो जाये। आशारानी ब्होरा स्त्रियों से कहती हैं –

> महिला संगठन कर सके तो इतना ही करें कि बहुसंख्यक युवतियों को इतनी सुविधा और इतनी शिक्षा दी जा सके कि वे कम खर्च में भी अपने प्राकृतिक सौन्दर्य को निखार-सुधार सके.....खुलेपन के नाम पर वल्गैरिटी को छूट नहीं दी जा सकती... स्त्री दृढ़ता से इंकार करे कि वह उपभोक्ता के लिए वस्तु नहीं है। (ब्होरा 81-82)

स्त्रियों को अपने वस्तु छवि से बाहर निकलना होगा। खुद को बाजार के लिए समर्पित करने से बचना होगा, तभी स्त्री मुक्ति का सपना साकार हो सकेगा।

2.7. 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में स्त्री विमर्शः

21वीं सदी के दूसरे दशक की कहानियों में एक नया परिवर्तन आया है। स्त्री विमर्श के अंतर्गत आने वाली इन कहानियों में निज अनुभव के वैशिष्ट्य पर अधिक बल दिया गया है। जिस प्रकार आज बाजार तंत्र अधिक सूक्ष्म हो गया है, उसी प्रकार आज की लेखिकाएँ अपनी पीड़ा एवं विद्रोह की भावना को अति सूक्ष्म तरीके से व्यक्त करना सीख गई है। सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ पहले की अपेक्षा अति तीव्र गति से बदली है। कानून के तहत समलैंगिकता और थर्ड जेण्डर के अधिकारों की स्वीकृति मिल चुकी है। अतः आज की कहानी में विद्रोह, त्याग, विश्वास जैसी भावनाओं की अभिव्यक्ति भी बारीक हो गई है। रिश्तों की टकराहट, एकाकीपन के बीच स्त्री अस्मिता की नई पहचान स्थापित करने की कोशिश की जा रही है।

आज की नारी में परिवर्तन का मुख्य पक्ष है कि वह हर क्षेत्र में पुरुष के समकक्ष खड़ी है। वह अपने परम्परागत स्वरूप से बहुत आगे निकल चुकी है। इस संघर्ष में उसे कुलटा, बुरी औरत जैसे विशेषणों से नवाजा भी गया, फिर भी इन चीजों को अनदेखा करते हुए अपनी मुक्ति की लड़ाई लड़ती रही। स्त्री ने अपने को देह भर समझे जाने की मानसिकता से ऊपर उठकर पुरुष व्यवस्था को बाध्य किया है कि स्त्री के देह को नहीं बल्कि मानवीय गुणों को स्वीकार किया जाय़। इसे ही लक्षित कर तस्लीमा नसरीन लिखती हैं – ''जिस दिन यह समाज स्त्री-शरीर का नहीं – शरीर के अंग-प्रत्यंग को नहीं। स्त्री की मेधा और श्रम का मूल्य सीख जायेगा सिर्फ उस दिन स्त्री मनुष्य के रूप में स्वीकृत होगी (नसरीन 168)।'' अतः 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में व्यक्त स्त्री विमर्श की अभिव्यक्ति को हम निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर समझ सकते हैं –

2.7.1. स्त्री-पुरुष संबंधों के बिखराव की अभिव्यक्तिः

वैवाहिक जीवन की सफलता स्वस्थ स्त्री-पुरुष संबंध पर आधारित होता है। पितृसत्तात्मक समाज ने स्त्री के मन को कभी अहमियत ही नहीं दी। स्त्री-पुरुष संबंध केवल बिस्तर तक सीमित संबंध नहीं है। स्त्री यह चाहती है कि उसे भी अन्य लोगों की तरह मानव समझा जाय। वह केवल भोग की वस्तु नहीं है। उसे भी सम्मान चाहिए। किन्तु पुरुष के अहं ने संबंधों में बिखराव की स्थिति पैदा की है। निरूपमा हर्षवर्द्धन अपनी कहानी 'यवनिका के पीछे' में दिखाते हैं कि किसप्रकार स्त्री-पुरुष संबंध महज नाम का संबंध रह गया है। विवाह की उपयोगिता यहाँ खत्म हो गई है। कहानी में सोनिया अपने गृहस्थ जीवन के बारे में अपनी सहेलियों से कहती है –

> आज भी हम घर में दो अजनबियों की तरह होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे जीवन का कोई स्पंदन मुझमें है ही नहीं। एक दिन भी मेरे जीवन में ऐसा नहीं आया जब मेरे पति की सहानुभूति और प्यार ने मुझे भिगोया हो। पति के बाँहों का घेरा कितना सुखद, कितना सुरक्षित होता है, ऐसा कोई अहसास मुझे छू तक नहीं गया। कितनी बार मेरा मन होता है कि मैं भी पति के प्यार में इठलाऊं, सज-सवँर कर बलखाऊ..नई उम्र और नई-नई शादी... कैसी-कैसी कल्पनाओं ने उड़ान भरी थी...लेकिन उन्होंने मेरी ओर प्यार से कभी देखा ही नहीं। (हर्षवर्द्धन 39-43)

आज के मध्यवर्गीय समाज में सोनिया जैसी स्थिति में न जाने कितनी स्त्रियाँ होगी जो इसी प्रकार अपनी शादी शुदा जिन्दगी घुट-घुट कर व्यतीत कर रही होंगी। कहानी में सोनिया खुद कहती भी है –

> पता नहीं मेरे जैसी कितनी ही स्त्रियाँ अपना वैवाहिक जीवन ऐसे घुट-घुट कर निकाल देती होंगी। पति के नाम पर जीती-जागती यह मूरत आज तक मेरे पल्लू से बंधी है जिसने पत्नी के रूप में कोई सम्मान मुझे नहीं दिया। घर हो या बाहर एक-एक करके मेरी बातों को ऐसे खारिज कर देते हैं जैसे मैं कुछ हूँ ही नहीं। (हर्षवर्द्धन 39-43)

पुरुष द्वारा स्त्री के अस्तित्व को नकारना कहानी में स्त्री-पुरुष संबंधों के बिखराव का मुख्य कारण बनता है। सुधा अरोड़ा की कहानी 'भागमती पंडाईन का उपवास यानी करवा चौथ पर भरवाँ करैले' कहानी में भी भागमति यह जानते हुए भी कि उसके पति और सुमेधा के बीच चक्कर है, वह कुछ कर नहीं पाती है। उनके बीच पति-पत्नी वाला रिश्ता केवल नाम के लिए था। वह कहती है –

> अब दोनों के संबंध इस मुकाम पर पहुँच चुके थे कि एक ही बिस्तर पर दोनों एक दूसरे की ओर पीठ फेर कर सोते। एक दूसरे की ओर मुँह करके सोना तो एक इतिहास हो चुका था और चूमना तो चाँद की यात्रा की तरह दुर्लभ क्योंकि चंद्रयान कहीं था ही नहीं। (अरोड़ा 52-57)

आखिर पति-पत्नी के बीच संबंधों के विखराव के कारणों को देखा जाए तो पुरुष और स्त्री दोनों का अहम बोध दिखाई देता है। 'मधु कांकड़िया' की कहानी 'सहेली' में तवलीन के मनचाहा पति न मिलने का गम है। उसे पति द्वारा चुटकी बजाकर चाय मंगवाना पसंद नहीं। सुहाग रात में पति द्वारा उसके साथ जानवरों जैसा संभोग करना, यह सोचने के लिए मजबूर करता है कि वह पति के लिए बस देह है, वहाँ प्यार की छींटे तक नहीं है। वह कहती है – ''सुहागरात में भी जो बन्दा कमरे में घूसते ही, बिना एक शब्द, एक स्पर्श और एक निगाह डाले, कुँवारे स्वपनों को बलात्कार कर डाले वह लवएबल मैटीरियल तो हो ही नहीं सकता (कांकड़िया 122)।'' इन दोनों के बीच स्त्री- पुरुष संबंध केवल देह तक ही

सीमित है, प्रेम की कोई गुंजाइस ही नहीं। तभी तो तवलीन भी कहती है – ''दरअसल यह उस मैट्रिक फेल की कुंठा है जो उससे यह सब करवाती है, और सच कहूँ तो मेरे लिए भी वह सिर्फ एक देह ही है (तवलीन 121,128)।'' मालती जोशी की कहानी 'दरका हुआ दर्पण और खण्डित छवियाँ' में भी स्त्री पुरुष संबंध के औपचारिक बन जाने के दंश को दिखाया गया है। कहानी में मि. कुमार को अपनी प्रेग्नेन्ट वाईफ के सुखों का कोई ख्याल तक नहीं है। मिसेज कुमार भी ऐसे माहौल में अपने बच्चे को जन्म नहीं देना चाहती। वह कहती है – ''मैं उसे ऐसे वातावरण में जन्म देना चाहती हूँ जहाँ उसका प्रेम से स्वागत हो (जोशी 30)।'' उसे अपने और बच्चे के बीच पति की दखलअंदाजी पसंद नहीं, चाहे उसे पति से बिछड़ना ही क्यों न पड़े। वह अपने पति से कहती भी है – ''इसके बावजूद आपको कोई असुविधा हो तो बता दीजिए। मैं बिना शर्त आपको आजाद कर दूँगी। बस एक विनती है। इस बार जिस केयरटेकर को आप घर में लायेंगे उसे पहले से समझा दें (जोशी 20-30)।'' पुरुष के लिए पत्नी केयरटेकर बनी रहे यह आज के परिप्रेक्ष्य में उचित नहीं जान पड़ता। स्त्री को भी समान अधिकार और सम्मान की जरूरत है और जब तक सम्मान नहीं मिलता मिसेज कुमार जैसी स्त्रियाँ होंगी ही।

आज स्त्री-पुरुष में अहं मुख्य हो गया है। यह अहं ही है जो छोटी-छोटी बातों में स्त्री-पुरुष के बीच बिखराव उत्पन्न करता है। स्त्री-पुरुष दोनों कामगार होने पर तो यह अहं और अधिक परवान चढ़ता है। 'ऊँट पहाड़ के नीचे' कहानी में सुगन्धा बिना तलाक लिए अपने पति से सात सालों से अलग रह रही है, क्योंकि एक बार उसके पति ने उसपर चाँटा रसीद कर दिया था। सुगन्धा ने कहा भी था- ''आखिर दिखा दी न तुमने अपनी मर्दानगी?.. तुम पुरुषों के पास औरत को वश में करने का एकमात्र यही हथियार होता है।... मैं एक पल भी इस घर में नहीं रहूँगी (मनोहरा 66)।'' घटना बस इतनी थी कि सुबह-सुबह दोनों अपने तैयारियों में व्यस्त थे ओर प्रमोद ने सुगन्धा को बुशर्ट में टूटे बटन को टाँकने की बात कही थी, जिसका जवाब सुगन्धा ने यह कहकर दिया था – ''तुम मर्दों ने समझ क्या रखा है, औरत को पैरों की जूती। जब चाहे पहन ली, जब चाहे उतार ली। मगर मैं वह औरत नहीं हूँ जो तुम्हारे इशारों पर कठपुतली की तरह नाचती रहूँ, मैं भी कमा रहीं हूँ किसी की दबैल बनकर नहीं रहूँगी (मनोहरा 66)।'' यह स्त्री-पुरुष दोनों का अहं ही है कि दोनों इतना मुँहफट हो गए है। जब तक दोनों अपने अहं का विनाश नहीं करेंगे, तब तक संबंधों में एकनिष्ठता नहीं आयेगी। पति के बुशर्ट का बटन टाँकने की घटना को इतना अहं में नहीं लेना चाहिए कि मानो पत्नी को कठपुतली ही बना दिया जाय। स्त्री कठपुतली नहीं है, किन्तु पति के प्रति कर्तव्य भी तो होना चाहिए। अतः हर काम में एकदूसरे का साथ देना ही स्त्री-पुरुष का लक्ष्य होना चाहिए। कहानी में नौकरानी लक्ष्मी कहती है – ''मेम साब, बाबूजी ठीक केवे है! ई त झूकी गया है, आप भी झूक जावे न। दोनों ही साथ-साथ रहें

ताकि मुहल्ले वालों का मुँह बंद कर सको (मनोहरा 67)।'' आज स्त्री-पुरुष संबंधों में यही सामंजस्य नहीं बैठ रहा है।

एक ओर जहाँ पुरुषों के अत्याचारों के कारण स्त्रियों की दुर्दशा हुई है, जिससे स्त्री पुरुष संबंधों में बिखराव उत्पन्न होता है, वहीं दूसरी ओर अपने पैरों पर खड़ी स्त्रियाँ आधुनिकता की लालसा लिए जब उन्मुक्त होकर सारे रिश्तों की तिलांजलि देकर जिन्दगी जीना चाहती है, तब पुरुष उसके लिए बोझ लगने लगता है और संबंधों में टकराव, उब और बिखराव का जन्म होता है। उर्मिला शिरिष की कहानी 'एक और प्रतिज्ञा' स्त्री-पुरुष संबंध के बिखराव को बयाँ करती है। कहानी में मानसी अपने पति सोमेश से यह समझौता करती है कि सोमेश कभी भी मानसी के निजी मामलों में दखल अंदाजी नहीं करेगा। मानसी की प्रवृत्ति स्वाधीन रहने की थी। वह बस परिस्थितिवश सोमेश के साथ बाँध दी गई थी। उसके हृदय में सोमेश के लिए प्रेम था ही नहीं। शहर में आने के बाद वह और भी उच्श्रृंख्ल हो गई थी। वह अपनी मर्जी की मालिक थी। रात-रात भर पार्टी करती, पुरुष दोस्तों के साथ मजे करती। मानसी के लिए शादी का कोई महत्व ही नहीं था। - ''शादी शुदा होने का ठप्पा उसपर लगा हुआ था। हालाकि उस शादी को न वह मानती थी और न ही महत्व देती थी, सो वह बिंदास जीवन की राहों पर महिला मित्रों के साथ-साथ पुरुष मित्रों के साथ दौड़ रही थी।'' (शिरिष,www.hindisamay.com) वह अपने पति को छोड़कर अन्य पुरुष के चक्कर में थी। वह सोमेश को घर से बाहर निकाल भी देती है। वह आजाद तो थी किन्तु उस पर पैसे और प्रसिद्धि का नशा था। यहाँ स्त्री के उच्श्रृंख्लता ने संबंध को नष्ट किया तो उधर 'सुशिला टाकभोरे' की कहानी 'शैला' में पति के अत्याचार ने इस संबंध के बीच बिष बोया। 'शैला' कहानी में शैला का पति उसे अपमानित करने में पीछे नहीं हटता। पति के थप्पड़ मारने पर वह झेंप जाती है, उसके पति पर पुरुष होने का दंभ हावी है। वह कहता है – ''तू समझायेगी मुझे घर गृहस्थी की बातें? तेरे करने से सब होता है? फिर कभी बकवास मत करना समझी? घर में जो भी होता है, सब मेरे करने से होता है। आगे भी जो होगा, सब मेरे दम पर होगा। समझी?'' सतवीर का फोन आने पर उसका पति उसपर शक करता है। उसकी बातें छुपकर सुनता है। उसे ताने देता है। वह चाहता है शैला उसकी जागीर है और वह उसके अनुसार चले। वह पति है तो शैला पर उसका अधिकार है। आज की जागरूक स्त्रियाँ पति रूपी पुरुष के बंधन का विरोध करती है। शैला जानती है कि – ''समाज में स्त्रियों को ऐसी स्वतंत्रता नहीं है। शिक्षित, स्वावलंबी, सबल, आन्दोलनकारी होने पर भी, पत्नी पर पति पूर्ण अधिकार और नियंत्रण मानता है।'' (हंस, मार्च, 2016)

स्त्री-पुरुष संबंधों में कटुता होने पर जीवन नीरस हो जाता है। पूर्ण पुरुष या पूर्ण स्त्री की कामना हर किसी को होती है, यह सच्चाई जानते हुए कि कोई पूर्ण नहीं होता है। यह कटुता ज्यादातर उम्र के ढ़लते पड़ाव में उत्पन्न होती है। वृद्धावस्था अकेले नहीं गुजारी जा

सकती। ऐसे समय में एक- दूसरे की जरूरत अवश्यम्भावी हो जाती है। सुरेन्द्र अंचल की 'अंधेरे आपस में' कहानी में मंजुला और राजेश एक दूसरे के प्रति वफादारी दिखाते हुए भी दोनों एक दूसरे को धोखा दे रहे हैं। दोनों का घर से बाहर चक्कर चल रहा है। मंजुला कभी तो यह सोचती भी है – ''यह सब क्या है? क्यों है? क्या मैं उसे धोखा दे रही हूँ? ऐसा ही तो कुछ है। कब तक राजेश को अंधेरे में भटकाऊंगी? यदि राजेश को मालूम हो गया तो! (अंचल 80)।'' उधर राजेश भी मंजुला को प्यार और विश्वास भरी बातें कहता है – ''मंजु! तू तो अब मेरे जीवन में घुल गई है। तुझ पर संदेह कैसा। और जिस दिन् संदेह का बिष-बीज इस घर में अंकुर लेगा तो फिर यह घर, घर नहीं रह जायेगा (अंचल 80)।'' किन्तु, राजेश भी मंजुला को धोखा दे रहा था और वह शीला के चक्कर में था। यह कैसा दौर है जहाँ स्त्री-पुरुष संबंध अपने आपस के अंधेरे में ही घिरी जा रही है।

2.7.2. स्त्री-पुरुष संबंधों में प्रेम की अभिव्यक्तिः-

प्रेम एक भावना है जो किसी भी उम्र में किसी के भी साथ हो सकता है। किन्तु इस प्रेम पर समाज का नियंत्रण रहता है। हम किससे प्रेम करें और किससे नहीं यह समाज निर्णय लेना चाहता है। इसी आधार पर प्रेम की सामाजिकता और असमाजिकता निर्धारित की जाती है। 'सुषमा मुनिन्द्र' की कहानी 'विजेता' में एक स्त्री द्वारा दो पुरुषों के साथ एक ही समय में किए जाने वाले प्रेम की बात कही गई है। हालाकि हमारे समाज में एक विवाहित स्त्री द्वारा अन्य पुरुष से प्रेम करना अनैतिक माना जाता है। कहानी की नायिका अम्बिका का प्रेम भावात्मक है, शारीरिक नहीं। वह समाज के नैतिकता पर सवाल करती है-

> क्या एक स्त्री दो पुरुष को समभाव से प्रेम नहीं कर सकती? संतानों, माता-पिता को समान रूप से प्रेम कर सकती है तो एक से अधिक पुरुषों से प्रेम क्यों नहीं कर सकती? यह असमाजिक हो सकता है पर अस्वाभाविक क्यों? अव्यवहारिक हो सकता है, पर अप्राकृतिक क्यों? (मुनिन्द्र, www.hindisamay.com)

अक्सर स्त्री य़ा पुरुष अपने प्रेम से असंतुष्ट हो या अतृप्त हो तो वह दूसरे प्रेम की तलाश करता है, किन्तु अम्बिका न तो अपने पति से असंतुष्ट है और न ही अतृप्त। फिर भी उसे डॉ. व्यास का छूना अच्छा लगता है। एक आकर्षण से वह डॉ. व्यास की ओर खींची जाती है। वह दोनों पुरुषों से एक समान प्यार करती है। वह कहती है-

> तुम समझ सकते हो, प्रेम कोई प्रतिशत नहीं है जो एक ओर बढ़े तो दूसरी ओर घट जाय। प्रेम एक भावना है जिसे सौ की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है और न ही विभाजित किया जा सकता है। इसे कोई विशेष प्रतिस्पर्द्धा भी मत समझों क्योंकि तुम दोनों में तुलना नहीं हो सकती। (मुनिन्द्रwww.hindisamay.com)

दो पुरुषों को समभाव से प्रेम करना कहाँ तक वास्तविक ठहर सकता है? यह सोचने की बात है। अम्बिका ने कभी यह नहीं सोचा कि केशव को पता चलेगा तो वह क्या सोचेगा? क्या उसके नजर में भी प्रेम की यही परिभाषा है। अम्बिका सहज स्वीकार करती है कि – ''एक साथ दो पुरुषों से प्रेम करते हुए मुझे असहज और विचित्र कुछ भी नहीं लग रहा है।'' (मुनिन्द्र, www.hindisamay.com)उसे यह जानकर की डॉ. व्यास के अन्दर भी उसके प्रति भावनाएँ है। वह खुद को विजेता महसूस करती है। तो क्या यह प्रेम पुरुष के अंदर प्रेम की भावना जगाकर विजेता बनने का है। विजेता का भाव आते ही वह अपने पति को खूब प्यार करने लगती है। उसे तो बस इस बात की खुशी है कि डॉ. व्यास के मन में भी उसके प्रति प्रेम की भावना है। वह कहती है –

> खुशी का प्रभाव इतना घनिभूत है कि उसकी कनपटियाँ तपने लगी। सारी कामनाएँ पूर्ण हुई। जो चाहा सिद्ध हुआ। वह सफल है, विजेता है। ठीक है डॉ. व्यास। हमारे सामने समाज और सामाजिक संबंध खड़े है, पर मैं आपसे भावात्मक संबंध तो रख ही सकती हूँ।(मुनिन्द्र, www.hindisamay.com)

'वंदना राग' ने भी अपनी कहानी 'नमक' में एक पुरुष के मन में विवाह के उपरान्त एक अन्य स्त्री के प्रति उत्पन्न प्रेम को दिखाई हैं। कहानी में माथुर अपनी पत्नी से बहुत प्यार करता है, फिर भी एक पार्टी में तान्या से मुलाकात होने के बाद वह उसकी ओर आकर्षित होने लगता है। तान्या उसके घर आने लगती है और फिर वह पारिवारिक मित्र भी बन जाती है। माथुर तान्या के प्रेम में डूबता जा रहा था। वह महसूस करता है – ''उसका आकर्षण पहले तो शगल में बदला, अब गाढ़े-गाढ़े द्रव्य सा रक्त में एक न बदलने वाली आदत के रूप में जमने लगा था।'' (राग, www.hindisamay.com) विवाहेत्तर प्रेम संबंध को समाज में मान्यता नहीं मिली है। तान्या के दिल्ली चले जाने पर माथुर खुद को संभाल कर पहले की तरह बनना चाहता है। वह निर्णय लेता है – ''उसने तय किया, वह अतुल और तान्या से अब आगे कोई संपर्क नहीं रखेगा। वह दुबारा वही शक्तिशाली पुरुष बनकर जिएगा, व्यवस्थित और अपने आप में पूरा.. जैसा वह तान्या से मिलने के पहले था।'' (राग, www.hindisamay.com) माथुर अपने आप पर नियंत्रण रखता है और चाह कर भी वह तान्या से मिलने नहीं जाता है। दिल्ली जाने पर वह तान्या को फोन भी करता है पर तान्या के चाहने पर भी वह उससे मिलने नहीं जाता है। -

> उसने अपने अंदर की व्यवस्था को दुरस्त रखा था, उसने कहीं कोई समझौता नहीं किया था। खाशा मुश्किल काम था यह। उसने आराम से सामान समेट, एक सिगरेट सुलगाई और राख को ऐशट्रे में झाड़ते हुए अपने को शाबासी देने लगा, 'वह फिर बच निकला था।(राग, www.hindisamay.com)

स्त्री के प्रेम को पितृसत्तात्मक समाज ने कभी अहमियत ही नहीं दी। शादी से पहले स्त्री से उसकी पसंद-नापसंद पूछना आज भी महत्वपूर्ण नहीं माना जाता। प्रेम एक अहसास है। इस प्रेम को जयश्री अपनी कहानी में स्त्री के लिए दुख का कारण समझती है। उनकी कहानी 'मोहे रंग दो लाल' में चिन्मयी कहती भी है –

> एक स्त्री के जीवन में प्रेम के नाम पर तो बहुत कुछ आता है उमा। मगर प्रेम शायद ही आता है..हाँ मर्द अपने हर लोभ, भूख को प्रेम का नाम जरुर देता है। दरअसल प्रेम शब्द एक स्त्री के जीवन की सबसे बड़ी छलना और विडम्बना है... दुःख का कारण भी। (राय, www.hindisamay.com)

किन्तु 'नीलाक्षी सिंह' की कहानी 'रंगमहल में नाची राधा' में एक स्त्री अपने जीवन के अंतिम पड़ाव में सारी जिम्मेदारी निभाने के बाद अपने अधूरे प्रेम को पाना चाहती है। वह अपने प्रेमी के पास जाना चाहती है। कहानी में दीवानबाई दादी बन चुकी है, किन्तु उसे याद है उसकी शादी उसकी मर्जी के खिलाफं हुई थी। शादी से पहले वह किसी को प्रेम करती थी। उसने अपने पति के जीवन को संभाला। हर संबंधों को माना। उसने नैतिकता की हद कभी पार नहीं की। किन्तु, आज वह अपने प्रेम को पाना चाहती है। इस प्रेम में केवल भावना है, शरीर लेस मात्र भी नहीं। उसने अपने सामने ही अपने प्रेमी को विदूर होते और जीवन के इस पड़ाव में अकेले जीवन जीते देखा है। वह चिंतित होती है। - ''दीवानबाई के ऊपर एक ठंडी परत चढ़ गई और ठीक उसी वक्त उसने महसूस किया कि उसके भीतर नादानी वाली उमर की वही तपिश अभी तक बाकी थी, जिसे मायके की दहलीज पर चुनवा आई थी वह बरसों पहले.. कभी।'' (सिंह, www.hindisamay.com) अपने प्रेमी के खाने-पीने की चिंता करते हुए वह कभी मातृत्व में तो कभी वात्सल्य में घुल मिल जाती थी। वह यह भी जानती है कि उसके इन भावनाओं का कोई महत्व नहीं है। वह कहती है- ''हर औरत के मन के एक कोने में कोई रंगमहल होता है और हर औरत के मन में एक राधा होती है। दीवानबाई ने आँखें कस कर मूँद ली।'' (सिंह, www.hindisamay.com) वह निर्णय लेती है कि वह अब अपने प्रेमी का ख्याल रखेगी। वह अपने पति से बताती है- ''शादी से पहले किसी और के साथ मेरे संबंध थे और मैं उसके पास जाना चाहती हूँ।'' (सिंह, www.hindisamay.com) किन्तु, उसे अपने पति से मार मिलती है। वह सोचती है औरत के प्रेम की यही दशा है। इतने सालों तक उसने हर कर्तव्य का पालन किया। आज वह अपने मन की करना चाहती है तो उसे पति का दुर्व्यवहार देखना पड़ रहा है। वह सब कुछ छोड़कर बाहर निकल जाती है। - ''उसने घर के मुख्य दरवाजे की सांकल हटाई। बाहर घुप्प अंधेरा। बारिस तेज हवा, वह नीम बेहोसी में चल रही थी। पता सीधा-साधा, मायके के तीन घर बाद। दीवानबाई ने अपनी नई मंजिल के दर पर सर झुका दिया। वह एक बंद दरवाजे के आगे निढाल हो गई।'' (सिंह,

www.hindisamay.com) दीवानबाई को अहसास हुआ कि नई मंजिल का फैसला जो भी हो, एक बात की खुशी है कि आज उसकी ही नहीं उसके सास को भी मुक्ति मिल गई।

स्त्री विमर्श के नाम पर भावात्मक प्रेम ही नहीं शारीरिक प्रेम की भी अभिव्यंजना हुई है। स्त्री मुक्ति मानो कुछ महिलाओं के लिए जैसे उन्मुक्त होकर कई पुरुषों से प्रेम करने की छूट का अधिकार हो। यहाँ नैतिकता नाम की कोई चीज है ही नहीं। 'गीताश्री' की कहानी 'फ्रीबर्ड' ऐसे ही उच्श्रृंख्ल नारी कलावती की कहानी है। कलावती के लिए स्त्री शोषण से मुक्ति का अर्थ अपने स्वार्थ सिद्धी के लिए कई पुरुषों से संबंध बनाने तक सीमित होकर रह गया है। कलावती सीधे तौर पर कहती है – ''मै, अब किसी एक के साथ बँधकर अपने जीवन और कैरियर के सारे अवसर गँवाना नहीं चाहती। तू..तू.. जानती है.. मैं मुक्त हूँ।'' (गीताश्री, www.hindisamay.com) कलावती विवाहित होने के बावजूद अपने स्वार्थ के लिए कपड़े के समान पुरुष बदलती है। जब स्वार्थ की सिद्धी हो जाती है तो बड़ी आसानी से ब्रेक अप कर लेती है। उसकी नजर में – ''हर रिश्ते की एक एक्सपायरी डेट होती है। डेट खत्म.. रिश्ता खत्म... बनते समय ही उसके खत्म होने की डेट तय हो जाती है।'' (गीताश्री, www.hindisamay.com) वह अपने घर पर पोटा केबिन बनवाने का परमिशन निकलवाने के लिए कोहली को अपने प्रेम में फाँसती है। काम खत्म होते ही उससे अलग भी हो जाती है। उसकी नजर में आजादी का यही अर्थ है। वह कहती है –''जो स्त्री अपनी हिफाजत और सुविधा के लिए अपनी आजादी से समझौता करती है, वह न आजाद रह पाती है ना महफूज...मैं इस गति को प्राप्त नहीं होना चाहती।'' (गीताश्री, www.hindisamay.com) अब कलावती के जीवन में एक नया पुरुष आ चुका है जो विधायक है। वह विधायक के प्रेम में पड़ी हुई है। कहानी में – ''ड्राइविंग सीट पर बैठते हुए मैनें देखा – लाल बत्ती वाली सफेद एंबेसडर कार रुकी, वो उतरे और कला जी चहकती हुई उनसे जा लिपटी। गेट बंद हो चुका था। कोहली मेरे दिमाग में घूमने लगा। ओह तो यह मामला है....नेता जी इस इलाके के विधायक है।'' (गीताश्री, www.hindisamay.com) अरनी रोबट्र्स की'फर्क' कहानी में ऐसे ही उच्श्रृंख्ल नारी जो प्रेम का अर्थ कीमती गिफ्ट पाना और ऐश करना मानती है, उसे समझाते हुए उसकी दोस्त उर्मिला कहती है – ''संध्या, मैं प्रेम संबंध को सार्वजनिक बनाने के पक्ष में नहीं हूँ। ये संबंध बहुत व्यक्तिगत होते हैं। बहुत सोच-समझकर जीवन साथी का चुनाव करना होता है, जिसका आधार होता है विश्वास (रोबट्र्स 51)।'' इसके बावजूद उर्मिला की दोस्त नहीं समझती है और उसे बाद में पछताना पड़ता है। ऐसी घटनाएँ आज हमारे समाज में स्त्रियों के साथ रोज घटित हो रही है, कई बार धोखा खाई स्त्री आत्महत्या का रास्ता चुन रही है।

2.7.3. स्त्री उत्पीड़न की अभिव्यक्तिः-

21वीं सदी के दूसरे दशक की कहानियों में भी स्त्री उत्पीड़न की अभिव्यक्ति कई रूपों में की गई है। आधुनिक शिक्षा और तकनीकि ने स्त्री के जीवन में बहुत बदलाव तो लाया, किन्तु वह आज भी कई रुपों में उत्पीड़न का शिकार होते आई है। आज के दौर में 'वंदना गुप्ता' अपनी कहानी 'वह होती तो..' में स्त्री की उपेक्षा पर लिखती है – ''स्त्री, शब्द ही काफी है खुद को व्यकत करने को, पीड़ा और सहनशीलता की मिसाल सामने आ जाती है और हम ढूंढने लगते हैं उसमें असीम संभावनाएँ बिना जाने वो क्या चाहती है (गुप्ता 56)।'' कहानी में सरला को एक विवाहित पुरुष जो बाल बच्चों वाला है, के साथ विवाह के बंधन में बाँध दिया जाता है। वह सब कुछ अपना लेती है, इसके बावजूद उसे सौतेली माँ होने का ताना सुनना पड़ता है। उसके घर में सभी उसके पति को भड़काते हैं। बड़ा होकर बेटा भी हाथ से निकल जाता है और पति की मृत्यु के बाद तो वह अभिशप्त सा जीवन जीने के लिए विवश हो जाती है। यह उसका एकाकीपन है जहाँ वह पल-पल मर रही है। -

> अकेली इतने बड़े घर में जहाँ बोलने को मेरे सिवा कोई नहीं, जहाँ सुनने को मेरे सिवा कोई नहीं, जहाँ रहने को मेरे सिवा कोई नहीं। शायद तुम्हें भी नहीं पता था कि एक ऐसा दिन भी जिन्दगी में आ सकता है लेकिन ये आज का सच है कि आज मैं दिन के चौबीस घंटों में एक-एक पल में जाने कितनी मौत मरती हूँ। (गुप्ता 63)

'डॉ.लता शर्मा' की कहानी 'आधी तीयल' में भी परिवार के लिए सब कुछ करने वाली डॉ. सुशीला के बारे में कोई सोचता नहीं है। काका-सा की बेटी के ब्याह में भी सब कुछ उसे ही देखना पड़ता है। अपने ही घर में परायेपन सा व्यवहार होता है। घर के किसी भी मामले में उससे राय नहीं ली जाती। उसके द्वारा खानदानी हार पहन लेने पर घर पर सबको इर्ष्या होने लगती है। 'वंदना गुप्ता' की ही 'कातिल कौन' कहानी में एक स्त्री को औरत होने की सजा अपनी जान गवाँकर चुकानी पड़ती है। पति और सास के अत्याचारों को वह अपने बच्चे के लिए सह लेती है। उसका पति हर रात किसी और औरत के साथ सोता, और उसे सब सहना पड़ता। अपनी निजी जरूरत के लिए उसे अपने पति के सामने हाथ फैलाना पड़ता है। इसके लिए उसे पति से मार भी खानी पड़ती है। उसका पति कहता है –''देखो शालिनी, मैं उन मर्दों में से नहीं हूँ जो बीवियों के पेटीकोट में छुपे रहते हैं। तुम इतना जान लो तुम्हारा अधिकार यहाँ सिर्फ इतना है कि तुम इस घर की बहु हो। इससे अधिक तुम्हारी इस घर में कोई हैसियत नहीं और न ही अधिकार। आई बात समझ में (गुप्ता 131)।'' एक स्त्री को अपना कोई नहीं होता है। पिता और भाई भी उसे ही दोष देते है। वह कहाँ जाय, क्या करें? संसार में वह बिल्कुल अकेली है। आखिर एक दिन वह मार खाकर ही मर जाती है। अदालत में शालिनी की दोस्त निशा स्त्री की वास्तविक बात रखती है –

> उसका कातिल सिर्फ सोमेश या उसकी माँ ही नहीं, बल्कि हम, आप और ये समाज है जिसकी कुंठित सोच का शिकार शालिनी हुई है। अब उसे आत्महत्या कहो या

हत्या, कोई फर्क नहीं पड़ेगा। शालिनी मरती रही है, और मरती ही रहेगी। तब तक, जब तक संसार की आखिरी औरत तक को उसकी खुद की पहचान नहीं मिलेगी। उसके अस्तित्व को सहर्ष नहीं स्वीकारा जायेगा। आपका और हमारा संघर्ष चलता रहेगा। (गुप्ता 136)

'अन्नपूर्णा की आखिरी चिट्ठी' नामक कहानी में भी एक स्त्री के उत्पीड़न और कुंठा को व्यक्त किया गया है। कहानी में वह अन्नपूर्णा जो अपने गाँव में केचुँए को बचपन में नमक डाल कर मार देती थी, आज मुम्बई के फ्लैट में इतनी अकेली है कि यही केचुँआ मानो उसका मित्र है। उसकी सास द्वारा गरम पानी डाल कर केचुंआ को मार डालना उसे ऐसा लगा मानो गरम पानी उस पर डाला गया हो। वह कहती भी है- ''सच मानो बाबा, मेरे पूरे शरीर पर जैसे फफोले पड़ गये थे, जैसे खौलता हुआ पानी उन पर नहीं, मुझ पर डाला गया हो। वे सब फौरन मर गये, एक भी नहीं बचा। लेकिन मैं जिंदा रही (अरोड़ा 132)।'' अन्नपूर्णा द्वारा दो बोटियों को जन्म देने पर वह सास के लिए कपाल कुंडला बन जाती है। वह सास की कटुक्तियों को लिखते हुए कहती है – ''इन लक्ष्मी-सरस्वती के साथ मुझे बाँध कर तुम तो बाँकुड़ा के बाँसपुकुर लौट गई, मुझे बार-बार यही सुनना पड़ा- एक कपाल कुंडला को अस्पताल भेजा था, दो और को साथ ले आई (अरोड़ा 134)।'' हमारे समाज में आज भी बेटियों के जन्म पर इसी तरह स्त्री का शोषण किया जाता रहा है। अन्नपूर्णा अपनी तरह अपनी बेटियों की जिन्दगी नरक नहीं बनाना चाहती, इसलिए वह अपने पिता से कहती है –''इन दोनों को अपने पास ले जा सको तो ले जाना। बाबला और बोउदी इन्हें अपना ले। बस, इतना चाहती हूँ कि बड़े होने पर ये दोनों अगर आसमान को छूना चाहे तो यह जानते हुए भी कि वे आसमान को कभी छू नहीं पायेंगी, इन्हें रोकना मत (अरोड़ा 134)।'' अन्नपूर्णा जीवन से त्रस्त होकर आत्म हत्या कर लेती है। अन्नपूर्णा जैसी न जाने कितना स्त्रियाँ उत्पीड़न से त्रस्त होकर रोज आत्म हत्या की ओर ढकेली जाती होंगी।

स्त्री किसी भी देश की हो, उसके शोषण के लिए इतना ही प्रयाप्त है कि वह स्त्री है। स्त्री शोषण का आधार संसार का हर धर्म ग्रंथ रहा है। जातिवाद और स्त्री विरोधी धारणा लगभग हर देश में देखी जाती है। 'नास्तिक कुनबा' कहानी में जातिवाद के नाम पर स्त्री शोषण का विरोध करने पर एक स्त्री को इसकी कीमत चुकानी पड़ती है। उस स्त्री ने तो बस फादर के उस शोषण का विरोध किया था जहाँ एक दलित स्त्री द्वारा इशु मसीह की प्रतिमा और मोमबत्ती को पोंछ देने पर उसे भूखा रखा गया था। सोसम्मा की बहन कहती है – ''लो भला दलित तो दलित ही रहेगा, इसाई हो जाने पर क्या फर्क पड़ता है (जहीर 41)।'' सोसम्मा फादर का विरोध करती है और चर्च जाना छोड़ देती है। तभी से उस पर फादर द्वारा कई प्रकार से मानसिक अत्याचार किया जाता है और उसे धर्म की दुहाई देकर प्रभु के शरण में लौट आने की चेतावनी दिया जाता हैं। उसे समुदाय से निकाल दिया जाता है। उसे डायन कहकर पीटा जाता है। इतना ही नहीं उसके मारे जाने पर उसके लाश को

म्यूनिसिपलिटी को सौंप दिया जाता है। सोसम्मा द्वारा उपकृत आर्य सबके विरोध के बावजूद फ्यूनल में शामिल होती है। वह कहती है – ''सोसम्मा ने जाना कि प्रभु को मानने वाले कितने जातिवादी और स्त्री विरोधी होते हैं। मैं यह भी समझ रही हूँ कि आस्थावान कितने एहसान फरामोश है। नेक इंसानों का किया गया उपकार प्रभु का दया मानकर गटक जाते हैं, लेकिन मैं ऐसी नहीं हूँ (जहीर 44)।'' आर्य ऐसे गिरजे का विरोध करती है जहाँ इंसान के लिए जगह नहीं है। स्त्री को पिता पराया धन समझते हैं और कहा जाता है कि शादी के बाद पति का घर ही उसका अपना घर होता है, किन्तु पति के न रहने पर वह घर भी उसके लिए पराया बन जाता है। स्त्री का अपना कोई नहीं। समाज का ढ़ाँचा ही पितृसत्तात्मक समाज ने ऐसा बनाया है कि वह हर जगह प्रताड़ित होकर जीने को विवश है। विधवा स्त्री को तो हर तरफ से उपेक्षा को शिकार होना पड़ा है। 'जयश्री राय' की कहानी 'मोहे रंग दो लाल' कहानी में उमा को पति की मृत्यु के बाद ससुराल द्वारा प्रताड़ित किया जाता है। बाद में देवर द्वारा वृन्दावन ले जाकर भीख माँगकर जीवन जीने के लिए छोड़ दिया जाता है। एक अच्छे घर की स्त्री को भीख माँगना उसकी अस्मिता पर कितनी बड़ी चोट है, इसे एक स्त्री ही समझ सकती है। वह कहती है – ''शुरू-शुरू में भीख माँगना बहुत कठिन प्रतीत हुआ था। लोगों के सामने हाथ फैलाते हुए लगा था, जमीन में धँस जायेगी। भीख में मिला पहला निवाला गले से नीचे नहीं उतर पाया था। किसी ने पहले पहल झिड़का तो अपमान से दोनों कान गरम हो गये।'' (राय, www.hindisamay.com) वृन्दावन में उमा अकेली स्त्री खुली शिकार के समान थी। उसे एक आश्रम में जगह तो मिल गई, किन्तु इसके लिए उसे मैनेजर के साथ सोना पड़ा। उससे कहा गया था – ''कहा था, यहाँ रहना है तो ना कहना भूल जाओ। सेवा दासियों का ही एक काम है, सब की तन-मन से सेवा और ईश स्मरण।'' (राय, www.hindisamay.com) पति के न रहने पर एक स्त्री के जीवन की ऐसी त्रासदी के लिए आखिर कौन जिम्मेवार है? आज भी अकेली स्त्री क्यों सुरक्षित नहीं है? उमा यह बात जानती थी कि पति होने का पहला अर्थ है स्त्री की सुरक्षा। वह कहती है – ''बीच बाजार सैकड़ों मर्दों के बीच नुचने-बँटने से अच्छा है घर के अंदर एक मर्द की गुलामी में रहना।'' (राय, www.hindisamay.com) आखिर पति होने का अर्थ स्त्री सुरक्षा क्यों हो? स्त्री को आत्म निर्भर बनने की जरूरत है, उसे पति रूपी वैसाखी से बाहर आना होगा। लेखिका का स्त्री द्वारा भीख माँगना दिखाना कहाँ तक उचित है? जरुरत तो है कि स्त्री अपने लिए लड़े। वह किसी मैनेजर के साथ सोने को मजबूर क्यो हो?

स्त्री शोषण में केवल पितृसत्तात्मक व्यवस्था ही नहीं, बल्कि कई मामलों में तो खुद स्त्री ही एक अन्य स्त्री के शोषण की जिम्मेवार होती है। स्त्री शोषण का रूप इतना प्रखर हो चुका है कि उसके कोख को भी बेचकर उसका सौंदा होने लगा है। 'आखिरी गाँव अटारी' में सरोज नाम की लड़की को उसकी 'सास' बाबा जी के पास ले जाकर गर्भवती बनाकर उसके

बच्चे का सौदा करती है। अपने बेटे की छोटी बहू सरिता के साथ भी उसकी सास यही करना चाहती है। किन्तु वह इसका विरोध करती है, असफल होने पर वह आत्म हत्या का रास्ता चुनती है। उसकी हत्या का दोष भी सरोज के माथे मढ़ने की कोशिश की जाती है। शोषण का चित्र खींचते हुए लेखिका लिखती है –

> क्या हाल बना दिया था उसका। पन्द्रह दिन में ही उसे भी बाबा के यहाँ झूठ बोलकर ले गई। वह तो कमली थी, समझ भी नहीं पाई थी और वह सब इन लोगों ने उसके साथ बंद कमरे में करवा दिया। घर लाते ही उसे बता दिया गया कि अब उसे भी सरोज बनना होगा। कमाकर देना होगा, पर उसे सरोज नहीं बनना था, इसलिए मंगलवार की दोपहर उसने मुक्ति ले ली। (श्वेता 54)

अपनी सास द्वारा शोषण की शिकार 'वंदना गुप्ता' की 'ब्याह' कहानी भी है। कहानी में सुनयना की सास ही अपनी बहु को ससुर द्वारा बलात्कार करवाना चाहती है। सुनयना के विरोध करने पर उसकी सास बोलती है – ''अरे तो क्या हुआ, तुझे भी तो जरूरत महसूस होती होगी किसी मर्द की (गुप्ता 15)।'' पिता तुल्य ससुर द्वारा बलात्कार होना एक स्त्री के लिए कितना अपमान जनक है, यह खुद स्त्री होते हुए भी उसकी सास नहीं समझती है। सुनयना कहती है-

> मेरे भीतर सुलगती हुई अतृप्त वासना मुझे हर क्षण झकझोरती रही, फिर भी बिना विचलित हुए एक गृहस्थ सन्यासन की तरह घर की मान मर्यादा और प्रतिष्ठा को ही अपनी धरोहर समझ किसी तरह जीती रही। लेकिन घर में भी क्या एक औरत सुरक्षित नहीं। क्या औरत आज भी एक वस्तु है, सिर्फ एक उपभोग की वस्तु। इसके सिवा कुछ भी नहीं। (गुप्ता 16)

इस क्रूरतम समाज में स्त्री केवल माँ, बहन, बेटी, या बहु के रूप में ही यातनाएँ नहीं झेलती है, बल्कि वैश्या बनाकर भी उन्हें यातनाएँ दी जाती हैं। हमारे देश में हजारों वैश्यालय है जहाँ रोज नई-नई लड़कियाँ इस धंधे में ढ़केली जाती है। कुछ तो आर्थिक तंगी के कारण तो कुछ अपने ही रिश्तेदारों द्वारा दलाल के हाथों बेच दी जाती है। बच्चियों को अपहरण करके भी कोठे तक पहुँचा दिया जाता है। इन वैश्या स्त्रियों की पीड़ा से समाज को कोई सरोकार नहीं होता। 'हर्षबाला शर्मा' की कहानी 'तवायफ' ऐसे ही वैश्याओं के पीड़ा की अभिव्यक्ति है। कोठे में लाई गई हर नई लड़की के लिए मजीदा बेगम अम्मा के समान है। वह नई लड़कियों को तैयार करवाती है, किन्तु कोड़े बरसाकर खुद को जख्मी भी करती है।– ''और मजीदा अम्मा खुद को लहू-लुहान कर रही है कोड़े बरसाकर अपनी नंगी पीठ पर। क्योंकि कल से लहूलुहान होगी एक और लड़की (शर्मा 67)।'' नहीं चाहते हुए भी वह घुट-घुट कर जी रही है। -

> इस गली के इस तवायफ महल मे रहने वाली बदनाम लड़कियों की हर रात रोती थी मजीदा की आत्मा...कट-कट रह जाती थी मजीदा...नुचता था जिस्म जब इन लड़कियों का और हर बार जब आती थी कोई नई लड़की इस रंगीनी से भरे लिपे-पुते झूठे फरेबी बाजार में.. (शर्मा 67)

रशीद एक नई लड़की को चुरा कर लाया है। रशीद जैसे लोगों के कारण ही आज हर माँ चिंतित है अपनी बेटी के लिए। मजीदा को याद है जब 25 वर्ष की उम्र में वह किसी से गर्भवती हो गई थी, वह नाची-नाची फिरी थी, पर उसके पेट काटकर बच्चे को निकाल लिया गया था और दूसरे ही दिन उसे एक नये मर्द के हवाले कर दिया गया था। आज नई लड़की के चीखने पर उसे याद आता है – ''ऐसे ही चिल्ला रही थी वह बच्ची, अरी ओ अम्मा बचा लो मुझे। कहाँ बचा पाई थी मजीदा उस मांस के लोथड़े को (शर्मा 68)।'' तवायफ की जिन्दगी कस्टमर के भरोसे ही चलती है। भले यह समाज के लिए घृणित काम हो, किन्तु उन स्त्रियों के लिए कोई दूसरा उपाय भी तो नहीं। कहानी में वैश्याओं की पीड़ा को इस रूप में व्यक्त किया गया है-

> रात ढ़ल गई थी। हर कोठे के दरवाजे पर लिथड़ी, लिपी-पुती ये लड़कियाँ इंतजार कर रही थी, मुँह जोह रही थी किसी के आने का। कोई आयेगा, तब तो कुछ पैसों का इंतजाम होगा इनके खाने का। वो खाएगा इनके जिस्म को और तब देगा कुछ पैसा इन कंकालों में जान डालने के लिए। (शर्मा 68)

स्त्री को कभी वैश्या कहकर तो कभी डायन या चुड़ैल कहकर प्रताड़ित करने, उसे पत्थरों से मारने, जिन्दा जलाने, निर्वस्त्र करने की घटनाएँ आए दिन सुनाई पड़ती रहती है। 'मनीषा कुलश्रेष्ठ' ने अपनी कहानी 'कुरजां' में ऐसी ही स्त्री के दर्द को अभिव्यक्ति दी है जिसे गाँव वाले डायन कहकर उसके आठ साल के बच्चे के साथ गाँव से निष्काषित कर देते हैं। एक अकेली स्त्री अपने बच्चे के साथ गाँव से दूर जंगल में रहती है। वह अपने बच्चे को स्कूल में दाखिला करवाना चाहती है, किन्तु गाँव वाले इसका विरोध करते हैं। जंगल के पास के झोपड़े में भी वह सुरक्षित नहीं है। कभी पुलिस तो कभी बी एस एफ वाले उसके स्त्री होने का फायदा उठाते हैं। वह कहती भी है – ''अकेली औरत गोश्त की भुनी हुई नमकीन बोटी से ज्यादा क्या होती है।'' (कुलश्रेष्ठ, www.hindisamay.com) हेडमास्टर के कहने पर बच्चे को स्कूल में दाखिला तो मिल जाता है, पर हर वक्त कोई भी अपशकुन होने पर उस स्त्री पर ही आरोप लगाया जाता है। सामुहिक विवाह में बासी गोश्त खाने के कारण कई लोग बीमार पड़ जाते हैं किन्तु इसका जिम्मा, जुगनू और उसकी माँ पर लगाया जाता है। ठाकुर के कहने पर उसके गुंडे उस स्त्री को मारते-पीटते है, बच्चे को बेहोश कर देते हैं, घर तोड़ देते हैं। हेडमास्टर के वहाँ पहुँचने पर वह स्त्री कहती है-

> कल रात मेरे साथ जो हुआ, उसकी परवाह नहीं... पहले भी रात को दरवाजा खटकाते थे, रावले के हाकम, बी.एस.एफ के जवान...खुद पुलिस के दरोगा...बत्तीस

> दाँतों के बीच जबान की तरह कैसे बची, मैं ही जानती हूँ। पर गाँव के छोरो ने पहली बार हिम्मत की..भेड़े भगा दी। मुर्गियों के टपरे में आग लगा दी। मेरे कपड़े फाड़े..बदसलूकी की...मेरी छोड़ो, जुगनू के साथ जो हुआ उसने मेरी हिम्मत तोड़ दी है माट्साब।(कुलश्रेष्ठ, www.hindisamay.com)

आज पूरे देश में घरेलू हिंसा की शिकार होने वाली स्त्रियों की संख्या भी कम नहीं है। स्त्री उत्पीड़न में सबसे ज्यादा हिस्सा घरेलू हिंसा का ही होता है। कई स्त्रियाँ अपना पूरा जीवन इस उत्पीड़न को सहते हुए गुजार देती है और कभी विरोध तक नहीं करती है, तो वहीं कई स्त्रियाँ आत्म हत्या कर लेती है या परिवार द्वारा ही मार डाली जाती है। आज कई क्षेत्रों में स्त्रियों द्वारा इसका विरोध शुरु हो चुका है। 'मनीषा कुलश्रेष्ठ' की कहानी 'केयर आफ स्वातघाटी' में स्त्री घरेलू हिंसा की शिकार होती है। सुगंध जहाँ एक नाटक में गार्गी का अभिनय कर स्त्री स्वतंत्रता की बात करती है, वहीं वह अपने पति से मार खाकर आई होती है। मार खाएं निशान को वह छुपाती है पर श्यामल को सब पता चल जाता है। वह कहता है- ''मेरे नाटकों की गार्गियाँ, आम्रपालियाँ, देवयानीयाँ, शिर्मिष्ठाएँ.. यूँ ही चेहरे पर अपनों के विरोध के हिंसक निशान लेकर थियेटर आती रही हैं।'' (कुलश्रेष्ठ, www.hindisamay.com) सुगन्धा के पति को उसका थियेटर करना पसंद नहीं, इसलिए जब वह थियेटर के लिए निकली थी तभी उसके पति ने तलाक की धमकी दी थी। नाटक करते हुए बोले गये उसके कथन अब भी उसके चेहरे से उर्जस्वित हो रहा था, मानो यह कथन उसके शोषण का विरोध कर रहा है। ऐसा कहकर वह अपने आप को ताजा महसूस कर रही है। वह कहती है-

> मैं गार्गी, केयर आफ याज्ञवल्क्य। मैं दुश्चरित्र अहिल्या, केयर आफ गौतम श्रृषि। मैं भंवरा देवी, केयर आफ चेस्टिटी वैल्ट। पब में पीटी जाने वाली लड़की हूँ, केयर आफ शिवसेना। नाज़नीन फरहदी हूँ, केयर आफ तेहरान जेल। सरे आम कोड़े खाने वाली वो कमसिन लड़की..केयर आफ स्वातघाटी। (कुलश्रेष्ठ, www.hindisamay.com)

सुगंधा के इस कथन में सुगंधा जैसी कई स्त्रियों के ऊपर होने वाले जुल्म की दास्ताँ को अभिव्यक्ति दी गई है। 'जयश्री राय' की कहानी 'कायांतर' में एक ग्रामीण स्त्री के ऊपर हुए घरेलू हिंसा को दिखाया गया है। स्त्री विमर्श ने शहरों की स्त्रियों को तो घरेलू हिंसा के खिलाफ़ प्रतिरोध करने की चेतना जगा दी, किन्तु आज भी ग्रामीण स्त्रियाँ पति के जुल्म को चुपचाप सह लेती है। उसे तो पता भी नहीं है कि घरेलू हिंसा एक जुर्म है, जिसके विरुद्ध आवाज उठाई जा सकती है। कहानी में फूलमती को रोज पति द्वारा पीटा जाता है। पर वह कभी विरोध नहीं करती है। उसके जख्म पर जब ललिता हल्दी लगाती है तब फूलमती कहती है – ''दीदी! अब ई प्यार-दुलार सहता नहीं! बस मार दुत्कार का आदत हो गया है।'' (राय, www.hindisamay.com) ललिता सोचती है कि ऐसी कितनी ही फूलमती रोज

जीवन से कुम्हला जाती होगी। फूलमती के पति की मृत्यु के बाद तो पुलिस वाले भी उसपर अत्याचार करते हैं, जिससे उसके पेट का बच्चा भी मर जाता है। फूलमती पर डायन होने का इलजाम भी लगाया जाता है। सब कुछ सहते हुए वह गाँव में ही रहती है। फिर एक दिन उसपर देवी आने की अफवाहें उड़ती है और उससे वरदान लेने के लिए लोगों का ताँता लग जाता है। उसके पैरों की लात ही लोगों के लिए प्रसाद है। जिसे वह लात मार दे उसके सारे दुख गायब हो जाते, उसे मुक्ति मिल जाती। अब उसके लात की मार खाने के लिए लोगों की भीड़ जमा होने लगी। जो स्त्री सामान्य सी थी, लोग उसे दुत्कारते थे, उसके देवी बनते ही लोग उससे डरने लग जाते हैं। ये हमारे समाज की विडम्बना है कि जिस स्त्री के देवी स्वरूप से हम डरते है, उसी स्त्री के मानवी रूप पर जुल्म ढ़ाने से बाज नहीं आते। ललिता भी फूलमती के पास जाती है। ललिता को देखकर फूलमती गले लग जाती है। ललिता खुश थी कि देवी के रूप में ही सही किन्तु फूलमती आज खुश है, मुक्त है। फूलमती रो रही है पर दुनिया को नहीं मालूम। उसके रोने को केवल ललिता समझ पा रही है – ''वह नहीं चाहती थी कि किसी को पता चले फूलमती रो रही है। रोती साधारण औरतें है, फूलमती की तरह देवियाँ नहीं।'' (राय, www.hindisamay.com) किन्तु क्या ऐसी ही मुक्ति की कामना आज की स्त्री करती है? आखिर यह कैसी मुक्ति है? इसप्रकार चाहे घर हो या बाहर स्त्रियों पर जुल्म और अत्याचार थमा नहीं है। इतने सारे कानून बनने का बाद शायद ही किसी दिन का अखबार बलात्कार या घरेलू हिंसा की खबर लेकर न आता हो। जरूरत है कि स्त्रियों पर होने वाले जुल्म के विरोध में न केवल स्त्रियाँ बल्कि पुरुष समाज को भी आवाज उठाने की जरूरत है। स्त्री शोषण किसी घर की समस्या न होकर समाज की समस्या है और इसे समाज के हर वर्ग को लोगों द्वारा मिलकर ही निदान किया जा सकता है।

2.7.4. स्त्री के निजी समस्याओं की अभिव्यक्तिः-

स्त्री विमर्श ने स्त्रियों को यह प्रेरणा दी कि वे अपनी निजी समस्याओं को भी खुलकर अभिव्यक्त कर सके। स्त्रियों की कई निजी समस्याएँ होती हैं जैसे मासिक धर्म की पीड़ा, प्रसव पीड़ा, जिस पीड़ा को पुरुष कभी महसूस नहीं कर सकता। एक समय तक यह समस्याएँ स्त्री की आन्तरिक जगत की बात थी, किन्तु अब स्त्रियों इन समस्याओं की खुलकर अभिव्यक्त करने लगी हैं। स्त्री देह ईश्वर प्रदत्त है, अतः देह से जुड़ी समस्याएँ आम बात है, किन्तु हमारे समाज ने स्त्री को हमेशा देह और देह से जुड़ी समस्याओं को धर्म से जोड़कर उसे प्रताड़ित करने और अछूत माने जाने का नियम गढ़ डाला है। कालान्तर से स्त्रियों के मन में भी यह बात बैठा दी गई है कि मासिक धर्म और प्रसव के दौरान स्त्रियाँ अछूत हो जाती है। अतः इस दौरान स्त्री के घर के काम करने, मन्दिरों में प्रवेश करने आदि में रोक लगा दिया जाता है। वह गंदी कहलाने लगती है। मासिक धर्म एक सतत प्रक्रिया है, किन्तु इसके कष्ट को एक लड़की ही समझ सकती है। पहली बार जब कोई लड़की इस दौर से गुजरती है तब उसे यह समझ ही नहीं आता है कि उसके साथ ऐसा क्या हो रहा है। मासिक धर्म के शुरु होते ही बच्ची कब औरत बन जाती है, इसका आभास भी बच्ची को नहीं हो पाता है। उसे यह एहसास दिलाया जाता है कि अब वह बच्ची नहीं रही। उसका पूरा जीवन ही

एक दिन में बदल जाता है। 'रोहिणी अग्रवाल' की कहानी 'आओं माँ! हम परी हो जाएँ' में मासिक धर्म के कारण एक बच्ची के जीवन में आने वाले बदलाव को दिखाया गया है। मीना उस दिन भी बेफिक्री से उठी थी और नहा कर अपने कपड़ों को फेंक कर बच्चों के समान ही दूध पीती रही थी। स्कूल में अपनी ही सहपाठियों द्वारा दुत्कारे जाने पर उसे ठेस पहुँचता है। उसे यह अहसास दिलाया जाता है कि अब वह गंदी हो चुकी है। अब वह बच्ची नहीं रही, औरत बन चुकी है। वह सोचती भी है कि कल तक तो वह बच्ची थी फिर आज एक दिन में वह इतनी बड़ी कैसे है गई। उसकी माँ कहती है – ''एक दिन की बड़ी हुई होती तो रोना काहे का थी री नासपीटी। तू तो पूरी एक उमर बड़ी हो गई। औरत बन गई री तू, औरत।'' (अग्रवाल, www.hindisamay.com) अब पापा भी उसे डाँटते है कि अब वह बच्चों जैसी नहीं खेल सकती, डांस नहीं कर सकती, अंधेरे में घर से निकलना बंद, लड़कों से मिलना बंद। ऐसा लगता है औरत होना कोई गुनाह है। सारे बंधन औरतों के लिए ही हैं। उसकी माँ उससे कहती है – ''अभागी, तुझे देखती हूँ तो अपना बचपन याद आ जाता है। मरी, मेरी कोख में ही आना था तो लड़की बन कर क्यों आई? क्यों री, जब तक सामने रहेगी, आँसू नहीं सूखने देगी।'' (अग्रवाल, www.hindisamay.com) औरतों की पीड़ा को देखकर मीना सोचती है कि वह परी हो जाय और अपनी माँ को लेकर परियों की दुनियाँ में चली जाय, जहाँ केवल परी होती हो और कोई नहीं। 'अल्पना मिश्र' की कहानी 'भय' में एक स्त्री के अंदर मासिक धर्म को लेकर उत्पन्न भय को दिखाया गया है। महिने के उन दिनों में स्त्रियाँ एक भय से गुजरती हैं। कहानी में मृणाल ऐसे ही भय से गुजरती है। वह स्कूटर को किक मारने से डर रही है कि कहीं कुछ हो न जाय और लोग इसे देख न ले। - ''कहीं ज्यादा जोर देने पर हो सकता है कि...सड़क पर खड़े – खड़े मुझे कुछ हो गया तो..इस कल्पना ने मुझे पसीने-पसीने कर दिया।'' (मिश्र, www.hindisamay.com) मृणाल को अपनी दीदी द्वारा चलाया जाने वाला सफाई अभियान याद आता है। किस प्रकार उसकी दीदी चादर को छू-छूकर, टटोल-टटोल कर देखती थी और बताती थी कि इन दिनों कभी-कभी लग जाता है। जिस भय से वह गुजर रही थी वह अंततः हो जाता है। वह कहती है-''एकदम से शरीर में सिकुड़न सी हुई, फिर एक दर्द की लहर...और कुछ फिसलकर मेरे ही दाहिने पाँव की सलवार में अटका... अरे यह तो मैं ही... मुझे चक्कर आया। आखिर आज हो ही गया, इसी को बचाने तो भागी-भागी आई थी मैं...।'' (मिश्र, www.hindisamay.com) स्त्री देह की इस प्रक्रिया को आज महिलाएँ खुलकर अभिव्यक्त कर पा रही हैं, इसे इन लेखिकाओं का बोल्डनेस न कहकर खुली सोच कह सकते हैं। मासिक धर्म जैसी नियमित प्रक्रिया को कर्मकांड के द्वारा स्त्री को अपवित्र ठहराने और ऐसे समय में उसके छूने से भगवान के अपवित्र हो जाने का ढ़ोंग और कुछ नहीं स्त्री को पराधीन करने की कोशिश है। ऐसे ही कुप्रथा को 'सारा राय' ने अपनी कहानी 'सीमा रेखा' में रेखांकित की है। मुन्नी को जब पहली बार मासिक धर्म हुआ था उसे लगा था उसके शरीर का सारा

खून बहा जा रहा है। लेखिका बताती है- ''उसने अपनी फ्राक ऊपर करके मुझे दिखाया। फ्राक के नीचे वह नीले रंग की जांघिया पहनी थी। जांघियों पर फूल बने थे। वह सफेद नाड़े से बंधी थी। फूलों के बीच खून का धब्बा भी फूलों में मिल गया था।'' (राय, www.hindisamay.com) मुन्नी की माँ उसके लिए नैपकिन सी रही है और भैया उसे पूजा घर और रसोई में जाने से मना करते हैं, नहीं तो अनर्थ हो जायेगा। किन्तु मुन्नी को याद है ऐसे दिनों में भी वह चुपके से पूजा घर में गई थी और मूर्तियों को भी छुआ था। मुन्नी उम्र के 60 साल बितने पर भी पवित्र और अपवित्र के जंजाल में उलझी हुई है। बचपन की घटना के खुलासे से आज भी वह डरती है। लेखिका बताती है –'' लगभग आधी सदी बीत गई थी, मगर वह अभी तक अपवित्र और पवित्र के जंजाल में फंसी हुई थी। एक बार वह कीड़ा दिमाग में घुस जाये, तो क्या वह सदा वहाँ रेंगता रहता है।'' (राय, www.hindisamay.com) आज भी स्त्री के दिमाग में वह कीड़ा घुसा हुआ है। आज भी वह ऐसे दिनों में खुद को अपवित्र मानकर नियम का पालन करती नजर आती है।

2.7.5. स्त्रीः देह मुक्ति का सवालः-

स्त्री विमर्श में स्त्री देह को लेकर काफी विवाद रहा है। स्त्री विमर्श को देह विमर्श तक कह दिया गया। स्त्री को देह तक सीमित कर जिसप्रकार उसे एक वस्तु में तब्दील कर दिया गया, स्त्री विमर्श उसका विरोध करता है, वहीं कुछ स्त्रियों द्वारा देह मुक्ति का प्रश्न उन्मुक्त होकर सेक्स करने को ही मान लिया गया। यह स्त्री विमर्श की सीमा है। पर यह सच है कि समाज में स्त्री चाहे घरेलू हो या कामकाजी, वह हर तरफ पुरुष के कामुक नजर से बच नहीं पाती है। स्त्री विमर्श की लेखिकाओं ने स्त्री को देह तक माने जाने के ही विरोध में आवाज उठाई है और यह घोषणा की कि स्त्री देह पर स्त्री का ही अधिकार है, किसी पुरुष का नहीं। 'रजनी गुप्त' की कहानी 'नजरें' में अनुमिता को कामुक पुरुष ने देह से ज्यादा कुछ नहीं समझा, वह कामकाजी स्त्री है, किन्तु हर जगह उसके देह को ही सराहा जाता है और मौका मिलने पर देह पर हाथ फेर लिया जाता है। पर वह इसका विरोध करती है। उत्तरांचल में बड़े साहब द्वारा खुली पीठ पर हाथ फेरने पर, मनीष द्वारा लिफ्ट पर जबरदस्ती करने पर, शर्मा जी द्वारा हाथ पकड़ने पर वह तीखी जबान में विरोध करना नहीं भूलती है। वह प्रश्न करती है – ''पुरुष का नजरिया औरत के प्रति इतना एकतरफा क्यूँ कर है कि सालों बाद भी वही आवाजें पिछियाती हुई सुनाई पड़ती जिनमें शुमार थी देह के प्रति वही लोलुपता।'' (गुप्त, www.hindisamay.com) अनुमिता उम्र के 40 साल बाद भी पुरुष के लिए देह की मानसिकता से बाहर नहीं निकल पाई। यहाँ तो स्त्री शिकार है और पुरुष शिकारी, जहाँ उम्र की कोई शर्मोहया नहीं। वह कहती है – ''इन पुरुषों की फितरत नहीं बदलती बल्कि नये-नये रूप धरकर वे अपनी काकदृष्टि से अपने शिकार की टोह लेते रहते और मौका मिलते ही फिर उन्हें घेरने की जुगत बिठाते हुए गिद्धनुमा नजर से झटपट शिकारी को धर दबोचने की फिराक में लगे रहते।'' (गुप्त, www.hindisamay.com)

अनुमिता को हमेशा ऐसे ही पुरुष नहीं मिले। उसका सामना अच्छे पुरुषों से भी हुआ। कॉलेज में उसका दोस्त, आफिस में जुनियर नीलेश जैसे पुरुषों के बीच रहकर, कभी भी इन पुरुषों के नियत को गलत नहीं पाई। सिनियर नितिन से मिलकर उसे एहसास होता है कि हर पुरुष एक जैसे छिछोरे टाइप के नहीं होते। वह कहती हैं- ''तभी से उसकी सोच में घुसा पूर्वाग्रह का कीड़ा भी छिटकता गया और उसे अहसास हुआ कि दाल में कंकड़ तो हो सकते हैं मगर समूचे कंकड़ मे दाल होना असंभव है।'' (गुप्त, www.hindisamay.com) सारे समानता के सिद्धांत के बावजूद स्त्री सेक्स सिम्बल ही मानी जाती रही है। अपने देह के घेरे से वह बाहर नहीं निकल पाई है। 'दरिंदे' कहानी की शीला ने पुरुष के रूप में भूखे भेड़िये को ही पाती है जिससे वह पुरुष जाति से ही घृणा करने लग जाती है। वह जानती है –

> औरत के नंगे जिस्म, उसके अव्यवों का घिनौना व्यवसाय हो रहा है। वह चौराहे पर नग्न खड़ी है। कोई भावनात्मक इन्सानी रिश्ता बचा नहीं रह गया है। औरत मात्र देह में तब्दील हो गई है। सब ओर दैहिक सम्बन्धों और नारी के यौनांगों के चालू फिकरो, अश्लील फब्तियों और गालियों का शोर सुनाई दे रहा है। (कश्यप 65)

शीला को याद है स्कूल में सिनियर्स का जबरदस्ती करना, सिनेमा में मुँह बोले भाई द्वारा बदन पर हाथ फेरना, बुआ के लड़के द्वारा बाथरूम पर झांकना, अपने सहेली के भाई द्वारा रात में उसके अंग पर हाथ फेरना, पी.एच.डी गाईड द्वारा जबरदस्ती करना। इन घटनाओं ने शीला को यह समझा दिया कि वह पुरुष के लिए बस एक देह है, और कुछ नहीं। उसे लगता है – ''सारा देश अश्लील पोस्टरों और इबारतों से अटा पड़ा है। xxxxxxxx वह देख रही है कि सर्द धुँधलके के बीच नारी शरीर की फड़कती बोटियों की तीखी-मारक गंध और उससे उठता गर्म धुँआ चहुंओर फैला है (कश्यप 65)।'' 'बिजली चट्टान' कहानी में भी रूपा को इसी देह को बचाने के लिए कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। पति की मृत्यु के बाद जेठ द्वारा जबरदस्ती किया जाता है और न मानने पर उसे डायन की उपाधि देकर पंचों द्वारा पत्थरों से पिटवाकर गाँव से निकाल दिया जाता है। नंगी रूपा बोरा लपेट कर छिपना चाहती है, वहाँ भी सेठ उसकी नंगी छातियों पर हाथ फेरता है। वह जान चुकी है कि औरत की देह मर्दों के लिए बस खेलने की चीज है। बस मे चढ़ने पर कंडक्टर भी कुत्ते को छूने के बहाने उसके देह को छूता है। औरत बस मांस का टुकड़ा है जिसे सब खाना चाहते हैं। रूपा को अकेला पाकर सिपाही भी उसे अपनी हवश का शिकार बनाना चाहते हैं – ''तो चलो नाटक का पर्दा उठा दिया जाये। अच्छा मौका है। शौचालय में गई है।'' रूपा कहाँ – कहाँ अपने देह को बचाते फिरे। अब तो वह बिजली की तरह चट्टान बन हर जुल्म को सहना सीख गई है (नर्मदेश्वर 56)।''

वैवाहिक जीवन सिर्फ देह तक सीमित नहीं होता है। वैवाहिक जीवन में प्रेम और विश्वास का होना भी जरूरी है। किन्तु कुछ पुरुषों को बिस्तर पर स्त्री केवल सेक्स के लिए

ही चाहिए। 'बे दरो दीवार' कहानी में रणजीत 15 दिनों बाद घर आने पर उसे स्त्री के अन्य समस्याओं से कोई मतलब नहीं होता है, उसे तो बस सेक्स चाहिए। रणजीत के देर होने पर उसकी पत्नी परेशान हो जाती है, किन्तु बिस्तर पर पत्नी द्वारा सेक्स के लिए मना करने पर वह उसे लात मारता है, लात रजाई पर पड़ती है और चोट अल्पना के मन पर। - ''रणजीत ने लात मारी-मर कुतिया कहीं की। रजाई के कारण तन पर चोट नहीं लगी परन्तु, मन चोटिल हुआ। खुद उठकर बब्बल वाली रजाई में चला गया और कुत्ते की तरह कूँ-कूँ करता रहा जैसे लात उसे ही लगी हो (गुजराल 67)।'' स्त्री को पति द्वारा केवल देह तक समझे जाने की पीड़ा उसे सालती है। जीवन की कई समस्याओं की बात किए बिना रणजीत को तो बस अल्पना का जिस्म चाहिए। एक दिन के लिए रणजीत घर आता है, उसके जिस्म से खेलता है और बिस्तर पर छोड़कर नौकरी पर चला जाता है। - ''रणजीत ने रात की गाड़ी पकड़ना ही पसंद किया। जाने से पहले पूजा स्थल की राह में गिरे फूल की तरह मसला, तौलिए की तरह इस्तेमाल किया और बिस्तर पर फेंककर चला गया। (गुजराल 68)।'' 'वंदना गुप्ता' की कहानी 'कर्तव्य पालन की सजा' में इसी देह की भूख के लिए एक पुरुष अन्य स्त्री के चक्कर में फँस जाता है और स्त्री को घुटन भरी जिन्दगी जीनी पड़ती है। परिवार की चिंता किए वगैर उसका पति अन्य स्त्री पर मुँह मारता है, एक पुरुष कभी नहीं सोचता कि अगर स्त्री भी ऐसा करने लगे तो क्या होगा। कहानी में लेखिका पूछती है-

> पुरुष के लिए औरत क्या जिस्म से आगे कुछ नहीं है, वह क्या इतना संवेदनहीन हो सकता है कि हवस के आगे उसे घर परिवार कुछ दिखाई नहीं देता? क्या हो अगर औरत भी अपनी वासना पूर्ती के लिए ऐसे ही कदम उठाने लगे, वे भी अपनी मर्यादा भंग करने लगे? क्या एक औरत को उतनी जरूरत नहीं होती जितनी कि एक पुरुष को? (गुप्ता 22)

एक ओर जहाँ स्त्री विमर्श ने स्त्रियों को देह तक समझे जाने की मानसिकता से लड़ना सिखाया, वहीं कुछ लेखिकाओं ने देह मुक्ति का अर्थ उच्श्रृंख्ल सेक्स को माना। कई स्त्रियों द्वारा इसी देह को साधन बनाकर ऊँचाईयों को छूने और उन्मुक्त होकर भोग करने की इच्छा को ही स्त्री विमर्श से जोड़कर देखा। ऐसी स्त्रियों के लिए ही वंदना गुप्ता 'बुरी औरत हूँ मैं' कहानी में लिखती हैं-

> अरे स्त्री को यदि बराबरी का शौक है तो करे अपने लिए उसी तरह हायर पुरुष को जैसे उसे किया जाता है। क्यों खुद के शरीर को खिलौना बना रखा है। यह किस दिशा में सोच जा रही है, शायद यही कारण है आज भोली-भाली लड़कियाँ इस कुचक्र में फँस रही है क्योंकि उन्हें पता ही नहीं वास्तव में स्त्री मुक्ति है क्या। उनके लिए सिर्फ देह तक ही सीमित है उनकी मुक्ति। (गुप्ता 121)

कहानी में शमीना अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कार्ल गर्ल बन जाती है। उसे इसका मलाल भी नहीं है। उसे तो बस मौज वाली जिन्दगी चाहिए। वह कहती है – ''हाँ, बिल्कुल क्योंकि मैंने सोच-समझकर ही इस काम में कदम रखा है' कह वह खिलखिलाकर हँस पड़ी और मेरे बिस्तर पर लेट गई और बोली, 'ट्रेलर चाहिए तो दूँ क्या ताकि हमारा हिसाब-किताब खत्म हो फिर तुम अपने रास्ते और मैं अपने' (गुप्ता 112)।'' शमीना नरेन से कई कंडीशन पर शादी करती है और उसकी इच्छा पूरी नहीं होने पर उससे अलग भी हो जाती है। वह कहती है – ''कहाँ से और कैसे करोगे मेरी इच्छाएँ पूरी जब बिस्तर पर तुम जल्दी ढ़ेर हो जाते हो और मैं अधूरी रह जाती हूँ। आज की स्त्री हूँ कोई पहले जैसी नहीं जो अपनी भावनाएँ दबाये (गुप्ता 120)।'' शमीना नरेन को छोड़कर चली जाती है और पैसे की भूख को मिटाने के लिए फिर वह कार्ल गर्ल बन जाती है। इस देह की विवशता को दिखाती कहानी 'देह का गणित' है, जहाँ एक स्त्री अपने ही बेटे के छुवन को पुरुष का छुवन कहती है और माँ- बेटे जैसे पवित्र रिश्ते को अपवित्र कर जाती है। वह कहती है- ''प्रतिरोधात्मक शक्ति ने जैसे हथियार डाल दिए थे। शायद उस वक्त एक माँ मर गई थी और एक स्त्री देह जाग गयी थी (गुप्ता 25)।'' यह देह की भूख ही है कि रात में अपने जवान बेटे द्वारा उसके जिस्म पर हाथ फेरने पर वह विरोध नहीं करती है, बल्कि अपने बेटे का हाथ उसे एक पुरुष का हाथ लगता है। वह कहती है –

> उसने फिर दो तीन दिन बाद यही दोहराया और धीरे-धीरे, रेंगते-रेंगते उसका हाथ वक्ष स्थल तक पहुँच गया। एक बार फिर मैं चुप पड़ी थी, किंकर्त्तव्यविमूढ़ सी, लेकिन यहाँ मैं आपसे छुपाऊंगी नहीं एक सत्य कि उसका स्पर्श शायद मुझे अच्छा भी लग रहा था। एक बेहद लम्बे अरसे बाद किसी मर्द के हाथ ने एक औरत के शरीर को छुआ था तो जो चाहतें अब तक दबी हुई थी जानें कहाँ से सक्रिय हो उठी। (गुप्ता 24)

स्त्री द्वारा उन्मुक्त काम भावना और स्त्री देह की स्वतंत्रता को 'गीताश्री' ने अपनी कहानी 'गोरिल्ला प्यार' में दिखाई है। यह कहानी लिव इन रिलेशन से भी आगे बढ़ी हुई कहानी है। अर्पिता छोटे शहर की लड़की है, किन्तु महानगरीय सोच की एक वर्किंग वूमेन है। वह जिन्दगी अपने अनुसार जीना चाहती है। रिश्तों में एकनिष्ठता उसे पसंद नहीं। वह प्रेम करती है, किन्तु प्रेम में बंधन नहीं चाहती। वह लिव- इन भी नहीं चाहती, क्योंकि इससे प्रेम खत्म हो जाता है। वह कहती है- ''अर्पिता ने प्रेम किया, पर शादी उसे मंजुर नहीं थी। कि शादी बंधन है और बंधना उसे स्वीकार नहीं। पत्नी के फ्रेम में तो वह छटपटाती रहती। घुट जाती। उसका पति दकियानुसी पति में बदल जाता।'' (गीताश्री www.hindisamay.com) अर्पिता जिसे मुक्त प्रेम कहती है, दरअसल उसमें मन से

ज्यादा देह का स्थान है। तभी तो इन्द्र द्वारा अतृप्त छोड़ जाने पर उसका अहं छटपटाने लगता है। वह फेसबुक में जाकर आकाश को बुलाती है और उसके फ्लैट में जाकर पहली मुलाकात में ही शारीरिक संबंध बना लेती है। लेखिका लिखती है –

> आकाश के हाथ उसके कंधों से फिसल कर वक्ष...फिर कटि...और फिर नितम्बों तक आ गये। कपड़े जिस्म से कब जुदा हुए दोनों को पता ही नहीं चला। देह प्रत्यंचा-सी फिर तन गई। आकाश पर बिजली के फूल का नशा छा गया। देह देर तक देह को मथती रही। यहाँ अर्पिता का प्रेम केवल शरीर का सुख खोजती है। (गीताश्री, www.hindisamay.com)

वह विवाह और लिव इन दोनों नहीं चाहती, बस प्रेम के नाम पर शरीर सुख चाहती है। वह इन्द्र से कहती भी है – ''हर बार हम प्रेमी और प्रेमिका की मानिंद मिलेंगे...हम जीवन एक संग जियेंगे, लेकिन विवाह नहीं... नो फेरे..नो बंधन..और तो और लिव इन भी नही।'' अर्पिता खुद को वस्तु बनने से बचाना चाहती है। वह किसी मर्द की गुलाम नहीं बनना चाहती, परंतु वह जैसा जीवन जीना चाहती है, क्या यह संभव है? इन्द्र का थप्पड़ मारना उसे यह बोध कराता है कि वह इन्द्र की वस्तु बन गई है। वह इसका विरोध करती है। उसने यह तय कर लिया था कि –

> वह जिन्दगी में मर्द को उतनी ही जगह देगी, जितने में उसका अपना अस्तित्व बचा रहे, साथ ही बचा रहे प्रेम। मर्द को जैसे ही ज्यादा जगह दी, वह मित्र से तुरंत मालिक के अपने भेष में आ जाता है। अर्पिता को इसी से डर लगता है। वह मालिक सब कुछ को चीज बना देता है...कमबख्त प्रेम को भी। (गीताश्री, www.hindisamay.com)

अर्पिता का खुद को पुरुष की वस्तु बनने से बचाने के लिए देह की तरफ झूकना और प्रेम की स्वतंत्रता के नाम पर प्रेम को विकृत करना कहाँ तक उचित है, यह तो समय ही बताएगा। अपने उन्मुक्त भोग को प्रेम का नाम देकर प्रेम की गरिमा को कम करने की कोशिश अर्पिता करती है।

2.7.6. स्त्री की आर्थिक आत्मनिर्भरताः-

स्त्री मुक्ति के लिए स्त्रियों का आर्थिक दृष्टि से संबल होना पहली शर्त है। आर्थिक आत्म निर्भर होते ही स्त्रियों ने पुरुष के वर्चस्व को चुनौती दी है। घर और बाहर दोनों की जिम्मेवारी स्त्री ने निभाई है। हर चुनौती का सामना करने के लिए वह सहर्ष तैयार रहती है। 'मैं चुनौती हूँ, पनौती नहीं' कहानी में निकम्मा पति का घर उसकी पत्नी और बेटी के काम करने से ही चलता है। फिर भी पुरुष का अहं इतना ज्यादा है कि वह हर चीज में अपनी धौंस जमाता है। यहाँ तक कि बेटी निशा की शादी का सारा जिम्मा उसकी पत्नी पर

है, फिर भी वह अपनी पत्नी को पनौती कहता है। आर्थिक आत्म निर्भर स्त्री इसका जवाब देती है। वह कहती है –

> आपकी माताजी का कहना था कि मैं अपने साथ दलिद्दर लेकर आयी हूँ। शायद आप भी उस राय से इत्तेफाक रखते हैं। तो आपको बता दूँ, मैं दलिद्दर नहीं, पन्द्रह तोला सोना और बत्तीस साल पहले वाले पचास हजार लेकर आयी थी। आज उसका हिसाब माँगू तो क्या दे सकेंगे? वह मेरा स्त्री धन था। कानूनन उस पर मेरा हक था। पर उन पचास हजार में से पचास रूपये भी किसी ने मेरे हाथ पर नहीं रखे और पन्द्रह तोला सोना कहाँ ठिकाने लग गया, पता ही नहीं चला। (जोशी 79)

पिता की बात सुनकर जब निशा घर छोड़कर जाना चाहती है तब उसकी माँ उससे कहती है – ''यह घर मेरा है। छोटा सही, किराये का सही, पर मेरा है। इस घर से किसी को निकालने का हक सिर्फ मेरा है (जोशी 82)।'' स्त्री अपने पति के खिलाफ इसलिए जा सकी और अपने अस्तित्व को बचा सकी, क्योंकि वह आर्थिक दृष्टि से आत्म निर्भर है।

आर्थिक आत्म निर्भरता ने स्त्रियों को कुछ हद तक सम्मान तो दिलाया, किन्तु उसकी चुनौतियाँ खत्म नहीं हुई। परिवार के लिए स्त्री – पुरुष दोनों का कामकाजी होना परिवार को संबल प्रदान करता है, किन्तु पुरुष मानसिकता ने स्त्री के काम करने को हजम नहीं कर पाया है। कामकाजी स्त्री पर घर पर पति और बाहर बॉस की झिड़की दोनों सहनी पड़ती है। फिर ऑफिस में भी कहीं न कहीं स्त्री और पुरुष में भेद-भाव चलता रहता है। औरत के लिए आज भी काम और घर में से किसी एक को चुनने की बारी आये तो उसे घर ही चुनना पड़ता है। 'अल्पना मिश्र' की कहानी 'इस जहाँ में हम' कहानी में स्त्री की उस पीड़ा को दिखाया गया है जहाँ स्त्री काम तो करती है, किन्तु काम करने की चोइस स्त्री पर निर्भर नहीं है। पुरुष समाज स्त्री को सहकर्मी के रूप में कभी बराबर नहीं समझता है। स्त्री कहती है- ''नौकरी में मैं कहाँ हूँ? मेरे लिए नहीं है नौकरी। मेरी नौकरी दूसरे के हिसाब से होनी है। मेरे हिसाब से क्या होना है?'' (मिश्र, www.hindisamay.com) पुरुष के लिए स्त्रियों का नौकरी करना टाइम पास करना है। उसे तो लगता है स्त्रियों को कभी एबार्शन, कभी मेटरनीटी, तो कभी चाइल्ड केयर के नाम पर छुट्टियों का अंबार लगा रहता है। स्त्री द्वारा मोबाइल खरीदना भी उसके पति मि. बगड़वाल को अच्छा नहीं लगा। उसका पति अपनी पत्नी पर शक करता है। स्त्री का अपने कलीग से बातें करना, उसका आत्म निर्भर बनना उसके पति के अंदर कुंठा को जन्म देता है। वह अपने बच्चे से कहते हुए पत्नी पर ताने कसता है – ''मम्मी ने आज मोबाइल लिया है, कल कार ले लेगी, फिर तो स्टैंडर्ड इतना हाई हो जायेगा कि ये घर भी छोटा लगने लगेगा।'' (मिश्र, www.hindisamay.com) जिस ट्रांसफर से वह स्त्री डर रही थी अब वह निर्णय लेती है कि ट्रांसफर जहाँ भी हो वह जायेगी। 'गीताश्री' की कहानी 'इन्द्रधनुष के पार' में भी आँचल को उसके बॉस उसके द्वारा

छोटे कपड़े पहने जाने पर मेमो निकाल कर चेतावना देता है। आँचल के घर पर किसी चीज की कमी नहीं है, फिर भी वह अपने खुद की पहचान के लिए काम करती है। वह आजादी चाहती है। किन्तु घर और बाहर दोनों जगह उसे दो बॉसों को झेलना पड़ता है। वह कहती है – ''किसी स्त्री के लिए एक साथ दो दो बॉस को झेलना कितना मुश्किल हो सकता है, ये स्त्री से बेहतर कौन बता सकता है।'' (गीताश्री, www.hindisamay.com) ऑफिस का पाखंडी बॉस जो उसके कपड़ों के पीछे पड़ा रहता है, क्लब में जाकर न्यूड पार्टी करता है। आँचल उसे रंगों हाथ पकड़ती है। - ''वह बॉस की आँखों में आँखें डालकर देखती है। उन आँखों में मात थी। वहाँ एक पाखंडी की परास्त नैतिकता थी। उसे लगा समूची पुरुष सत्ता इन आँखों में समा गई है।'' (गीताश्री, www.hindisamay.com) जो बाँस आँचल को छोटे कपड़े पहनने पर मेमो थमाता है, उसके नग्न जिश्म को आँचल पार्टी में देखती है और उसकी असलियत की पोल खोलती है। ऐसा ही दोहरा रवैया हमारे समाज में चलता रहता है।

2.7.7. स्त्री संघर्ष और प्रतिरोध की अभिव्यक्तिः-

21वीं सदी के दूसरे दशक की महिला लेखिकाओं ने अपनी कहानी के माध्यम से स्त्री के संघर्ष की दास्तान की अभिव्यक्ति के साथ ही साथ वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ प्रतिरोध की चेतना का भी विकास किया है। आज की स्त्री सब कुछ चुपचाप सह जाने वाली स्त्री नहीं है। वह संघर्ष करती है और स्त्री मुक्ति के लिए लड़ती है। हर जुल्म का प्रतिरोध करती है। 'रजनी गुप्त' की कहानी 'बदरंग दीवार के पार' में अन्नी का जीवन विवाह के उपरान्त नरक बन जाता है, किन्तु वह घुट-घुट कर मरती नहीं है। अपने ससुराल छोड़कर वापस घर आकर भैया का साथ पाकर पढ़ाई करती है। कई कटुक्तियों को सहते हुए भी हार नहीं मानती है। -

> कभी शक करते पति की कटुक्तियाँ, गाली गलौज और उसके चरित्र पर आये दिन दागे गये लांछन उसे बेचैन कर देते तो कभी उसके ससुराल न जाने वाले फैसले पर अडिग अन्नी को अम्मा के उलाहने रात भर सोने नहीं देते मगर आधी रात बीतने के बाद वह पूरी मेहनत व एकाग्र साधना से अपने वजूद के गिरे हुए टुकड़े को समेटकर सहेजती, सिलती और फिर नये मोर्चे पर तैनात सिपाही की तरह खुद को स्टडी टेबल तक खींच लाती।(गुप्त, www.hindisamay.com)

अन्नी द्वारा बाद में दूसरी शादी करने पर भी रिश्ता निभ नहीं पाता है, फिर भी वह टूटती नहीं है। जीवन से संघर्ष करती है। -''तो क्या हुआ? हम गिरेंगे नहीं तो संभलेंगे कैसे? जीने की ताकत तो तभी बनती है जब हम बार-बार कुआँ खोदे, बार-बार पत्थर आयेंगे तो क्या। आने दो, हम नये सिरे से फिर दूसरी जगह कुआँ खोद लेंगे। तेरा जिंदा रहना जरूरी है हम सब के लिए, सुन रही है न।'' (गुप्त, www.hindisamay.com) रेवती का यह कथन उन

सभी स्त्रियों के लिए है जो संघर्ष से हार मान आत्म हत्या कर लेती है। स्त्रियों का जीवन से संघर्ष करते हुए जिन्दा रहना जरूरी है।

स्त्री के घर के काम काज का कोई मोल नहीं लगाया जाता है। पुरुष द्वारा बाहर काम करने का अर्थ है वह कामकाजी है, वहीं स्त्री द्वारा दिन भर बिना पैसे के घर का काम करना, काम नहीं माना जाता। 'भागमती पंडाइन का उपवास यानी करवाचौथ पर भरवा करैले' कहानी में सुमेधा दिन भर घर का काम करती है और उसका पति अपने ही शोधार्थी के प्रेम में डूबा हुआ है। सुमेधा ने कभी अपनी जिम्मेवारी से उफ् तक नहीं की। फिर भी उसके काम की सराहना कभी नहीं होती है। वह कहती है-

> आज अगर हम अपने तनखाह का जियादा नहीं, पाँच सो रूपया महीना भी लगाये तो कई हज्जार बन जाता है, लेकिन बिना पैसे के अब तक खटते रहें। कभी दो से तीसरा सारी नहीं खरीदे। हमरे जैसी एक दो की कौन कहे, लाखों मेहरारु ऐसे ही खटती रहती है। बिन पइसा, बिन मोल। (अरोड़ा56)

भगवती अपने पति की रासलीला जानकर प्रतिरोध करती है। वह व्रत न रखकर पुरुष के अहं को चुनौती देती है। करवा का व्रत पति की लम्बी आयु के लिए रखा जाता है, किन्तु भगवती 50 वर्षों में पहली बार व्रत न रखकर अपने पति के सामने सब कुछ बड़े चाव से खाती है। - ''पंडाइन चाय पीते हुए आलू के चिप्स चुभला रही थी। पास रखी तश्तरी में रोटी, भरवा करैले, बथुए का रायता और नींबू का अचार रखा था (अरोड़ा 60)।'' आज की स्त्री अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए हर रिश्तों की कुर्बानी देना जानती है। उसे अपने अस्तित्व का ज्ञान है। वह अब पुरुष की कठपुतली नहीं है, जहाँ सारे फैसले पुरुष द्वारा ही लिये जाते हैं, यहाँ तक कि किसी स्त्री के माँ बनने का फैसला भी पुरुष के ही अधीन माना जाता है, किन्तु आज स्त्री इसका प्रतिरोध करती है। 'मालती जोशी' की कहानी 'दरका हुआ दर्पण और खण्डित छवियाँ' में नायिका पुरुष के निर्णय का विरोध करती है। जब वह पहली बार माँ बनती है, सारा कॉलेज स्टाफ खुशियाँ मनाता है, किन्तु उसका पति चाहता है कि वह एबार्शन करवा ले। स्त्री इसका विरोध करती है और कहती है- ''मि. कुमार, माँ बनना हर औरत का अधिकार है। उसे छीनना, उसके स्त्रीत्व का अपमान करना है। मैं यह अपमान कभी सहन नहीं करूँगी। बच्चे को जन्म देना है या नहीं, यह तय करने का अधिकार सिर्फ मुझे है। इसमें किसी की दखलअंदाजी नहीं चलेगी (जोशी 30)।''आज की स्त्री चुपचाप नहीं रहती है। कई मामलों में अब वह प्रतिरोध करने लगी है। प्रतिरोध की संस्कृति का विकास हो रहा है और इसकी अभिव्यक्ति भी समकालीन कहानियों में देखने को मिल रहा है।

2.8. निष्कर्षः-

उपर्युक्त आलोचना के उपरान्त हम देखते हैं कि अब स्त्री विमर्श का संबंध केवल पितृसत्तात्मक व्यवस्था से लड़ना ही न होकर बाजारवादी व्यवस्था में चहुदिक आक्रमणों के बीच खुद के अस्तित्व को समझने और अपने हक के लिए सही दिशा में लड़ने की चेतना से सम्पन्न है। उपर्युक्त अध्याय में स्त्री विमर्श को स्त्री-पुरुष संबंध, प्रेम, काम, विवाह, पितृसत्ता, आर्थिक आत्म निर्भरता, स्त्री देह, बाजार आदि उपशीर्षकों में बाँटकर समझाने की कोशिश की गई है और साथ ही 21 वीं सदी के दूसरे दशक की कहानियों में वर्तमान साहित्यकारों द्वारा अभिव्यक्त स्त्री विमर्श की दशा और दिशा को दिखाने की कोशिश की गई है। इस दौर की कहानिकारों ने अपनी कहानियों के द्वारा बदलते स्त्री-पुरुष संबंधों की विकट स्थिति के साथ ही साथ प्रेम, काम और विवाह के बदलते हुए स्वरूप को अभिव्यक्ति दी है। वर्तमान दौर में स्त्री की आत्म निर्भरता की अनिवार्यता और इससे जुड़ी समस्याओं की पड़ताल भी कहानियों में की गई है। आज जिस प्रकार बाजार ने स्त्री देह का बाजारीकरण किया है, वहाँ स्त्री किसप्रकार अपनी देह और अस्मिता को बचाए रख सकती है, यह आज के स्त्री विमर्श की एक चुनौती है।

संदर्भ – ग्रंथ

आलोचनात्मक-ग्रंथ

1. अग्रवाल, रोहिणी. स्त्री लेखन स्वपन और संकल्प. राजकमल प्रकाशन, 2011.
2. अनामिका. स्त्रीत्व का मानचित्र. सारांश प्रकाशन, 1999.
3. अरोड़ा, सुधा. आम औरतः जिंदा सवाल. सामयिक प्रकाशन, 2008.
4. एंजेल्स. मार्क्स-एंजेल्स. संकलित रचनाएँ. भाग-3, प्रगति प्रकाशन.
5. किरण. डॉ. ज्योति. हिन्दी उपन्यास और स्त्री जीवन. मेधा बुक्स, 2004.
6. खेतान, प्रभा. उपनिवेश में स्त्री. राजकमल प्रकाशन, 2000.
7. गर्ग, मृदुला. मैं और मैं. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1984.
8. गुप्ता, रमणिका. स्त्री मुक्ति संघर्ष और इतिहास. सामयिक प्रकाशन, 2012.
9. चतुर्वेदी, जगदीश्वर. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श. अनामिका पब्लिशर्स एन्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लिमिटेड, 2011.
10. चौबे, देवेन्द्र. समकालीन कहानी का समाजशास्त्र. प्रकाशन संस्थान, 2001.
11. चौहान, विजेन्द्र सिंह. मीडिया और स्त्रीः एक उत्तर विमर्श. रिम्पी खिल्लन, साहित्य भारती, 2003.
12. देवी, उषा. नष्ट नीड़. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1955.
13. पडोडे, डॉ. विजय. जैनेन्द्र के उपन्यास साहित्य में स्त्री-पुरुष संबंध. अन्नपूर्णा प्रकाशन, 2006.
14. पाठक, विनय कुमार. हिन्दी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि. सामयिक प्रकाशन, 2005.
15. पाण्डे, मृणाल. परिधि पर स्त्री. राधा कृष्ण प्रकाशन, 1998.
16. प्रकाश, कृष्ण देव. समकालीन कथा साहित्य में स्त्री विमर्श.
17. ब्होरा, आशारानी. स्त्री सरोकार. आर्य प्रकाशन, 2002.
18. बोउवार, सोमेन द. स्त्री उपेक्षिता. अनुवाद प्रगति सक्सेना, हिन्दी पॉकेट बुक्स, 1998.
19. बोहरा, मोहन कृष्ण. तसलीमा के हक में. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2000.
20. महाजन, उषा. उठो अन्नपूर्णा साथ चले. हिमाचल पुस्तक भंडार, 1998.
21. यादव, उषा. हिन्दी की महिला उपन्यासकारों की मानवीय संवेदना. राधा कृष्ण प्रकाशन, 1999.
22. यादव, राजेन्द्र. आदमी की निगाह में औरत. राजकमल प्रकाशन, 2007.

23. राजकिशोर. स्त्री-पुरुषः कुछ पुनर्विचार. वाणी प्रकाशन, 2006.
24. रामदोनी, डॉ. रेशमा. समकालीन हिन्दी लेखिकाओं की कहानियों में अभिव्यक्त बहुआयामी विद्रोह.
25. लवलीन. प्रेम के साथ पिटाई. सामयिक प्रकाशन, 2007.
26. वर्मा, अर्चना. अतीत होती स्त्री और स्त्री का भविष्य. संपादन राजेन्द्र यादव, राजकमल प्रकाशन, 2008.
27. वर्मा, महादेवी. श्रृंख्ला की कड़िया. भारती भंडार, 1950.
28. वैकेटेश्वर, एम. हिन्दी उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन.
29. शर्मा, करुणा. कमलेश्वर के कथा साहित्य में स्त्री विमर्श. नवचेतन प्रकाशन, 2011.
30. शर्मा, नासिरा. औरत के लिए औरत. सामयिक प्रकाशन, 2018.
31. सिन्हा, मृदुला. मात्र देह नहीं है औरत. सामयिक प्रकाशन, 2009.
32. सेतिया, सुभाष. स्त्री अस्मिता के प्रश्न. कल्याणी शिक्षा परिषद, 2008.

आधार-ग्रंथ

1. अग्रवाल, रोहिणी. *'आओं माँ परी हो जाएँ'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.
2. अरोड़ा, सुधा. '*भागमति पंडाइन का उपवास यानी करवा चौथ पर भरवाँ करैले'*. कथादेश, फरवरी, 2013.
3. अरोड़ा, सुधा. *'एक औरतः तीन वटा चार'*. अन्नपूर्णा की आखिरी चिट्ठी (कहानी संग्रह), साहित्य भंडार, 2014.
4. अरोड़ा, सुधा. '*अन्नपूर्णा की आखिरी चिट्ठी'*. अन्नपूर्णा की आखिरी चिट्ठी (कहानी संग्रह), साहित्य भंडार. 2014.
5. अंचल, सुरेन्द्र. *'अंधेरे आपस में'*. मधुमती, दिसम्बर, 2011.
6. कविता. *'उस पार की रोशनी'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.
7. कविता. *'बावड़ी'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.
8. कश्यप, पुष्पलता. *'दरिंदे'*. मधुमती, अगस्ट- 2013.
9. कांकड़िया, मधु. *'सहेली'*. जलकुम्भी (कहानी संग्रह), वाणी प्रकाशन, 2020.
10. कुलश्रेष्ठ, मनीषा. *'केयर ऑफ स्वातघाटी'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.
11. गीताश्री. *'फ्रीबर्ड'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.
12. गीताश्री. *'गोरिल्ला प्यार'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.
13. गुजराल, तरसेम. '*बे दरो दीवार'*. कथादेश, फरवरी, 2013.

14. गुप्त, रजनी. *'नजरें'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.
15. गुप्त, रजनी. *'बदरंग दीवार के पार'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.
16. गुप्ता, वंदना. *'वह होती तो'*. बुरी औरत हूँ मैं (कहानी संग्रह), ए.पी.एन. पब्लिकेशन. 2017.
17. गुप्ता, वंदना. *'कातिल कौन'*. बुरी औरत हूँ मैं (कहानी संग्रह), ए.पी.एन. पब्लिकेशन. 2017.
18. गुप्ता, वंदना. *'ब्यार'*. बुरी औरत हूँ मैं (कहानी संग्रह), ए.पी.एन. पब्लिकेशन. 2017.
19. गुप्ता, वंदना. *'कर्तव्य पालन की सजा'*. बुरी औरत हूँ मैं (कहानी संग्रह), ए.पी.एन. पब्लिकेशन. 2017.
20. गुप्ता, वंदना. *'देह का गणित'*. पाखी, सितम्बर, 2019.
21. जहीर, नूर. *'नास्तिक कुनबा'*. परिकथा, सितम्बर-अक्टुबर, 2019.
22. जोशी, मालती. *'दरका हुआ दर्पण और खण्डित छवियाँ'*. कौन ठगवा नगरिया लूटल हो (कहानी संग्रह), वाणी प्रकाशन. 2019.
23. जोशी, मालती. '*मैं चुनौती हूँ पनौती नहीं'*. कौन ठगवा नगरिया लूटल हो (कहानी संग्रह), वाणी प्रकाशन, 2019.
24. टाकभोरे, सुशिला. '*शैला'*. हंस, मार्च, 2016.
25. नर्मदेश्वर. *'बिजली चट्टान'*. परिकथा, मई-जून, 2018.
26. प्रज्ञा. '*फ्रेम'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.
27. मनोहरा, रमेश. *'ऊँट पहाड़ के नीचे'*. मधुमती, मई-2011.
28. मिश्र, अल्पना. *'भय'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.
29. मिश्र, अल्पना. *'उपस्थिति'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.
30. मिश्र, *'इस जहाँ में हम'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.
31. मुनिन्द्र, सुषमा. *'विजेता'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.
32. राग, वंदना. *'नमक'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.
33. राय, जयश्री. *'मोहे रंग दो लाल'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.
34. राय, जयश्री. *'काली – कलूटी'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.
35. राय, जयश्री. *'कायांतर'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.
36. राय, जयश्री. *'ड्रांइविंग लाइसेन्स'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.
37. राय, जयश्री. *'पिंजड़ा'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.
38. राय, सारा. *'सीमा रेखा'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.

39. रोबर्ट्स, अरनी. *'फर्क'*. मधुमती, अप्रैल, 2011.

40. शर्मा, लता. *'आधी तीयल'*.

41. शर्मा, हर्षबाला. *'तवायफ'*. लमही, अप्रैल-जुन, 2015.

42. शिरिष, उर्मिला. *'एक और प्रतिज्ञा'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.

43. सक्सेना, ईश्वर चन्द्र. *'तुम न जाती'*. मधुमती, मई, 2011.

44. स्वेता, श्वेता. *'आखिरी गाँव अटारी'*. सामयिक सरस्वती, जुलाई –सितम्बर, 2019.

45. सिंह, नीलाक्षी. *'रंगमहल में नाची राधा'*. हिन्दी समय डॉट कॉम.

46. हर्षवर्द्धन, निरूपमा. *'यवनिका के पीछे'*. मधुमती, मार्च-अप्रैल, 2012.

पत्र-पत्रिकाएँ

1. उत्तर दर्शन. 16 फरवरी, 2003.
2. कथादेश. फरवरी, 2013.
3. तद्भव. अंक-39.
4. परिकथा. मई-जून. 2018.
5. परिकथा. सितम्बर-अक्टुबर, 2019.
6. पाखी. सितम्बर, 2019.
7. मधुमती. अप्रैल, 2011.
8. मधुमती. दिसम्बर, 2011.
9. मधुमती. मई, 2011.
10. मधुमती. मार्च-अप्रैल, 2012.
11. मधुमती. अगस्ट, 2013.
12. लमही. अप्रैल-जून, 2015.
13. वसुधा. विशेषांक. अंक-59-60.
14. सामयिक सरस्ती, जुलाई-सितम्बर, 2019.
15. हंस. नवम्बर, 2002.
16. हंस. मार्च, 2016.

तृतीय अध्याय

वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में विमर्श के दलित सरोकार:-

तृतीय अध्याय

वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में विमर्श के दलित सरोकार:-

भूमिकाः

वैश्वीकरण के उपरान्त समाज में हाशिए में जी रहे दलित समाज में भी परिवर्तन आया। जाति प्रथा के नाम पर जिस समाज को हजारों वर्षों तक दबाया गया, दलित विमर्श ने उस समाज के अन्दर अपने अधिकारों को पाने के लिए चेतना जगाया। प्रमुख दलित आन्दोलनों की मदद से दलित समाज आज समानता की लड़ाई ही नहीं लड़ रहा है, बल्कि कई मामलों में इसे सफलता भी मिली है। दलित विमर्श के अन्तर्गत दलित समाज के अन्दर भी कई प्रकार के अन्तर्विरोधों का जन्म भी हुआ है। अतः इस शीर्षक के अंतर्गत 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में अभिव्यक्त दलित समाज की चेतना एवं दलित सरोकार को समझने की कोशिश की जाएगी।

3.1. दलित शब्द का अर्थः

आज 21वीं सदी में भी दलित शब्द का प्रचुर प्रयोग हो रहा है। दलित शब्द के साथ ही दलित विमर्श और दलित साहित्य हिन्दी साहित्य में एक प्रमुख मुद्दा बना हुआ है। दलित शब्द का प्रयोग जहाँ तुलसीदास के 'रामचरित मानस' में दिखाई पड़ता है तो वहीं गाँधी के 1925 में दिए गये एक भाषण में भी इस शब्द का प्रयोग करते हुए पाया गया है। किन्तु, आज के आधुनिक समय में दलित शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग हो रहा है। दलित शब्द की उत्पत्ति पर विचार करें तो हम पाते हैं-

हिन्दी गुजराती शब्दकोश में इसका अर्थ है- 'मसला हुआ, दलित, मर्दित, दबाया हुआ, रौंदा हुआ, खंडित, विनीत किया हुआ।'

मराठी-गुजराती शब्दकोश में इसका अर्थ है- 'दलित, कुचला हुआ, पीड़ित, दबा हुआ।'

दलित पेंथर के मेनिफेस्टों में नामदेव ढसाल ने दलित शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है- ''दलित याने कि अनुसूचित जाति, उपजाति, बौद्ध श्रमिक, जनता, मजदूर, भूमिहीन, खेत-मजदूर, यायावर और आदिवासी भी।'' (ढसाल 12,13) नामदेव ढसाल ने भले दलित के अंतर्गत सभी को, यहाँ तक कि आदिवासी को भी लिया है, किन्तु यह धारणा गलत है।

प्रो. नरसिंह दास वणकर का कहना है- ''दलित शब्द करुणा या पश्चताप को नहीं बल्कि बेवजह दमन और अपमान का शिकार होने के स्वभाविक रोष को व्यक्त करता है। दलित शब्द आक्रोश, चीख, वेदना, पीड़ा, चुभन, घुटन और छटपटाहट का प्रतीक है (वणकर14)।''

ओम प्रकाश वाल्मिकी के अनुसार- ''दलित शब्द का अर्थ है-जिसका दलन और दमन हुआ है, दबाया गया है, उत्पीड़ित, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित, घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनिष्ट, मर्दित, पस्त-हिम्मत, हतोत्साहित, वंचित आदि (वाल्मिकी 13)।''

श्योराज सिंह बेचैन के अनुसार- ''दलित वह है जिसे भारतीय संविधान ने अनुसूचित जाति का दर्जा दिया है।'' (बेचैन 14)

कँवल भारती का भी कहना है-

> दलित वह है जिसपर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है। जिसे कठोर और गंदे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है। जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिसपर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और वही दलित है, और इसके अंतर्गत वही जातियाँ आती है, जिन्हें अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है। (भारती 41)

बाबा अंबेडकर के अनुयायियों ने दलित शब्द का प्रयोग इस अर्थ में किया है-

> जिसे तोड़ दिया गया है और जिसे उसके सामाजिक दर्जे से ऊपर बैठे लोगों ने जानबूझकर नियोजित रूप से कुचल डाला है। इस शब्द में छुआछूत, कर्म सिद्धांत और जातिगत श्रेणी का नकार निहित है। (अंबेडकर196)

बद्रीनारायण दलित के संबंध में इंडिया टुडे में लिखते हैं-

> दलित भारतीय समाज की सामाजिक विषमता से जनित एक कैटेगरी है जिसमें मानुष द्वारा ही मानुष के अमानवीय शोषण को लेजिटिमाइज किया जाता है। दलित शब्द के भाषिक अर्थ के साथ-साथ इसके प्रयोग के इतिहास से भी इसका अर्थ बना है। भारतीय सामाजिक विमर्श में दलित शब्द का अर्थ भारतीय हाईरेरिकल समाज एवं जाति व्यवस्था में अछूत, निम्न एवं दलित समुदायों एवं जातियों से जुड़ गया है। (बद्रीनारायण 58)

डॉ. पुरुषोत्तम 'सुमनलिपि' पत्रिका में कहते हैं-

> दलित शब्द एक संवेदन है, विचार है जिसका अर्थ दबाया गया से है, दबा हुआ नहीं। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से शास्त्र एवं शस्त्र के बल पर दबाया गया मनुष्य किसी भी जाति, वर्ण, धर्म, मत, पंथ एवं भौगोलिक क्षेत्र का हो सकता है। (पुरुषोत्तम 05)

दलित शब्द को लेकर उपर्युक्त विद्वानों के विचारों को देखने के उपरान्त हम कह सकते हैं कि दलित शब्द से उस पद दलित वर्ग का बोध होता है, जो सदियों से हमारे देश में अछूत

रहा है और जिसे हमेशा शोषण का शिकार होना पड़ा है। दलित शब्द व्यापक अर्थ बोध को व्यंजित करता है। दलित वह प्राणी है, वह वर्ग है, जिसे हजारों साल ब्राह्मणवादी विचार ने, वर्णाश्रम व्यवस्था ने प्रताड़ित किया, जिसे समाज में हर प्रकार के अधिकार से वंचित रखा गया और आगे चलकर जिसे अंबेडकर के प्रयास से संविधान में अनुसूचित जाति की कैटेगरी में रखा गया।

दलित शब्द का अर्थ जहाँ वामपंथी दृष्टि में सर्वहारा है, वहीं दक्षिण पंथी दृष्टि में आर्थिक दृष्टि से वंचित, जबकि दलित चिंतन में जाति महत्वपूर्ण है। लेकिन, वामपंथी और दक्षिण पंथी दोनो ने जाति को महत्व नहीं दिया। हम जानते है कि भारतीय समाज में जाति का क्या स्थान है। पूरी व्यवस्था ही जाति पर आधारित है और उसमें दलित की कैटेगरी जातिगत है। समाज की सबसे नीची जाति में दलित आते हैं, जो हर प्रकार से वंचित, शोषित और दमित है। यह जाति व्यवस्था वर्ण व्यवस्था की ही उपज है और वर्ण व्यवस्था का मूल मनुवाद है। जाति आधारित इसी शोषण पर प्रकाश डालते हुए अंबेडकर का कहना है- ''चाहे आप किसी भी दिशा में देखें, जाति का एक ऐसा दैत्य है, जो आपके मार्ग में खड़ा है। आप जब तक इस दैत्य को नहीं मारेंगे, आप न कोई राजनीतिक सुधार कर सकते हैं, न कोई आर्थिक (अंबेडकर 66)।'' अतः दलित के शोषण का एकमात्र आधार उसकी जाति है। यह एक ऐसा दैत्य है जो हर जगह विद्यमान है, इसलिए अगर दलितों को मुक्ति चाहिए तो इस जाति नामक दैत्य को मारना ही होगा। वरना सारे सुधार चाहे राजनीतिक हो या सामाजिक, इसी जाति पर आकर खत्म हो जाएंगे।

3.2. वर्णाश्रम व्यवस्था और दलितः

वर्णाश्रम व्यावस्था मनुस्मृति द्वारा निर्मित एक ऐसी व्यवस्था है जहाँ मनुष्य को उसके कर्म के आधार पर चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में बाँटा गया। कर्म आधारित यही व्यवस्था आगे चलकर जन्म आधारित व्यवस्था हो गई। इसमें शूद्र की स्थिति सबसे खराब रही। तरह-तरह की मानसिक, आर्थिक एवं सामाजिक यातनाओं की व्यवस्था शूद्रों के लिए की गई। डॉ. तुलसीराम का कहना है-

> वर्ण व्यवस्था सिर्फ सामाजिक व्यवस्था नहीं थी, बल्कि धर्म पर आधारित एक क्रूर राजनीतिक प्रयास थी, जिसके मूल में भगवान का भय बड़ी कृत्रिमता से किन्तु निहायत संगठित रूप से खड़ा किया गया था। अतः भारतीय समाज का पूरा इतिहास तथा साहित्य इसी वर्ण प्रणाली के इर्द-गिर्द शुरू से ही चक्कर काटता चला आ रहा है। (तुलसीराम 134-135)

मनुस्मृति के अनुसार- लोक की वृद्धि के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सृष्टि क्रमशः ब्रह्मा के मुख, बाँह, उरू और पैर से हुई है।

> लोकानां तु विवद्धद्धयर्थं मुखबाहरुपादतः
>
> ब्राह्मणं क्षत्रियमं वैश्यंशूद्रं च निरवर्तयत्

मनुस्मृति के अनुसार ही ब्राह्मणों का कर्म पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान देना और लेना, क्षत्रियों का कर्म प्रजा की रक्षा, दान देना, यज्ञ कराना, वैश्य के कर्म पशुओं का पोषण, व्यापार करना, यज्ञ कराना, खेती करना आदि बताया गया। वहीं शूद्र का कर्म उपर्युक्त तीनों वर्णों की निन्दा रहित सेवा करना बताया गया। शूद्र को पढ़ने, व्यापार करने, खेती करने आदि मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया। मनुस्मृति में शूद्र का प्रधान कर्म ब्राह्मण की सेवा माना गया और इस सेवा के बदले शूद्र को भोजन से बचा हुआ जूठा अन्न, पुराने कपड़े, थोथा अनाज, पुराना बर्तन देना चाहिए, ऐसा कहा गया।

विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते

मदतोउन्यदि कुरते तद्भवत्यस्य निष्फलम् ।।

उच्छिष्ट मन्नंदातव्यं जीर्णानवसनाचि

पुलकाश्रैवधान्यानां जीर्णाश्रैव परिच्छदाः ।।

इसप्रकार मनुस्मृति के माध्यम से हिन्दू धर्म में शूद्र की स्थिति पशु से भी बदतर बना दी गई। मनुष्य जाति के एक बड़े हिस्से को सारे अधिकारों से वंचित करना समाज की साजिश थी, जिसका परिणाम आज भी दलित भोग रहा है।

वर्णाश्रम व्यवस्था के इतिहास पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो पाते हैं कि वर्ण शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में आर्य और दास के लिए किया गया। यह पहला वर्गीकरण था, जिसका आधार आर्थिक था, श्रम विभाजन नहीं। आर्यों के आगमन से पूर्व समाज में किसी भी प्रकार के वर्गीकरण का प्रमाण नहीं मिलता है। वर्ण के रूप में आर्य और दास का वर्गीकरण आगे चलकर समाज को चार भागों में बाँट दिया गया। इस ओर दृष्टि डालते हुए जयदेव वेदालंकार ने लिखा है – ''वेदों में समाज को चार भागों में विभाजित किया है। यह विभाजन साधारणतया अर्थ शास्त्र के कार्य-विभाजन सिद्धांत पर अवलम्बित है (वेदालंकार 57)।'' यह कार्य विभाजन आगे चलकर खास पेशा से सम्बद्ध हो गया, फिर यह पेशा ही उसकी पहचान बनी और पेशा वर्ण से जुड़ गया। वर्ण से जाति का संबंध कैसे हुआ। इसे लेकर विद्वानों में कई मतभेद है। हटन ने लिखा है –

> ऐसी संभावना अधिक है कि वैदिक युग में वर्ण वर्ग का समानार्थी था न कि जाति का। उत्तर वैदिक काल के विद्वानों ने वर्ण के स्वरूप को जाति-व्यवस्था के अर्थ में ग्रहण किया जिससे वे परिचित थे। जो भी हो आज वर्ण जाति नहीं है। इसे हम जातियों का समूह मान सकते हैं। (हटन 63)

जैसे-जैसे समाज आगे बढ़ता गया वर्ण अपरिवर्तनीय रहा, जबकि जाति लगातार टूटती रही और एक जाति के अंदर ही कई उपजातियों का या नई जातियों का जन्म हुआ। दलित इसी शूद्र में आता है जिसकी उत्पत्ति का कारण आर्थिक ही है, लेकिन ये दलित ऋग्वेद में अछूत नहीं माने गए। ये अस्पृश्य नहीं थे। ऋग्वेद में जिस समाज का वर्णन है, वहाँ

अस्पृश्यता का उल्लेख तक नहीं है। वास्तव में जिसे अछूत कहा गया वह शूद्र से ही टूटकर आया। निकृष्ट काम जैसे शव उठाना, मरे पशु उठाना, मल साफ करना आदि के लिए शूद्र वर्ग को ही काटा गया जो अछूत कहलाये। यह श्रेणी शूद्रों से नीचे की श्रेणी में गिनी जाती हैं। वैदिक काल में अस्पृश्यता का कोई प्रमाण नहीं मिलता है, वहीं उत्तर वैदिक युग में मनुस्मृति की रचना के उपरान्त अस्पृश्यता जाति-व्यवस्था में प्रवेश कर गई। मनुस्मृति में कहा गया है -''स्वर्गलोक या परलोक के लिए शूद्रों को ब्राह्मण के सेवक के रूप में सेवा करनी चाहिए। यदि वह ब्राह्मण का सेवक होगा तभी उसे मोक्ष प्राप्त होगा। शूद्र का श्रेष्ठ कर्म केवल ब्राह्मण की सेवा है बाकि सब उसका नाकाम रहेगा (भिक्षु अखण्डानन्द 642)।''

वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत शूद्र का किसी भी धार्मिक अनुष्ठान में प्रवेश करना निषिद्ध था। इतना ही नहीं दमन इस हद तक था कि यदि कोई शूद्र वेद मंत्रों को सुन भी ले, तो उसके कानों में पिघला हुआ शीशा डाल देने और यदि मंत्रों का उच्चारण करें तो उसकी जिह्वा काट दिया जाता था। इस शूद्र जाति को धर्म का हवाला देकर सवर्णों ने उसपर विभिन्न तरीकें से शोषण करने का लाईसेंस प्राप्त कर लिया। शूद्र जाति ने भी यह मान लिया कि इस जाति का जन्म ईश्वर ने शोषित होने के लिए ही किया है। इस परिस्थिति पर प्रकाश डालते हुए राजेश कुमार का कहना है –

> दूसरी तरफ भारत जैसे समाजों में विषमताओं को धार्मिक अनिवार्यता बनाकर, उन्हें ईश्वरीय मान्यता देते हुए वर्ण-व्यवस्था लागू कर दी जाती है। ऐसे में विषमताओं के विरुद्ध संघर्ष का अधिकार भी छिन जाता है क्योंकि विषमताएँ ईश्वर का पर्याय बना दी जाती है। विषमताओं का यहीं ईश्वरीय रूप वर्ग भेद को और अधिक गहरा और स्थाई बना देता है। अर्थात् वर्ग-भेद ईश्वरीय मान्यता प्राप्त वर्ण भेद में तब्दील हो जाता है। (कुमार 104)

ऐसा नहीं है कि वर्ण – व्यवस्था का कभी विरोध इतिहास में हुआ ही नहीं, बल्कि इसकी उत्पत्ति के साथ ही इसका विरोध भी कई रूपों में होता आया है। यह विरोध बौद्ध, सिद्ध, नाथ और संत से होते हुए नवजागरण काल तक देखने को मिलता है, यह अलग बात है कि दलितों की समस्या का कोई टिकाऊ हल किसी युग में नहीं निकल पाया, आगे चलकर इसी शोषित समाज ने खुद अपनी मुक्ति का जिम्मा उठाया।

दलितों द्वारा वर्ण-व्यवस्था का विरोध दलित के लिए अवश्यम्भावी है। यही कारण है कि दलित चिंतकों ने वर्ण-व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए हिन्दू समाज की परम्परागत व्यवस्था और शास्त्रों का विरोध किया है। दलित साहित्य के मूल में स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावना सर्वोपरी है। यह दलितों के मानवाधिकारों की बात करता है। साक्षान्त मास्के कहते हैं- ''दलित साहित्य समाज में भेद-भाव पूर्ण व्यवस्था को समाप्त कर एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता है जिसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व की पहचान उसके गुणों से हो न कि उसकी जाति से। (मास्के 16)।'' यह जातिगत व्यवस्था इतना

मजबूत था कि इसपर सामाजिक सुधार आन्दोलन का भी कम ही प्रभाव पड़ा। दलित साहित्य का मूल उद्देश्य ही वर्ण एवं जाति व्यवस्था का विरोध करना है। धर्म-ग्रंथों में लिखित वर्ण-व्यवस्था, अस्पृश्यता का विरोध ही दलित साहित्यकार अपनी रचनाओं द्वारा कर रहा है। अंबेडकर ने मनुस्मृति जलाकर इसका विरोध किया था। आज भी देश में हर साल सैकड़ो घटनाएँ जाति प्रथा के नाम पर घटती है। चाहे खाप पंचायत हो या देश के किसी कोने का साधारण सा गाँव, जातिप्रथा इस कदर विकृत हो चुकी है कि पढ़े-लिखे लोग भी वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन करते हुए इसके नाम पर दलितों पर होने वाले मॉब लिंचिंग में शामिल होते देखे जाते हैं। अस्पृश्य लोगों के साथ अमानवीय व्यवहार सैकड़ों वर्षों से होता आया है। शूद्रों का सामाजिक, मानसिक, धार्मिक और आर्थिक शोषण किया जाता रहा है। सर्वप्रथम बुद्ध ने ही वर्ण व्यवस्था पर प्रहार कर सामाजिक चेतना जगाने का काम किया था। यह बौद्धिक परम्परा ही ज्योतिबा फूले के क्रांतिकारी विचारों का आधार बना। इस चेतना ने ही दलितों को ब्राह्मणवादी सामंती ताकतों से लड़ने के लिए साहस प्रदान किया। जिस वर्ण व्यवस्था के कारण दलितों का अधिक से अधिक शोषण हुआ, उसका क्रूरतम रूप दक्षिण में तमिलनाडू में सबसे अधिक था, जहाँ वर्ण व्यवस्था का विरोध ई. रामस्वामी नायकर द्वारा शुरु हुआ। किन्तु, दलित साहित्य का स्पोट तमिल भाषा में न होकर मराठी भाषा में हुआ। मराठी के दलित आन्दोलन को फुले, अंबेडकर और शाहू जी का दिशा निर्देश मिला।

आज भी दलितों का मंदिरों में प्रवेश करने पर, मंदिर को अपवित्र करने के अपराध में उन्हें दण्डित किया जाता है। अंबेडकर ने अपने समय में इस छुआछूत और जातिभेद को मिटाने के लिए दलितों को हिन्दुओं से अलग उपनिवेश बनाने का आह्वान किए थे। इससे हिन्दू समाज में खलबली भी मची थी, जिसके कारण हिन्दू मंचों से भी छुआछूत मिटाने की आवाजें उठने लगी थी। अंबेडकर ने वर्ण व्यवस्था का विरोध करते हुए 25 दिसम्बर 1927 को मनुस्मृति की सार्वजनिक होली जलाई थी। उन्होंने अपेक्षा पत्रिका में वर्ण व्यवस्था को दोष देते हुए कहा – ''वर्ण-व्यवस्था के इस असंतुलित वर्ग-विभाजन के कारण विशेषाधिकार प्राप्त जातियाँ बन गई हैं, जिससे असमाजिक भावनाएँ पैदा होती हैं (अंबेडकर 50)।'' वे जानते थे कि वर्ण व्यवस्था में शूद्रों को शिक्षा, सम्पत्ति तथा मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया है। स्वतंत्रता, समानता के निर्माण में जातिवाद और छुआछूत बहुत बड़ी बाधा है। इसलिए वे कहते हैं –

> जातिवाद का दानव जब तक नहीं मरता, तब तक आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तन की बात सपना ही रहेगी। क्योंकि जातिवाद, वर्ण-व्यवस्था न तो श्रम विभाजन पर आधारित है, न प्रकृति प्रदत्त है। स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व की भावना जीवन-मूल्यों में मूलभूत परिवर्तन लाने पर ही संभव है। (अंबेडकर 14)

अजय नावरिया का यह कहना है कि वर्ण-व्यवस्था बहुत पुरानी चीज नहीं है। यह मिथ्या है कि यह व्यवस्था बौद्ध धर्म के समय में भी थी क्योंकि मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त जैन धर्म को मानते थे तो उनके पुत्र बिन्दुसार आजीवक धर्म को, वहीं उनके पौत्र अशोक बुद्ध धर्म के

उपासक थे। उनके अनुसार यह व्यवस्था पूरे भारत में व्याप्त नहीं थी, हाँ जहाँ ब्राह्मणों का प्रभाव था, वहाँ यह व्यवस्था ज्यादा देखी जा सकती थी। उनका कहना है- ''समझना यह होगा कि वर्ण-व्यवस्था एक दृष्टि है, जो किसी भी राज्य में राज करने वाले को क्षत्रिय, पूजा पाठ करने वाले को ब्राह्मण, व्यापार या कृषि कार्य करने वाले को वैश्य तथा अन्य सभी को शूद्र मानती है (नावरिया 6)।'' यह वर्ण-व्यवस्था बहुत बाद में जाति व्यवस्था में बदली और जाति के अंदर अस्पृश्यता की शुरुआत बाद में हुई होगी। भारत के इतिहास में नंद वंश और मौर्य वंश शूद्रवंशी राजा थे, अर्थात् शूद्र जाति अस्पृश्य नहीं थी। किन्तु, कालान्तर में इसी वर्ण व्यवस्था को आधार बनाकर जाति व्यवस्था का जन्म हुआ और यही दलितों के शोषण का मुख्य हथियार बना।

3.3. दलित साहित्य का स्वरूपः

21वीं सदी के दूसरे दशक में जहाँ एक ओर दुनिया का निर्माण समानता, न्याय और वैज्ञानिकता के आधार पर करने की बात चल रही है, वहीं आए दिन समाचार पत्रों में भारत के किसी न किसी राज्य में सवर्णों द्वारा दलितों के शोषण और हत्या की खबर दिल को दहला दे रही है। एक ओर जहाँ प्रधान सेवक द्वारा अंबेडकर के विचारों की प्रशंसा कर उसकी मूर्ति पर माल्यार्पण किया जा रहा है, वहीं दूसरी ओर कट्टर सवर्ण हिन्दुओं द्वारा अंबेडकर की मूर्तियाँ तोड़ कर प्रतिक्रिया व्यक्त की जा रही है। एक ओर अगर इंडिया शाइन कर रहा है तो दूसरी ओर आज भी एक बड़ा हिस्सा शोषित, उपेक्षित और बर्बरता का शिकार हो रहा है, यह भारत के विश्व शक्ति बनने की राह में बाधा है। दलित चाहे भारत के किसी कोने का हो या विश्व के किसी भी भू-भाग का, उनमें स्वाभिमान से जीने की आकांक्षा समान होती है, किन्तु सदियों से यह वर्ग अपमान, छुआछूत, जातिभेद, अत्याचार का शिकार होता आया है। बाबा अंबेडकर से शक्ति प्राप्त करके ही अब साहित्यकार युगों – युगों से दलितों पर हो रहे अत्याचार की दास्ताँ को चित्रित करने लगा है। ऐसी अभिव्यक्तियों का साहित्य ही दलित साहित्य है।

दलित साहित्य की अवधारणा बुद्ध और अंबेडकर के विचारों और जीवन दर्शन से प्रेरित है। दलन और उत्पीड़न से ही इस साहित्य का जन्म हुआ है। दलित साहित्य की शुरुआत दक्षिण में मराठी साहित्य से हुई। हिन्दी में यह बीसवीं सदी के अंत में ज्योतिबा फूले, अंबंडकर आदि के चिंतन से प्रेरित होकर आया। दक्षिण में ब्लैक लिटरेचर से दलित पैंथर का उदय हुआ। मराठी में नामदेव ढसाल, दया पवार, डॉ. पानतावड़े जैसे दलित साहित्यकारों ने इसकी कमान संभाली। हिन्दी में दलित साहित्य की एक टीम बनी, जिन्होंने दलित विमर्श को आगे बढ़ाने का कार्य किया। इनमें ओमप्रकाश वाल्मिकी, डॉ. माता प्रसाद गुप्त, मोहनदास नैमिशराय, डॉ. एन. सिंह, डॉ. जय प्रकाश कर्दम, डॉ. धर्मवीर, प्रो. श्योराज सिंह बेचैन, मलखान सिंह, बुद्धशरण हंस, रत्न कुमार सँभरिया, कँवल भारती, रूपनारायण सोनकर, डॉ. कैलास दाहिया, डॉ. दिनेशराम, डॉ. दयानन्द बटोही, डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, अनन्तिका प्रसाद मरमट, डॉ. कुसुम वियोगी, नवल वियोगी, जसराम हरनोटिया, याद करण याद, डॉ. राजपाल सिंह, डॉ. कालीचरण आदि

प्रमुख रहे। महिला लेखिकाएँ भी इस आन्दोलन में पीछे नहीं रही। इसमें प्रमुख रूप से डॉ. कुसुम मेघवाल, रजनी तिलक, अनीता भारती, डॉ. सुशीला टाकभोरे, डॉ. रजत रानी मीनू, डॉ. रजनी अनुरागी आदि का नाम लिया जा सकता है।

दलित साहित्य किसे कहा जाय, यह प्रश्न दलित विमर्श के लिए महत्वपूर्ण है। इस प्रश्न पर विद्वानों में दो मत है जिसका आधार है- स्वानुभूति और सहानुभूति। कँवल भारती का कहना है –

> दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है जिसमें दलितों ने स्वयः अपनी पीड़ा को रूपायित किया है। अपने जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उनकी उसी अभिव्यक्ति का साहित्य है। यह कला के लिए कला नहीं, बल्कि जीवन का और जीवन की जिजीविषा का साहित्य है। इसीलिए कहना न होगा कि वास्तव में दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की कोटी में आता है। (भारती 41)

वहीं विद्वानों का एक पक्ष यह मानता है कि गैर दलितों द्वारा दलितों की चेतना को आधार बनाकर लिखा गया सहानुभूतिपरक साहित्य भी दलित साहित्य की कैटेगरी में आना चाहिए। जहाँ तक दलित विमर्शकारों का सवाल है, वे एकमत हैं कि दलितों द्वारा दलितों के लिए लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है। इसी संदर्भ में माता प्रसाद का कहना है-

> दलित साहित्य, दलितों की दर्द-भरी दास्तान और चीख-भरी पुकार ही नहीं, बल्कि उसे दूर करने के लिए संघर्ष की एक तलवार भी है। यह उनकी दयनीय स्थिति के कारणों की खोज कर उसके निवारण के लिए भी प्रतिबद्ध है। दलित साहित्य जाति, वर्ण, नस्ल, लिंग भेद से उठकर सभी की स्वतंत्रता, समानता, न्याय और बंधुता का पक्षधर है। (गुप्त 21)

ओम प्रकाश वाल्मिकी इसे जन साहित्य तक कह देते हैं जिसमें संघर्ष और विद्रोह दोनों हैं। वे कहते हैं –

> दलित साहित्य जन साहित्य है, यानी मास लिटरेचर। सिर्फ इतना ही नहीं, लिटरेचर ऑफ एक्शन भी है जो मानवीय मूल्यों की भूमिका पर सामंती मानसिकता के विरूद्ध आक्रोशजनित संघर्ष है। इसी संघर्ष और विद्रोह से उपजा है दलित साहित्य। (वाल्मिकी 15)

गैर दलितों की रचनाओं में सहानुभूति तो हो सकती है, लेकिन आक्रोश नहीं। ऐसी रचनाओं के संबंध में मोहनदास नैमिशराय का कथन है –

> दूर बैठकर कल्पना के आधार पर दलितों की पीड़ा के वर्णन को दलित साहित्य कहना न्यायसंगत नहीं। यह बिल्कुल ऐसे ही होगा, जैसे दलित शोषितों को दूर से

> फेंककर रोटी दान करना। जबकि दलित वर्ग से आये लेखकों ने जो लिखा उनकी रचनाओं में अथाह पीड़ा रही, आक्रोश का ज्वार बार-बार उफनता रहा, इसलिए कि वे सामाजिक विषमता के भुक्तभोगी थे। (नैमिसराय 23)

मोहनदास नैमिशराय सहानुभूति को दलित आन्दोलन के लिए अनुपयोगी मानते हैं। इसी कारण वे प्रेमचन्द और निराला जैसे रचनाकारों की सहानुभूति आधारित दलित रचना को दलित साहित्य नहीं मानते। उनका मानना है कि दलितों को हजारों वर्षों से जो वेदना और प्रताड़ना विरासत में मिली है उसे गैर दलित भला कैसे समझ सकता है। वे लिखते हैं-

> ...अकेले सहानुभूति से काम नहीं चलता क्योंकि सहानुभूति के पात्र विद्रोह नहीं करते। वे लाचारी और मजबूरी में जीते हैं। तब ऐसे साहित्य की आज के संदर्भ में क्या उपयोगिता है- यह एक महत्वपूर्ण सवाल सभी साहित्यकारों के सामने खड़ा है। (नैमिसराय 62)

दलित समाज ने हजारों वर्षों से जिस पीड़ा और शोषण को भोगा है, उस अनुभव को गैर दलित जान ही नहीं सकता है। इसके बावजूद परमानन्द श्रीवास्तव, नामवर सिंह, रामविलास शर्मा जैसे आलोचक विभिन्न तर्कों के माध्यम से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि दलित साहित्य लिखने के लिए लेखक का दलित होना आवश्यक नहीं। इन आलोचकों को ज्योतिबा फूले यह कहकर जवाब देती है कि – ''गुलामी की यातना जो सहता है वही जानता है और जो जानता है वही पूरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है जलने का अनुभव और कोई नहीं (पाण्डेय 275)।'' दलित साहित्य पर साहित्य के पुरोहितों द्वारा नैतिकता, भाषा, अश्लीलता आदि दोष लगाये गये, सब सहते हुए भी यह साहित्य आगे बढ़ता रहा। पहली बार ऐसा हो रहा था कि दलितों द्वारा अपने निजी अनुभवों को दुनिया के सामने खोलकर अभिव्यक्त किया जा रहा था। शोषक वर्ग के साजिशों को बेनकाब किया जा रहा था। सूरज बड़त्या लिखते हैं –

> हाशिए के जिस समाज को अभी तक तथाकथित सभ्य समाज ने असभ्य, बर्बर, जंगली, अछूत और अनैतिक माना था, उसी समाज ने जब अपने सत्य को साहित्य के स्थापित दर्पण में दिखाने की कोशिश की तो साहित्य का वह उपमान रूपी दर्पण दरक गया। (बड़त्या 72)

दलित साहित्य दलितों की पीड़ाओं और वेदनाओं की अभिव्यक्ति का साहित्य है। यह वर्ण व्यवस्था के खिलाफ़ विद्रोह और मनुष्य की स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की पैरवी करने वाला साहित्य है। रमणिका गुप्ता की मान्यता है – ''दुनिया का नब्बे प्रतिशत साहित्य आजादी की चाह के लिए लिखा जाता रहा है। दलित साहित्य आजादी के साथ-साथ समता, बंधुत्व की चाह को भी समान स्तर पर रखकर साहित्य रचता है (गुप्ता 08)।'' ईश कुमार गंगोनिया दलित साहित्य की सीमा को बढ़ाते हुए इसे अंबेडकरवादी साहित्य के नाम से पुकारने की वकालत करते हैं। वे कहते हैं –

> इसे अंबेडकरवादी साहित्य कहने से मेरा आशय उस साहित्य से है जो अंबेडकरवादी चिंतन पद्धति पर आधारित है। इस साहित्य के केन्द्र में मुख्य रूप से वही शोषित-उत्पीड़ित यानी मूल निवासी समाज है, जिसे आज दलित के रूप में जाना जाता है। तथाकथित दलित समाज को केन्द्र में रखने के साथ-साथ यह साहित्य इंसानी मूल्यों का सबसे बड़ा हिमायती है और जाति की सीमाओं के पार भी इसका प्रयास दखल है। (गंगोनिया 54)

गैर दलितों द्वारा लिखे गये साहित्य को भले दलित विमर्शकार दलित साहित्य की कोटी में न रखें, किन्तु दलितों के जीवन को आधार बनाकर हिन्दी साहित्य में एक से एक लेखकों की उम्दा रचनाएँ आई है। इनमें प्रेमचन्द की कई कहानियाँ जैसे ठाकुर का कुआँ, घासवाली, सद्गति, मंत्र, कफन आदि हैं, तो सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के बिल्लेसुर बकरिहा तथा चतुरी चमार आदि का जिक्र किया जा सकता है। आधुनिक काल में भी नागार्जुन, डॉ. शिव प्रसाद सिंह, गिरिराज किशोर, अमृत लाल नागर जैसे लेखकों ने बलचनमा, नाच्यौ बहुत गोपाल जैसे महत्वपूर्ण उपन्यासों द्वारा दलितों की स्थिति को उजागर किया है।

बीसवीं सदी का अंतिम दशक दलित साहित्य के विकास में एक प्रमुख मोड़ है। यही वह समय है जब दलित साहित्य का विधागत विस्तार होता है। जिस दलित साहित्य की शुरुआत 'हीराडोम' की कविता 'अछूत की शिकायत' से होती है, अब इसका विस्तार कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, निबंध, नाटक और आलोचना के क्षेत्रों में हुआ। आज दलित साहित्य का स्वरूप अखिल भारतीय हो गया है। अब इसका लेखन भारत की कई भाषाओं में हो रहा है। ओम प्रकाश वाल्मिकी ने कहा भी है कि दलित भाषावाद, अलगाववाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद को नकारता है तथा पूरे देश को एक सूत्र में पिरोने का कार्य करता है।

3.4. दलित विमर्श और राजनीतिः-

राजनीति का प्रमुख लक्ष्य है सत्ता प्राप्त करना, इसलिए सत्ता के लालच ने राजनीति को हमेशा से धर्म और जाति केन्द्रित ही रखा है। भारतीय राजनीति में हर मुद्दे का राजनीतिकरण होता है, जिससे हमारा समाज राजनीति की विषाक्त खेमेंबन्दी का शिकार होता रहा है। जब हम दलित राजनीति की बात करते हैं तो दलित साहित्य विमर्श के लिए दलितों का राजनीतिक भागीदारी एक महत्वपूर्ण विषय बन जाता है। दलितों की मुक्ति के लिए यह आवश्यक है कि हमारे निति नियंताओं तक दलित भी पहुँचे।

दलितों के प्रणेता डॉ. अंबेडकर द्वारा दलितों के राजनीतिक अधिकारों की चर्चा के साथ ही दलित राजनीति की शुरुआत हो जाती है। भारतीय समाज में जातिगत व्यवस्था सामाजिक आन्दोलन के उपरान्त भी खत्म नहीं हुई। अंबेडकर ने अंग्रेजों से दलित प्रतिनिधि की माँग की थी। उनकी राय थी कि दलितों की मुक्ति के लिए सवर्ण प्रतिनिधियों के समक्ष हाथ फैलाने से मुक्ति नहीं मिलेगी। अतः जरूरत है कि सत्ता में दलित वर्ग के प्रतिनिधि को जगह मिले। एक दलित ही एक दलित के हित में सोच सकेंगे, उन्हें किसी अन्य पर निर्भर

नहीं रहना पड़ेगा। अंबेडकर स्वतंत्र भारत में दलितों की क्या स्थिति होगी, इसको लेकर चिंतित थे। इसलिए वे दलित संघर्ष को राजनीतिक संघर्ष बनाना चाहते थें। वे कहते हैं – ''अपनी पहचान होनी चाहिए और अपनी पहचान के लिए लड़ना और अस्मिता की भावना को जगाना उचित और स्वभाविक है जो केवल राजनीतिक धरातल पर ही संभव है (अंबेडकर 18)।'' किन्तु, पूना पैक्ट ने दलित राजनीति की दिशा ही बदल दी। वर्गीय प्रतिनिधि के स्थान पर दलितों को जातिगत आधार पर खड़ा कर दिया गया। आरक्षण व्यवस्था ने दलित राजनीति को जाति केन्द्रित कर दिया। कांग्रेस की हरिजन राजनीति ने दलितों के अंदर भी जाति का भेद पैदा किया और आगे चलकर हरिजन शब्द दलितों के भंगी जाति का पर्याय बनकर रह गया। दलितों द्वारा सत्ता में प्रतिनिधि पाने के बाद भी कमान सवर्णों के हाथों में ही रहा। पढ़ा-लिखा और सत्ताधारी दलित खुद को सामान्य दलित से अलग समझने लगा। अंबेडकर इन परिस्थितियों से भलिभाँति परिचित थे। अतः उन्होंने 1937 में इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी बनाकर जाति संघर्ष से वर्ग संघर्ष पर जोर देते हैं और अपने भाषण में कहते हैं-

> मेरे विचार से इस देश के दो दुश्मनों से कामगारों को निपटना होगा। ये दो दुश्मन है, ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद...। ब्राह्मणवाद से मेरा आशय स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं के निषेध से है। यद्यपि ब्राह्मण इसके जनक है, लेकिन यह ब्राह्मणों तक सीमित न होकर सभी जातियों में घुसा हुआ है। (अंबेडकर 165)

अगर हम दलित राजनीति के इतिहास पर गौर करें तो हम देख सकते है कि दलित राजनीति के पहले नेता अंबेडकर यह चाहते थे कि स्वतंत्र भारत की बागडोर मजदूर वर्ग के पास हो। वे जानते थे कि अगर स्वराज सवर्णों के हाथों में आयेगा तो दलितों की स्थिति में कोई सुधार नहीं होगा। इसलिए उन्होंने सोशलिस्टों, वामपंथियों जैसे अन्य संगठनों से भी हाथ मिलाने की कोशिश की थी, किन्तु अन्य संगठनों ने ब्राह्मणों के खिलाफ़ संगठन को अपना मुद्दा नहीं बनाया। डॉ. अंबेडकर आगे चलकर रिपब्लिक पार्टी ऑफ इंडिया नामक नई पार्टी की नींव डालते हैं, किन्तु इसका गठन करने से पहले ही उनकी मृत्यु हो जाती हैं। आगे चलकर इस पार्टी को व्यापक सफलता मिली। जयभीम के नारों और नीली टोपी, नीला झंडा तथा हाथी निशान ने अच्छा प्रभाव जमाया। महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश में इस पार्टी को कई सीटें भी मिली। इस पार्टी के पहले राष्ट्रीय अध्यक्ष दादा साहेब गायकवाड़ ने पार्टी के लिए जी जान से मेहनत की, किन्तु इससे कांग्रेस सरकार संकट में आ गई। अतः कांग्रेस पार्टी की सरकार ने रिपब्लिक पार्टी के कई नेताओं को सत्ता का प्रलोभन देकर अपने में मिला लिया और पार्टी को खंडित कर दिया।

1980 के दशक में कांशीराम का उदय दलित आन्दोलन के नेता के रूप में होता है। उन्होंने बामसेफ (बैकवार्ड एन्ड मॉइनोरिटी कम्युनिटीज इमपलाईज फेडेरेशन) का गठन कर दलित, पिछड़े और अल्पसंख्यकों को एक करने की कोशिश की। इस विशाल संघ का आधार पाकर कांशीराम ने 1988 में बहुजन समाज पार्टी (बसपा) का गठन किया। बसपा की ओर से कई कार्यक्रम चलाये गये। पूना पैक्ट के 50 वर्ष पूरे होने पर 1982 में कांशीराम

द्वारा धिक्कार रैली निकाली गई। उनका उद्देश्य कांग्रेस का दलित वोट बैंक खत्म करना था। उन्होंने दलितों को उनके वोट की कीमत समझाई। बसपा ने रिपब्लिकन पार्टी की ही नीले झंडे और हाथी के निशान को अपना चिह्न बनाया। इस आन्दोलन ने दलित जातियों में जातीय ध्रुवीकरण की चेतना पैदा की। फलस्वरूप पहली बार सपा-बसपा ने गठबंधन कर चुनाव लड़ा और गठबंधन की पहली सरकार बनी। किन्तु, यह सरकार ज्यादा दिन नहीं चल सकी और मायावती ने सपा से गठबंधन तोड़कर भाजपा जैसी पार्टी के साथ केवल सत्ता पाने के लिए गठबंधन की और वह 1995 में मुख्यमंत्री बनी। सत्ता के लालच ने मायावती को दलित के मुद्दे से भटका दिया और दलित विरोधी पार्टी के साथ ही मिलकर 1997 और 2002 में फिर मुख्य मंत्री बनी। बसपा द्वारा संचालित ब्राह्मण सम्मेलन जैसे कार्यक्रमों ने यह साबित कर दिया कि बसपा केवल सत्ता की पार्टी रह गई है। अब इसे दलित प्रतिनिधि कहना गलत होगा। यहीं से दलित राजनीति में भटकाव उत्पन्न होता है। इसे लक्ष्य कर गोपेश्वर सिंह का कहना है –''दलित राजनीति की एक बड़ी समस्या दलित और पिछड़े वर्ग के नेताओं में बहुआयामी और दूरगामी राजनीतिक दृष्टि का अभाव है। इसके कारण उनमें एकता की जगह टकराव और संघर्ष की स्थिति है (सिंह 104)।''

दलितों के साथ राजनीति तो तभी शुरू हो गई थी जब अछूत समस्या को लेकर गाँधी और अंबेडकर के बीच मतभेद शुरू हुआ। गाँधी भी अछूत की समस्या को गहरी समस्या मानते थे, किन्तु वे जाति प्रथा के हिमायती थे और अस्पृश्यता का समाधान सवर्ण हिन्दुओं के हृदय परिवर्तन द्वारा सम्भव मानते थे, जबकि अंबेडकर स्थितियों में आमूल चूल परिवर्तन चाहते थे। वे दलित को भारत की स्वतंत्रता के साथ हिन्दू धर्म की दासता से भी आजादी चाहते थे। तभी कांग्रेस अंबेडकर के स्थान पर जगजीवन राम को आगे बढ़ाकर उनके हाथों में दलित नेतृत्व की कमान सौंपना चाहते थे।

उदय प्रकाश ने डॉ. भीमराव अंबेडकर को विश्व राजनीति का नेता माना था, फिर भी भारतीय राजनीति में वे एक प्रकार से असफल ही हुए। इसका मुख्य कारण यह हो सकता है कि भारतीय राजनीति में जातिवाद व धर्मांधता, बोद्धिकता व व्यक्ति की योग्यता पर भारी पड़ता है। ईश कुमार गंगोनिया के शब्दों में कहे तो-

> अंबेडकरवादी साहित्य- विमर्श राजनीति में किसी तरह के धर्म, जाति, वर्ग व क्षेत्र की घालमेल का विरोध करता है क्योंकि ये सभी समाज विनाशकारी विभाजन न आपसी टकराव के अवसर पैदा करते हैं जबकि अंबेडकरवादी साहित्य संकीर्णता के पोषक सभी प्रकार के विभाजन को समाप्त करने का आन्दोलन है। (गंगोनिया 65)

अंबेडकर के लिए समाज सुधार पहले आता है, राजनीति में हस्तक्षेप बाद में। वे यह मानते हैं कि समाज का पुनर्निर्माण जरूरी है, एक प्रबुद्ध समाज ही आदर्श राजनीति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। वे कहते भी है – ''इतिहास समान्यतः इस प्रस्ताव को बल देते हैं कि राजनीतिक क्रांतियाँ हमेशा सामाजिक और धार्मिक क्रांतियों के बाद हुई है (अंबेडकर 6) ।'' डॉ. अंबेडकर राष्ट्रीय आन्दोलन के समय से ही इस बात पर जोर देते आये थे कि समता के

बिना स्वतंत्रता अधूरी है। हजारों वर्षों से दबाये गये दलित वर्ग को समानता के धरातल पर लाने के लिए ही संविधान में आरक्षण की व्यवस्था की गई, जबकि इसका विरोध कई सवर्ण जातियों की राजनीति करने वाली पार्टियों ने की। किन्तु इस आरक्षण का उतना लाभ दलितों को नहीं मिला, जितना सोचा गया था। आज तक आरक्षण को लेकर पक्ष और विपक्ष में हमेशा विवाद बना हुआ है। मस्तराम कपुर लिखते है –

> नौकरियों आदि में जो आरक्षण लागू हुए, उनसे दलित-आदिवासी और पिछड़े वर्गों में चिकनी परतवाली नई जातियों का निर्माण हुआ जिनकी रुचि अपने दूसरे भाईयों को उठाने में नहीं रही, वे केवल अपनी सुविधाओं की सुरक्षा में लगे रहे। गैर बराबरी को दूर करने का लक्ष्य बिसर ही गया, सिर्फ सत्ता का लक्ष्य रह गया। (कपुर 24)

दलित नेताओं द्वारा सत्ता के बंदरबाँट ने दलित आन्दोलन के प्राथमिक मूल्यों को भूला दिया। अंबेडकर के अनुयायियों ने उनके बताये रास्ते को भूलकर अपने निजी स्वार्थ के लिए लड़ते रहे, फलस्वरूप दलित राजनीति के नेता कभी कांग्रेस तो कभी भाजपा के हाथों कठपुतली बन खेलते रहे। आज के दलित राजनीति पर विचार करते हुए डॉ. शंभुनाथ लिखते हैं –

> आज की दलित राजनीति में न दलित समाज में व्याप्त अंधविश्वासों और अन्य निर्बुद्धपरकताओं के उन्मूलन पर जोर है, न नए पूँजीवादी जीवन की खुदगर्जी और कृत्रिमता से मुक्ति की बेचैनी है और न दलित स्त्री की मुक्ति का प्रश्न महत्वपूर्ण है। दलित राजनीति में दलित जाप ज्यादा है। इसमें दलितों को शोषणमूलक स्थितियों से मुक्त करने के लिए बुनियादी परिवर्तन की कोशिश नहीं है। दलित राजनीति में वे सारी राजनीतिक विकृत्तियाँ आ गई हैं, जो लोकतंत्रिक कहे जाने वाले, राष्ट्रीय दलों को पहले ही खा चुकी है। (शंभुनाथ 246)

दलित राजनीति पर विचार करते समय यह बात स्मरणीय है कि दलित आजादी के पहले से ही दोहरी लड़ाई लड़ रहे थे। एक तरफ अंग्रेजों के विरूद्ध स्वाधीनता की लड़ाई थी तो दूसरी ओर अपने ही देश की वर्ण व्यवस्था द्वारा संचालित आंतरिक उपनिवेश से मुक्ति की लड़ाई थी। दलित राजनीति का यह संघर्ष दोहरा होने के साथ ही साथ कठिन भी था। इस परिस्थिति पर प्रकाश डालते हुए प्रफुल्ल कोलख्यान का कहना है –

> दलित राजनीति का लक्ष्य अंग्रेजों के वाह्य औपनिवेशिक शक्ति से मुक्ति के साथ ही, वर्ण –व्यवस्था के वर्चस्व के साथ आंतरिक उपनिवेश को मजबूत करने वाली शक्तियों के द्वारा निर्मित आजादी के आन्दोलन की मुख्यधारा के भावुकतापूर्ण राष्ट्रवाद के प्रपंच से, अर्थात् आंतरिक उपनिवेश से भी मुक्त होना था। (कोलख्यान 40-41)

संविधान के लागू होने के बाद भी अंबडकर को यह बात पता था कि अब हमारे बीच राजनीतिक समानता की लड़ाई लड़नी पड़ेगी। आज के इस भूमंडलीय दौर में दलितों के लिए सामाजिक और आर्थिक समानता की लड़ाई कठिन से कठिन हो गई है। वर्तमान परिस्थिति में दलित राजनीति को नए सिरे से संगठित होने की जरूरत है। आज की दलित राजनीति में ब्राह्मणों का विरोध तो है, किन्तु वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ़ वे चुप्पी साधे हुए है। जिस दलित राजनीति का सूत्र स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व है। इसे हासिल करने के लिए राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति के बीच संबंधों को जानना जरूरी है। हम ब्राह्मणवाद का विरोध तो करे और पूँजीवाद का न करें तो समानता नहीं मिल सकती। दलित राजनीति को यह समझना होगा कि जिसप्रकार स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व को हम विछिन्न नहीं कर सकते, उसी तरह राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रसंग को अलग-अलग कर देखना आत्मघाती है। यह जानना जरूरी है कि स्वतंत्रता का राजनीति से, समता का आर्थिकी से और बंधुत्व का सामाजिकता से गहरा संबंध होता है।

इस भूमंडलीकृत विश्व में पूँजीवाद मजबूत हुआ है। यहाँ आरक्षण का कोई प्रावधान नहीं है। राजनीतिक आरक्षण ने दलितों में राजनीतिक चेतना तो जगाई है, किन्तु धर्म आज भी दलितों के लिए समस्या बनी हुई है। दलित चाहे हिन्दू हो, मुस्लिम हो या इसाई वह हर जगह असमानता, अलगाव और शोषण का शिकार है। भारतीय समाज में दलित जाति के साथ-साथ धर्म के आधार पर भी विभाजित है। अलग-अलग दलित जातियाँ अलग-अलग राजनीतिक पार्टियों का वोट बैंक बना हुआ है। इससे दलित शक्ति के एकीकरण में बाधा उत्पन्न हुई है। यहाँ तक कि एक राज्य का दलित दूसरे राज्य के दलित के साथ एकजूट नहीं हो पाता है और एक विराट परिवर्तनकारी शक्ति नहीं बन पा रहा है। दलितों की आपसी जातिगत प्रतिस्पर्द्धा ही सवर्णों की ताकत बनी रहती है। इसके परिणाम को दिखाते हुए विभांशु दिव्याल का कहना है –

> पिछले एक दशक में दलित चेतना के जातिवादी स्वरूप ने यह दिखाया है कि जातिगत गोलबंदी के आधार पर सत्ता तक थोड़ी-बहुत पैठ तो बनाई जा सकती है, लेकिन व्यापक दलित समाज के लिए इसका कोई दूरगामी इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। (दिव्याल 78)

जातिगत गोलबंदी के अलावा दलित आन्दोलन के कमजोर पड़ने का दूसरा कारण यह है कि दलितों के अंदर एक पढ़ा – लिखा मध्यवर्गीय दलित का जन्म हुआ है, वह दलित होते हुए भी खुद को सवर्ण समझ रहा है और दलित चिंता को छोड़कर, अपने दायित्व को भूलकर सवर्णों जैसा ही व्यवहार कर रहा है। आरक्षण पाकर वह दलितों का नेता तो बन जाता है, किन्तु सत्ता पाते ही अपने दलितों और चुने गये क्षेत्रों के उत्थान को छोड़कर अपने विकास में लग जाता है। वह शादी विवाह से लेकर हर क्षेत्र में खुद को जमींदार समझने लगता है और अपनी ही जाति से घृणा करने लगता है। ऐसे दलितों के संबंध में ही विभांशु दिव्याल लिखते हैं –

> राजनीतिक रूप से दलितों का एक बड़ा वर्ग उन्हीं हिन्दूवादी या आधुनिक दलित शब्दावली में मनुवादी, ताकतों के साथ जुड़ा हुआ है जिनके विरूद्ध डॉ. अंबेडकर का समूचा आन्दोलन समर्पित था। इन ताकतों ने न केवल डॉ. अंबेडकर को, बल्कि उनके साथ-साथ बोद्ध धर्म को भी पचा लिया है। (दिव्याल 83)

वोट की राजनीति ने जाति को राजनीतिक ताकत बना दिया है। समाज में राजनीतिक पार्टियाँ जातिगत ध्रुवीकरण का खेल खेलने लगी है। इसके बावजूद राजनीति के लिए ही सही, किन्तु आज दलित और ब्राह्मणों के बीच संबंध कुछ – कुछ मधुर हुआ है। दलितों के साथ हो रहे अत्याचार का विरोध आज दलित ही नहीं सवर्ण भी कर रहा है। शायद इसीलिए शंभुनाथ का मानना है – ''नवजागरण और स्वाधीनता संग्राम के दौर से लेकर अब तक की घटनाओं से स्पष्ट है कि समाज में दलितों की आवाज सुनने वाले लोग बढ़े है। इतना ही नहीं दलितों की आवाज एक निर्णायक राजनीतिक ताकत बनी है (शंभुनाथ 246)।'' किन्तु यह भी सच है कि दलित राजनीति को कुछ नेताओं के इर्द-गिर्द केन्द्रित कर साधारण दलित को एजेंडे से बाहर कर दिया गया है। दलित राजनीति में आज भी सामान्य दलित हाशिए पर है, जबकि वोट बैंक के रूप में सामान्य दलित की ही भूमिका होती है। दलित राजनेता के दलित राजनीति में दलित की चिंता कम और निजी स्वार्थ ज्यादा है। दलितों के शोषण और राजनीतिक अधिकारों पर कम ही चर्चाएँ होती है। राजकिशोर दलित राजनीति पर विचार करते हुए लिखते हैं – ''राजनीति का काम सिर्फ जातियों का समीकरण दुरुस्त करना नहीं, बल्कि राज्य और समाज का आर्थिक पुनर्निर्माण करना भी है। आखिर समाज का आर्थिक ढ़ाँचा बदलेगा, तभी दलितों को पूर्ण सामाजिक न्याय मिल सकेगा (राजकिशोर 122)।'' आज देश में जिस तेजी से निजीकरण की प्रक्रिया अपनायी जा रही है, इससे दलितों का अहित ही होगा। उन्हें जातिगत लड़ाई के साथ-साथ सचेत ढंग से पूँजीवाद और उदारीकरण के खिलाफ़ भी संघर्ष करना होगा। दलित राजनीति की दिशा महज कुछ नेताओं के भरोसे नहीं होनी चाहिए। जब तक दलित राजनीति में व्यापक दलित जनता का योगदान नहीं होगा, दलित राजनीति कुछ बड़ी राजनीतिक पार्टियों के पीछे चलती रहेगी। जरूरत है कि दलित राजनीति के दायरे में केवल वोट का खेल न होकर विशाल दलित समुदाय के उत्थान की चिंता हो।

3.5. 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में दलित चेतनाः

आजादी के समय अपनी जान पर खेलकर भारतीयों ने इस्ट इंडिया कम्पनी को खदेड़ा था, किन्तु 1990 में उदारीकरण की नीति अपनाते ही हमें कई बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को अपने देश में निवेश के लिए रास्ता खोल देना पड़ा। यह भारत के इतिहास में एक बड़ा प्रस्थान बिन्दू माना जाता है। वैश्वीकरण के साथ जुड़ते ही भारत का सामाजिक और आर्थिक ढ़ाँचा एकदम से बदलने लगा। हर चीज पर पूँजी का दबाव बढ़ने लगा। मानवीय मूल्यों पर अर्थ भारी पड़ने लगा। इसका प्रभाव समाज के वर्षों से शोषित दलित समाज पर भी पड़ा। दलित साहित्य का विधागत विस्तार हुआ। आत्मकथा के बाद कहानी, उपन्यास,

कविताओं में भी दलित साहित्य लिखे जाने की अनुगूँज सुनाई पड़ने लगी। अब तक दलित कहानी की एक परम्परा स्थापित हो चुकी थी जिसमें ओम प्रकाश बाल्मिकी, जय प्रकाश कर्दम, मोहनदास नैमिसराय, सूरज पाल चौहान, रत्न कुमार सांभरिया, कर्मशील भारती आदि प्रमुख थे तो सन् 2000 के बाद से लेकर अब तक सुदृढ़ लेखकों की परम्परा विकसित हो चुकी है जिनमें मुकेश मानस, अनिता भारती, रजनी दिसोदिया, कैलाश वानखेड़े, अजय नावरिया, सूरज बड़त्या, कैलासचन्द्र चौहान, टेकचंद, सुशिला टाकभोरे आदि प्रमुख है।

उदारीकरण के बाद से ही दलित कहानी के क्षेत्र में बदलाव आया। जमींदारी प्रथा के स्थान पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने अपना कब्जा जमा लिया। गाँव से शहर की ओर नौकरियों के लिए दलितों का विस्थापन होने लगा। दलितों के अन्दर आर्थिक और सामाजिक स्थिति के बदलते ही चेतना का स्वरूप भी बदलने लगा, फलस्वरूप दलित कहानी की भावभूमि का विस्तार हुआ। 21वीं सदी के आरम्भ ने आर्थिक आत्मनिर्भरता और बाजार के विकास पर जोर दिया। इसने दलितों के जीवन पर भी परिवर्तन लाया। शहर में जातिवादी भावना भीतरी परत में चली गई। आरक्षण की नीति ने दलितों को वर्ण से वर्ग में तब्दील किया। अब नीच कहे जाने वाले दलित भी ऊँचे पदों पर पहुँचने लगे। सवर्णों को भी दलितों के नीचे काम करने के लिए विवश होना पड़ा। जातिगत भावना हृदय के अन्दर दबने लगी। खुले तौर पर दलितों से जाति के नाम पर भेद से सवर्ण डरने लगे। इससे वर्तमान कहानी की दिशा भी परिवर्तित हुई। अब कहानी का विषय जातिगत द्वंष से हटकर दलितों के नये परिवेश में उत्पन्न चुनौतियों से लड़ना हो गया। दलितों के अन्दर एक नये मध्य वर्ग का जन्म हुआ, इस वर्ग में जो दलित आये उसकी भावनाएँ परम्परावादी दलितों से अलग थी। यह पढ़ा-लिखा और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न दलित था। सामाजिक परिवर्तन घटित होते ही कहानी की संवेदना भी बदलने लगी। इसे लक्ष्य कर टेकचंद का कहना है – ''पहली पीढ़ी के दलित कहानीकार चेतना के स्तर पर सजग थे। आज के दलित कहानीकार मुद्दों को प्राथमिकता दे रहे हैं।'' (टेकचंद 17)।'' अतः 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में दलित चेतना के सरोकार को हम निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर समझ सकते हैं-

3.5.1. दलित जाति में अंतर्विरोध की अभिव्यक्तिः

जिस जातिवादी भावना से दलित लड़ता रहा। जिस जातिगत भावना के खिलाफं दलितों का आन्दोलन मुखरित हुआ, आज कहीं न कहीं दलित उसी जातिवाद के घेरे में फँसता जा रहा है। दलितों के अन्दर व्याप्त आपसी जातिवाद की भावना ने दलितों के अधिकार की लड़ाई को कमजोर किया है। दलित समाज के अंदर ही अंबेडकर को लेकर बाल्मिकी और चमार जातियों के बीच अन्तर्विरोध है। 'पूनम तुषामड़' की कहानी 'काली' ऐसे ही दलितों के अंदर फैली जातिवादी मानसिकता की पोल खोलती है। कहानी में काली नामक युवती जो बाल्मिकी जाति की है, वह चमार जाति के एक लड़के से प्रेम करती है। इस प्रेम के कारण उसे अपने भाई से मार खानी पड़ती है। चमार जाति के लड़के से प्रेम करने के जुर्म में उसकी स्वतंत्रता छीन ली जाती है और उसकी अपने से अधिक वर्ष के अपंग

पुरुष से शादी करवा दिया जाता है। वहाँ वह घरेलू हिंसा की शिकार होती है और वह अंततः आत्महत्या कर लेती है। उसका प्रेमी भी बाद में आत्महत्या कर लेता है। दलितों के अंदर भी अन्तरजातीय प्रेम विवाह को सवर्णों की तरह ही बुरा माना जा रहा है। जबकि दलितों के नेता अंबेडकर प्रेम विवाह के पक्ष में थे। किन्तु आज के दलित उनके आदर्शों को भुलाकर उन्हें एक जाति विशेष के नेता के रूप में मान्यता दे रहे हैं। कहानी में सोनू के पिता कहते हैं-

> बाबा साहेब अंबेडकर प्रेम विवाह के पक्ष में थे और दूसरी जात से ब्याह करने को भी सही मानते थे। बाबा साहेब सभी निचली जातियों के अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे थे। वे सभी नीच कही जाण वाली जातियों को एक मानते थे चाहे चूहड़े हो या चमार, तेली, पासी, डोम, कोई भी। (तुषामड़ 122)

अंबेडकर जिन दलितों को सवर्णों के जातिगत शोषण से मुक्ति दिलाना चाहते थे, आज वहीं दलित अपने अंदर बसे जातिगत द्वेष से बाहर नहीं निकल पाया है। यहाँ तक कि बाबा अंबेडकर को भी एक जाति विशेष तक सीमित करने लगे है। अंबेडकर को चमारों का तो गाँधी को भंगियों का नेता घोषित करने लगे हैं। इसतरह का जातिगत विभाजन दलित वर्ग के लिए हितकर नहीं है। इसका फायदा सवर्ण उठाते रहेंगे। कहानी में दिखाया गया है- ''पर महर्षि वाल्मिकी मंदिर का प्रधान बुधराम कहता है कि इसने केवल चमारों का भला किया भंगियों के लिए तो गाँधी जी लड़े (तुषामड़ 120)।'' इसी जातिगत भावना के कारण दलितों के लिए भी अपनी बेटी का किसी अन्य जाति से प्रेम करना नाक का विषय बन जाता है और एक दलित बाप यहाँ आकर सवर्ण बाप बन जाता है और अपनी झूठी इज्जत को बचाने के नाम पर बेटी का जीवन बर्बाद कर देता है। कहानी में लेखिका कहती है –

> उस समय मैं भी शायद दीदी की तरह ही सोच रही थी किन्तु समझ नहीं पाती थी....किन्तु आज भी जब बिल्कुल वैसी ही घटनाएँ अपने आस-पास घटते देखती हूँ तो सोचती हूँ इतने वर्षों बाद भी कुछ नहीं बदला, न जानें कौन सा अहम था कहें कौन सी कुंठा होती है, ये लड़की के माता-पिता की। वे अपने ही संतान के लिए जानते बूझते कसाई बन जाते हैं। वे क्यों इस नाक का सवाल बना लेते है, अपने क्रोध और जातीय अहंकार के चलते अपनी संतान की खुशियों को देख ही नहीं पाते। (तुषामड़ 124)

अंबेडकर और कांसीराम जैसे दलित नेताओं ने जिस दलित आन्दोलन का विकास किया और जाति प्रथा को समाप्त करने के लिए बौद्ध धर्म का रास्ता बताया, आज यह रास्ता अधूरा नजर आ रहा है। आज का दलित समाज हिन्दू और बौद्ध दो धर्मों के बीच दोहरी जिन्दगी जी रहा है। अंबेडकर के धर्म परिवर्तन वाले सिद्धांत पर अब सवाल उठने लगे है। कारण यह है कि धर्म परिवर्तन के बावजूद जातिगत शोषण समाप्त नहीं हुआ। 'डॉ. अभय कुमार' अपनी कहानी 'दोहरे' में इसे दिखाते हुए कहते हैं-

> जाति को वे समाप्त करना चाहते थे और धर्मान्तरण द्वारा भी प्रयास हो रहा था। लेकिन जाति नष्ट नहीं हुई। बल्कि जाति को तो खरोंच तक नहीं आयी। अन्य जातियों की कोरियों से, कोरियों की चमारों से सामाजिक दूरी वैसे ही बनी हुई थी जैसी पहले थी। चमार कोरियों के बकरे को स्वीकार करते थे लेकिन चमारों के सुअरों को स्वीकार करना कोरियों के सम्मान के लिए खतरा था। उसी तरह अन्य ऊपर की जातियाँ भी कोरियों के बकरे को स्वीकार करने की स्थिति में नहीं पहुँची थी।'' (कुमार 174)

कहानी में दलित आन्दोलन के भटकाव को दिखाया गया है। जिस दलित आन्दोलन के केन्द्र में सभी दलित एवं पिछड़ी जातियाँ थी, आज एक विशेष जाति पर केन्द्रित होता जा रहा है। बुद्ध, कबीर, अंबेडकर, कांसीराम आदि के विचारों को हमने भुला दिया है। आज भी दलितों के अंदर अंतरजातीय विवाह संभव नहीं हो पाया है। दलितों के अंदर जातिगत विभेद उसी प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार वर्णाश्रम व्यवस्था में है। इस पर विचार करते हुए कहानी के लेखक लिखते हैं-

> हमारी परेशानी जाति व्यवस्था से जुड़ी है जिसको समाप्त करने के लिए संघर्ष केवल सवर्ण से कर रहे हैं। लेकिन विडम्बना यह है कि दलित जातियाँ अपने अंदर भी जाति व्यवस्था के संस्तरण को बनाये हुए है। जब तक मन से जाति व्यवस्था की जड़े नहीं मिटती तब तक आप चाहे कितने ही धर्मों को बदल लें, उसका फायदा कुछ व्यक्ति विशेष को हो सकता है समूचे समाज को नहीं। (कुमार 175)

दलितों के आपसी जातिगत विभेद सवर्णों के जातिवादी भावना की दीवार को मजबूत करता है। दलित अपनी जड़े खुद खोद रहा है। 'अजय नावरिया' की कहानी 'निर्वासन' में भी इस भावना की सच्चाई बताते हुए लेखक कहते हैं –

> दलित समाज के ये लोग अभी कहीं ताकत में नहीं थे। जहाँ आरक्षण की वजह से कुछ ताकतवर हुए भी थे, वहाँ एक नया जातिवाद उनके अपने बीच खड़ा हो गया था। उनके अपने अधिकांश लेखक और लोग अपनी-अपनी कोटरों में फायदा पहुँचाने की कोशिश में लगे थे...दूसरी जातिवालों से अपने संघर्ष में वे खुद उनकी ही तरह जातिवादी और खुदगर्ज हो गये थे। (नावरिया 33)

'हीरालाल राजस्थानी' की कहानी 'हड्डल' ऐसी कहानी है जहाँ रचित और तुलिका दोनों दलित होने के बावजूद उनकी अलग-अलग जाति होने के कारण, दोनो की शादी नहीं हो पाती है। तूलिका की जाति जानने के बाद रचित की माँ कहती है – ''इस नीच जात की लड़की से शादी करेगा। नाक कटवायेगा हमारी बिरादरी में (राजस्थानी 151)।'' रचित अपने दलित होने की बात कहता भी है – ''हम भी तो शेड्यूल कास्ट में आते हैं, तो हम सब एक ही हुए न (राजस्थानी 151)।'' इसपर उसकी माँ धर्म भ्रष्ट होने का आरोप लगाती है।

जातिगत दीवार को तोड़ने में दोनों असमर्थ हो जाते है और तूलिका पर शारीरिक प्रताड़ना दी जाती है और उसकी कहीं और शादी करा दी जाती है। जातिगत भेदभाव ने दलित जोड़े के प्रेम को मिटा दिया। लेखक दिखाते है – ''तूलिका आज जातियों के शमशान में हड्डियों का ढ़ाँचा मात्र रह गई थी और रचित उस शमशान में अपना सर मुंडाए अपने प्यार के अंतिम संस्कार के लिए जलती हुई लकड़ी लेकर खड़ा हो जैसे (राजस्थानी 152)।'' 'सूरज बड़त्या' की कहानी 'गुफाएं' में भी दलितों के अंदर फैली जाति भावना के कारण दलित जोड़े एक नहीं हो पाते हैं। कहानी में राजन दलितों में फैली जातिगत भेदभाव का विरोध करते हुए कहता है- ''जाति तोड़ती है तो एका करना होगा। सभी दलित एक सा अपमान सहते हैं, इसलिए बिना एका हुए सम्मान नहीं होगा (बड़त्या 155)।'' कहानी में यह जातिगत दीवार इतनी मजबूत है कि चमार और जाटव भी ब्राह्मण और शूद्र की तरह आपस में ब्याह नहीं करते हैं। अपूर्वा के मामाजी इस जातिभेद को दिखाते हुए कहता है-

> देखो अपूर्वा! कहने को तो हम सब दलित एक ही है, लेकिन जो लड़का तुमने पसंद किया है वह जाटव है और हम चमार...हालाकि ब्याह -बेटी के संबंध जाटवों ने ही हमसे खत्म किए है। अब अगर हमारी जाटवों के यहाँ ब्याही जाएगी तो क्या इसमें हमारी नाक नीचे नहीं होगी। समाज में जाति न हो तब इसे मानना पागलपन है, लेकिन जब सारे काम जाति देखकर ही होते हैं तो.... (बड़त्या 165)

इस जातिवादी भावना की जड़े इतनी गहरी है कि यह समाज के हाशिए में जी रहे हिजड़ों के सम्प्रदाय में भी यह भावना काम करती दिखाई पड़ रही है। 'सूरज बड़त्या' की कहानी 'कबीरन' हिजड़ों के बीच भी दलित जाति के हिजड़े के साथ होने वाली भेदभाव को दिखाती है जहाँ सवर्ण हिजड़ा और दलित हिजड़ा के बीच भेदभाव किया जाता है। हमारा समाज एक ओर मनु के वर्णाश्रम व्यवस्था का शिकार है तो दूसरी ओर वर्गीय भेदभाव का। कहानी में एक दलित के घर हिजड़ा के जन्म होने पर पहले उसे अनाथालय भेज दिया जाता है फिर उस हिजड़े की जाति छिपाने के लिए उसे एक समुदाय से दूसरे समुदाय को बेचा जाता है।– ''उसे हिजड़ो के एक समूह से दूसरे समूह में बेचा गया जिससे उसकी पहचान छुपी रहे (बड़त्या)।'' जाति छुपाने की बात पर सुमेघ की माँ समाज की उस सच्चाई को बयाँ करती है। वह कहती है – ''बेटा म्हारी छोटी जात, जात तो जात है बेटा, वह चाहे इंसानों में रहे चाहें हिजड़ों में, फर्क तो पड़ता ही है (बड़त्या)।''कहानी में एक ओर हिजड़ों की पीड़ा है तो दूसरी ओर जाति की पीड़ा। सुमघ जाति का दलित है, भले आज वह शिक्षक बन गया है, वह सामाजिक भेदभाव को तोड़ने की बात करता है, किन्तु उसने अपने पिता को सवर्णों के पास गंदा काम करते देखा है। उसके पिता उससे कहता भी है – ''बेटा, सारे गाँव का मल-मूत्तर साफ करते-करते खुद से भी बदबू आती है..... साले अपणा गंदा भी हमसे साफ कराते हैं... हम ही इनका गंदा साफ करें और गंदे भी हमहीं कहे

जावें (बड़त्या)।'' इसलिए सुमेघ के पिता अंबेडकर के सोच को साकार करते हुए अपने बेटे को पढाते हैं ताकि वह गंदा काम न करें। दलित की कई पीढ़ी ऐसे ही गंदे काम कर गुजर गई। यह दलित चेतना का ही परिणाम है कि आज सुमेघ जैसा दलित पढ़-लिख कर विश्व विद्यालयों में प्रोफेसर के पद पर कार्यरत है। अतः यह सच है कि आज भी कई गाँवों में दलितों द्वारा अन्य जाति के लड़के या लड़की से शादी करने के कारण उसे जान गवाँनी पड़ रही है। सामाजिक सुधारों के बावजूद आज भी हमारा समाज जातिगत भावना की दीवार को नहीं तोड़ पाया है।

3.5.2. दलित मध्यवर्ग की सवर्ण मानसिकताः

इसमें कोई दो राय नहीं है कि आज का दलित समाज पहले की तुलना में काफी सुशिक्षित समाज बन रहा है। शिक्षा ने दलित जगत में अभूतपूर्व क्रांति लाई है। जिस दलित को शिक्षा का अधिकार तक नहीं था, वह शिक्षा पाकर आज बड़े-बड़े पदों पर आसिन हो रहा है। आज दलितों के घर भी इंजिनियर, डॉक्टर हो रहे हैं। इस आर्थिक सम्पन्नता ने दलितों के अन्दर एक मध्य वर्ग को जन्म दिया है। यह मध्य वर्ग आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से सम्पन्न है। इसकी नई पीढ़ी बड़े – बड़े अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों और कॉलेजों में पढ़ाई कर आगे बढ़ रहा है। किन्तु यह मध्य वर्ग खुद को दलित की कैटेगरी से बाहर निकालना चाह रहा है। उसे दलित आन्दोलन या दलित संघर्ष के इतिहास से कोई सरोकार नहीं है। यह खुद सवर्ण बनने की फिराक में है। आर्थिक सम्पन्नता ने जहाँ दलित के सामाजिक स्थान को बढ़ाया है वहीं इस वर्ग के अंदर सवर्ण समाज की बुराईयों ने भी घर बनाना शुरू कर दिया है। दलितों के अंदर भी सवर्णों जैसी दिखावे की संस्कृति का विकास हो रहा है। इसी दिखावे की संस्कृति ने दलितों के अंदर भी दहेज जैसी प्रथा का विकास देखा जा रहा है। साधन सम्पन्न दलित सवर्णों को दिखाने के लिए दहेज ले और दे रहा है। 'विपिन बिहारी' की कहानी 'उल्टियाँ' में ऐसे ही मध्यवर्गीय दलित है जिसका बेटा इंजिनियर है जिसकी शादी एक आर्थिक सम्पन्न दलित परिवार से तय हुआ है। लड़के वालों के न चाहने पर भी लड़की वाला दहेज देकर अपनी शान दिखाना चाह रहा है। लड़की के पिता का कहना है-''यदि कोई अगड़ा कर रहा है शादी –ब्याह में चमक-दमक तो क्या उसे जन्म सिद्ध अधिकार प्राप्त है, और हम कर रहे हैं तो .... आप जो भी डिमांड करें, मैं मुकरने वाला नहीं हूँ। मैं उन्हें भी दिखाना चाहता हूँ कि हम भी साधन सम्पन्न हो गये है। (बिहारी 138)।'' सवर्णों को दिखाने के लिए साधन सम्पन्न दलित द्वारा दहेज की प्रथा साधारण दलित के लिए फाँसी का फंदा बन सकता है। कहानी में लड़के का चाचा बिन्दा दहेज को सही नहीं मानता है। वह दलितों का हिमायती है और चाहता है कि दहेज के खर्चे से कई दलितों के जीवन स्तर को सुधारा जा सकता है। आज जो दलित साधन समपन्न है उन्हें अपना धन और अपनी उर्जा फिजुल खर्च न कर दलितों के उत्थान में लगाना चाहिए, तभी दलित समाज की उन्नति हो सकती है। इस दलित मध्य वर्ग पर ही भावी रणनीति निर्भर है। बिन्दा लड़की के पिता से कहता भी है –

> भाई साहब, ये बहस नहीं है। आपस में बातचीत हो रही है। इसतरह की बातचीत इसलिए भी जरूरी है कि हम प्रबुद्ध माने जाते हैं और अपने लोगों के केन्द्र में है। उनकी उम्मीदें हमसे जुड़ी हुई है। जिस तरह से अपने बच्चों- परिवार को आगे बढ़ाने के लिए मेहनत की है, उसी तरह से उन्हें भी आगे लाने के लिए हमें मेहनत करने की जरूरत है। वे भी हमारे दायित्व है, नहीं तो..... (बिहारी 139)

दलितों में उभरे यह नया मध्य वर्ग कहीं – कहीं अपने ही जाति के लोगों का शोषण भी कर रहा है। सवर्णों के समान ही दलित भी अपने कई रीति-रिवाजों में पुरोहित को शामिल कर अपनी शान दिखा रहा है। यह दलित वर्ग एक तरह से ब्राह्मण धर्म का पोषक बना फिर रहा है। जिस कर्मकांड ने दलितों को सदियों से उपेक्षित रखा, नया दलित उसी कर्मकांड को अपना रहा है। कहानी में कहा गया है- ''ब्राह्मण धर्म के पोषक के रूप में दलित नव-धनाढ्य सबसे अग्रणी के रूप में उभर रहा है, जबकि इससे हमें पूर्ण मुक्त होना चाहिए। एक बात और बता दूँ, दलितों में दलित सामंत पैदा हो गये है, जो अपने ही लोगों को परेशान करने लगे हैं (बिहारी 139)।'' 'अजय नावरिया' की 'आवरण' कहानी में भी रम्या दलित मध्य वर्ग है, जब वह एक स्लम से गुजरती है तो अपनी ही जाति के लोगों को देखकर उसे बदबू आती है, वह उनसे घृणा करती है। उसके अंदर जाति का वर्ण होते हुए भी उसका वर्ग उसे अपनी जाति से घृणा करने के लिए मजबूर कर रहा था। आज के साधारण दलित को सवर्णों के साथ –साथ अपने दलित सामंतों से भी लोहा लेना पड़ रहा है। अतः इस नये दलित मध्यवर्ग का दायित्व है कि वह अपनी जाति के उत्थान के बारे में सोचे। दलित मध्य वर्ग के दायित्व को समझाते हुए कहानी में दीपंकर कहता है- ''जब तक ये नहीं जागेंगे, तब तक कुछ बदलने वाला नहीं। इनको जगाने का काम हमारा है रम्या। ये जवाबदेही है दलितों के मध्य वर्ग की (नावरिया 79)।''

शिक्षा पाकर दलित नौकरी तो कर ही रहा है साथ ही दलित अब गाँव छोड़कर शहर में बसने लगा है। दलित बड़े-बड़े अफसर बन शहर की पॉश कॉलोनियों में रहने लगा है। दलितों की आर्थिक आत्मनिर्भरता और शिक्षा की उपयोगिता ने उसे सवर्णों से ऊँचा उठा दिया है। ऐसे ही सम्पन्न दलित की कहानी है 'रत्न कुमार सांभरिया' की 'फुलवा' कहानी। फुलवा जो गाँव में बहुत ही गरीब और पिछड़ी थी, जिसे सवर्णों का शोषण भी झेलना पड़ा था, आज उसका बेटा शहर में एस. पी. है। वह बड़ी शान से शहर में रहती है। आलिशान बंगला है। नौकर-चाकर है। किसी चीज की कमी नहीं है। उसी फुलवा के घर गाँव का जमींदार रामेश्वर जब आता है तो उसका होश उड़ जाता है। जिस जमींदार के कुँए से पानी लेने गई फुलवा के बर्तन पर रामेश्वर ने एक समय थूक दिया था, आज वह आलिशान बंगले में बैठी फुलवा के सामने असहाय सा खड़ा है। इतना ही नहीं उस फुलवा के घर पर राजपूत जात की एक महिला नौकरानी भी है। जिसे देखकर रामेश्वर कहता भी है कि इतनी बड़ी जात की औरत, फुलवा जैसी छोटी जात के घर नौकरानी। आर्थिक समपन्नता ने दलित समाज को बदलकर रख दिया है किन्तु रामेश्वर जैसे लोग आर्थिक

विपन्न होते हुए भी आज भी वे जाति का दंभ पालते हैं। फुलवा कहती भी है- ''शहर में दो ही जात होती है, अमीर और गरीब (सांभरिया 23)।'' पंडिताईन और फुलवा के बीच आत्मीयता देखकर वह और भी दंग रह जाता है। पंडिताईन पायताने और फुलवा सिरहाने बैठती है। रामेश्वर के जाति वाली बात पर पंडिताईन कहती है – ''अब तो पद और पैसे का जमाना है, जात –पात का नहीं। फुलवंती का राधा-मोहन कोई छोटा-मोटा अफसर नहीं है। एस.पी. है, एस.पी। एक बात बताऊं तुझे। जाकर मेम साहब के पाँव पकड़ ले और तब तक मत छोड़, वह हाँ न कह दे (सांभरिया 27)।'' 'टेकचंद' की कहानी 'मोर का पंख' आज के उस मध्यवर्गीय दलित की कहानी है जो दलित होते हुए भी खुद को सवर्ण समझने की भूल कर रहा है। जो शिक्षा पाकर नौकरी कर रहा है, किन्तु अपने दलित माँ-बाप के कष्टों को भूल चुका है। सदियों के शोषण को जिसने भुला दिया है। कहानी का पात्र विशाल आज की पीढ़ी का दलित है जो सवर्ण समाज की चालों को नहीं समझ पाता है। सवर्ण समाज से मिली प्रशंसा को मोर का पंख समझकर वह कौआ की भाँति उसे अपने पंख में लगाकर सवर्णों जैसा व्यवहार करने लगता है और अपने वर्ग से कट जाता है। वह न तो सवर्ण की पंक्ति में शामिल ही हो पाता है न अपने वर्ग के बीच ही। उसकी माँ ने उसे समझाया था- ''ये ऊँची जात वाले किसी के सगे न होते..वे इतने ई भले होते तो हम क्यों गाम छोड़ते (टेकचंद 57)।'' विशाल एक सवर्ण स्त्री से प्रेम करता है, किन्तु उसे बाद में पता चलता है कि उसका प्रेम तो एकतरफा ही था। वह अदिती को रंजन के साथ कमरे में जाते भी देख लेता है। उसके पिता ने उसे अपनी जाति का बोध कराते हुए कहा था – ''जिन हात्थां नै सदा म्हारे गलै काट्टे...म्हारी कमर तोड़ी वे म्हारे तै रोट्टी बणा के खुवावैंगे यो बात तेरी समझ मैं किस तरयां आगी? (टेकचंद 64)।'' किन्तु विशाल पर उस समय कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। खुद को सवर्ण समझने के नशे में उसे अपने ही घर पर बदबू आती है। अपने बस्ती के लोगों से उसे बात करते घीण आती है। -"घर में घुसते ही उसे बदबू महसूस हुई। दादी एक टूटी सी खाट में पड़ी थी। दादी की कमर और खाट समान भाव से मुड़कर जमीन को छू रही थी (टेकचंद 61)।'' यह वहीं विशाल है जिसकी पढ़ाई के लिए उसके माँ, बाप, दादी सभी ने कई मुश्किलों का सामना किया था। जिन्होंने सपना देखा था कि विशाल पढ़-लिख कर बड़ा आदमी बन जायेगा तो उनके दिन फिर जायेंगे। जिसकी माँ कई घरों में काम करती थी और रोटी, सब्जी जो मिले एक ही कटोरे में डाल कर ले आती थी जिसे सभी मिलजुल कर खाते थे। कहानी में दिखाया गया है – ''माँ जब मुहल्ले कर लेती तो घरों से बची-खुची, रोटी-सब्जी मिल जाती। रोटियाँ तो वह पल्लू में ले लेती और जिस घर से जो भी सब्जी मिलती सब उस एक ही कटोरे में। कटोरा न हुआ पूरे घर का खान-दान हो (टेकचंद 36)।'' वही विशाल आज मोर का पंख पहनकर सवर्ण बनने का ढ़ोंग कर रहा है। उसे यह नहीं पता कि मोर का पंख लगा लेने से कौआ कभी मोर नहीं बन सकता। जब उसे अपनी हैसियत का बोध होता है तब उसे अपनी गलती का एहसास होता है। अगर विशाल

जैसा दलित पढ़-लिख कर खुद को दलित समाज से अलग समझने लगे, तो फिर दलितों की मुक्ति किसके भरोसे होगी?

इसमें कोई दो राय नहीं कि दलित आन्दोलन की दिशा आज के मध्यवर्गीय दलित के हाथों में है। यह दलित पढ़ा-लिखा और साधन सम्पन्न दलित है। पूरे दलित वर्ग के उत्थान की जिम्मेवारी इन्हीं के कंधों पर है, किन्तु यह भी सच है कि यह नया वर्ग कहीं न कहीं अपनी जिम्मेवारी से मुकर रहा है। दलित होकर भी वह अपनी पहचान छिपा कर जीना चाह रहा है। दलित को आत्मसम्मान तभी मिलेगा जब वह पहचान छिपाकर नहीं, अपनी पहचान बताकर इज्जत पायें। 'अजय नावरिया' अपनी कहानी 'निर्वासन' में ऐसे ही मध्यवर्गीय दलित को दिखाते हैं, जिसने सवर्णों से इज्जत पाने के लिए अपना नाम बदल लिया है। कहानी का पात्र राहुल कोली बिजनशमैन है, किन्तु सवर्णों की जातिवादी घृणा से बचने के लिए उसने अपना नाम बदल कर राहुल देव कोहली कर लिया है। इसका विरोध करते हुए उसका पिता कहता भी है –''तुम्हारा ही ऐब सीख रहा है, पहचान से डरता है, कल को बाप से परेशानी होगी तो बाप भी बदल देना, इज्जत, स्वाभिमान कुछ नहीं, जो कुछ सिखाया सब व्यर्थ (नावरिया 39)।'' यह नया दलित अपनी जाति छिपाकर दलित बने रहना नहीं चाहता है। पर उसे तो कोहली का सरनेम लेकर घुमना पड़ रहा है, जो कि उसका सरनेम नहीं है। वह अपने पिता के आदर्शों को भुला चुका है। उसके पिता ने सारी उम्र दलितों के उत्थान में लगा दी। जिन्होंने दलित समाज के दर्द और शोषण पर कई कविताएँ, कहानियोँ, उपन्यास लिख डाले, उसका बेटा आज अपनी दलित पहचान से भाग रहा है। वह अपने बेटे से कहता है – ''तुम ऐसा कह सकते हो, तुमने इस सुनहरे उजाले में आँखें खोली है, हम अपनी इसी पुरानी पहचान में नये अर्थ भरना चाहते हैं ताकि हम अपनी पहचान के साथ रहे और कोई हमें बेइज्जत भी न कर सके कभी (नावरिया 40)।'' यही सच है कि दलितों को अपनी पहचान छुपाकर नहीं, बल्कि उसी पहचान के साथ इज्जत पाकर जीने की लड़ाई लड़नी चाहिए। साधन संपन्न दलितों को यह समझना होगा कि उसकी लड़ाई उसी सवर्णों से है जिसने दलितों पर हजारों वर्षों से शोषण किया है। आज साधन सम्पन्न दलितों को सवर्णों की भीड़ में शामिल न होकर दलित चेतना को ग्रहण कर दलितों के उत्थान के बारे में सोचने की जरूरत है।

3.5.3. जातिगत शोषण और विद्रोहः

दलित समाज ने अभूतपूर्व प्रगति हासिल की है, इसके बावजूद आज भी गाँवों में जमींदारों एवं सवर्णों का अत्याचार थमा नहीं है, न ही स्लम में रहने वालें दलितों के जीवन में कोई भारी परिवर्तन आया है। समस्या यह है कि आज अगर दलित सवर्णों से मेलजोल बढ़ाय तो कहीं न कहीं जाति के भेद खुलते ही उसे लोग हेय नजर से देखने लगेंगे और अगर किसी सवर्ण से पहचान न बढ़ाय तो भी सवर्ण इसे अपनी ही बेइजज्ती समझता है। यह एक तरह का मानसिक शोषण है। 'अजय नावरिया' की कहानी 'न्याय कथा' में

दलित रविदास एक नये मुहल्ले में रहने आता है, किन्तु वह किसी सवर्ण से रिश्ता नहीं जोड़ता क्योंकि उसे डर है कि रिश्ता जोड़ने के बाद जब उन्हें यह एहसास होगा कि रविदास दलित है तो उसके साथ रिश्ता नहीं रखा जायेगा। किन्तु रविदास का किसी से दोस्ती किए बिना चुपचाप अपने परिवार के साथ जीवन बिताना भी सवर्णों के लिए अपमान बोध होता है। और उसी मुहल्ले का उसका पड़ोसी कला और अनंग अपनी पहुँच का फायदा उठाते हुए रविदास को पुलिस से पकड़वा देता है। उसे पुलिस की मार भी खानी पड़ती है। उस पर यह आरोप लगता है कि रविदास ने अपनी जाति छुपाकर, संभ्रान्त परिवार से मेल-जोल न बढ़ाकर संज्ञेय अपराध किया है। कोर्ट में कोतवाल कहता भी है – ''तुम उनके पड़ोस में रहते हो। उनसे तुमने कभी बात नहीं की। उन्होंने तुम लोगों से मिलने की कोशिश की तो तुमने जानबूझकर दरवाजा नहीं खोला। इससे एक संभ्रान्त परिवार की ऊँची नाक को तुमने नीचे किया (नावरिया 16)।''

यह सच है कि आज के दौर में दलितों ने कई ऊँचाईयों को हासिल करने में सवर्णों को भी पीछे छोड़ दिया है। आरक्षण की नीति ने बहुत हद तक दलितों के जीवन में परिवर्तन लाया है। आज दलित उन जगहों पर पहुँच रहा है जहाँ की दहलीज को छूने तक का हक दलितों को नहीं था। यहीं कारण है कि आज एक साजिश के तहत सवर्ण आरक्षण का विरोध कर रहे हैं। सवर्ण हमेशा से अपने पहुँच के बल पर ऊँचे पदों को प्राप्त करते आएँ है, किन्तु अब दलितों का बढ़ना कहीं न कहीं सवर्णों की आँखों में किरकरी पैदा कर रहा है। ऐसी ही साजिश का पर्दाफास करते हुए 'अजय नावरिया' अपनी कहानी 'आवरण' में दिखाते हैं कि आज किस प्रकार से हर कम्पनी या संस्थानों से छोटे पदों को समाप्त किया जा रहा है, जिन पदों पर एक समय दलित ही काम कर पाते थें। वे कहानी में लिखते हैं – ''जब से ठेकेदारी सिस्टम आया है, तब से इन छोटे पदों पर कोई भर्ती नहीं होती हमारे लोगों की। हमें सुनियोजित ढ़ंग से बेदखल कर दिया गया। नयी पीढ़ी कहाँ से तैयार होगी वहाँ दलितों, पिछड़ों और आदिवासियों की..(नावरिया 74)।'' सवर्णों की साजिश इतनी मजबूत है कि दलितों को अपनी जाति छिपाकर बड़े पदों के लिए नौकरी का आवेदन करना पड़ रहा है, क्योंकि उन्हें पता है कि इन पदों पर दलित का नाम देखते ही छाँट दिया जायेगा और आरक्षण के आधार पर नौकरी पाने के बावजूद जीवन भर सवर्णों की हेय दृष्टि का शिकार होना पड़ेगा। इसलिए कहानी में रम्या दलित होते हुए भी उसका नाम रम्या भारद्वाज है। उसके पिता के पास कास्ट सर्टिफिकेट होते हुए भी उसकी दादी ने पापा के नाम के साथ भारद्वाज लगा दिया था, जिसका फायदा यह हुआ कि बिना इन्टरब्यू के ही उसके पापा डिप्टी कमिश्नर बन गये। कहानी आज के समय में घटित होने वाली घटना के यथार्थ रूप को उजागर कर देती है। कहानी का नायक दीपंकर कहता भी है-

> यह है इन लोगों के राज करने का तरीका। आरक्षण को छेड़ा भी नहीं और हमलोगों के घुसने के रास्ते भी बंद कर दिये। अब अगर हम इन जगहों पर घुसना चाहें तो हमें

> अपनी पहचान छिपाकर रखनी होगी और उनके नकाब से ही खुद को दिखाना होगा। तब शासन तो ये उन्हीं का हुआ ना। (नावरिया 74)

दलित अपनी प्रतिभा के बल पर भी सवर्णों को मात दे रहा है। इसे सवर्ण समाज पचा नहीं पा रहा है इसलिए जहाँ कहीं भी मौका मिलते ही वह दलितों पर अपना गुस्सा निकाल रहा है। 'टेकचंद' की कहानी 'दौड़' में पूरण मेधावी धावक है। उसके जोर का दौड़ने वाला गाँव में कोई नहीं है। गाँव के दौड़ में वह सबसे अव्वल आता है। जिस गाँव में जमींदारों के खाते-पीते घरों के लड़के हार जाते हैं वहीं पूरण दौड़ में जीतकर दलित विरादरी की शान बढ़ा दी थी। दौड़ में वह इसतरह दौड़ा मानो युगों –युगों के शोषण को मात दे रहा हो – ''अपनी पूरी प्राण शक्ति लगाकर, साँसों को काबू कर वह दौड़ा। ऐसा दौड़ा कि दोनो लड़कों की बगल से तीर की तरह निकला और पलक झपकने भर की देरी में फिनिशिंग लाइन पार कर गया (टेकचंद 92)।'' वह केवल अपनी विरादरी, जाति या मुहल्ले का हीरो न होकर पूरे गाँव का हीरो बन गया। दलित इसका जश्न मना रहे थे और उसे कंधे पर उठाकर पूरा गाँव घुमा रहे थे। लेखक बताते है – ''जिन घरों के सामने से दलितों के लड़कों को घोड़ी चढ़कर बारात ले जाने की छूट नहीं थी, वहाँ से पूरण के दोस्त, जो सभी दलित थे, उसे कंधों पर उठाकर लाये। उन घरों के दौड़ में हारे लड़के लुटे-पिटे से अपने घरों में घुस रहे थे। (टेकचंद 92)।'' यही पूरण जब कॉलेज जाकर इलेक्शन में खड़ा होता है तो सवर्ण लड़के इसके जान के दुश्मन हो जाते हैं। पहले तो हॉस्टल में चाकू दिखाकर डराते हैं, लेकिन इलेक्शन में हार जाने के बाद गाँव में ही उस पर हमला करते हैं, हमले में पूरण पूरी तरह से घायल हो जाता है। उसका कसूर इतना ही था कि वह दलित होकर सवर्णों के विरूद्ध कॉलेज के इलेक्शन में खड़ा हुआ। एक हमलावर बार –बार कह रहा था – ''माला घाल(डाल) कै चमार चौधरी ना बणते (टेकचंद 104)।'' एक दलित होकर सवर्णों के विरूद्ध चुनाव लड़ना दलित के लिए भारी पड़ जाता है।

भारतवर्ष के कई गाँवों में आज भी जातिप्रथा समाप्त नहीं हो पाई है। इन गाँवों में जातिप्रथा इतनी प्रबल है कि छोटी सी बात के लिए ब्राह्मण और दलित के बीच विवाद छिड़ जाता है। आज भी गुजरात, राजस्थान, उत्तर प्रदेश जैसे कई राज्यों में दलित जाति को प्रताड़ित किया जाता है, जिसकी खबर समाचार पत्रों में आये दिन पढ़ने को मिल जाता है। 'ठाकुर का कुँआ' कहानी के समान ही 'संदीप मील' की कहानी 'दूजी मीरा' में जाति के आधार पर कुँआ के बंटवारे को दिखाया गया है। लेखक दिखाते है –

> गाँव में तीन कुएँ है, एक दलित के लिए, एक ब्राह्मणों का और एक जाटों और खातियों का। एक जाति के कुएँ से कोई दूसरी जाति का पानी नहीं भर सकता। अगर कोई पानी भरते हुए पकड़ा गया तो उसे चौधरी की अदालत में हाजिर होना होगा और जज चौधराईन एक निश्चित सजा सुनाएगी कि गुनाहगार को दो महिने

चौधरी के घर पर बिना वेतन काम करना पड़ेगा। (मील www.hindisamay.com)

जातिवाद का यह आलम है कि राजपूतों द्वारा मीरा की भक्ति भावना को लेकर भी आक्षेप लगाया जाता है कि मीरा क्षत्रिय होते हुए ग्वाले कृष्ण की भक्ति की। वे तो भगवान को भी जातिवाद के घेरे में रख देते हैं। वे कहते भी हैं – ''भक्ति करने के लिए यादव ही मिला था क्या? राजपूतों में देवताओं की कमी थोड़े ही है। हमारे पुर्खों में तो सब शहादत को हो गए थे। सबके मंदिर बणे हैं, उन्हीं में से किसी की भक्ति कर लेती (मील www.hindisamay.com)।'' यह जातिवाद का अतिवाद है जहाँ भगवान तक को जाति के घेरे में ले लिया गया है। अजय नावरिया की कहानी 'निर्वासन' में भी दलित समाज की लड़की जब सवर्णों को मात देती हुई बारहवीं में पूरे जिले में सबसे ज्यादा अंक लाती है और इसकी खुशियाँ मनाती है तो इसकी सजा सवर्णों द्वारा उसके पूरे परिवार को मौत के घाट उतार कर दिया जाता है। कहानी में दया काम्बले कहता है-

> वह अपुन का आदमी है सर, उसकी आँख कील से नहीं फूटी, फोड़ी गयी है, यह सजा दी है उस मराठा लोगों ने, उसका नाम भैया लाल बौद्ध है, उसकी बेटी और पत्नी को भी मार दिया उन लोगों ने, चाकुओं से गोद कर मारा और पहले जबरदस्ती भी की उनके साथ। (नावरिया 16)

दलित शोषण में जातिवाद सबसे खतरनाक हथियार रहा है। इस जाति के आधार पर सदियों तक दलितों पर शोषण किया गया। आज उसका रूप वैसा तो नहीं रहा, किन्तु आज भी अन्तरजातीय प्रेम या विवाह में जातिगत द्वेष के आधार पर शोषण का रूप दिखाई देता है। आज भी प्रेम के रास्ते में जाति सबसे बड़ी बाधा है। 'टेकचंद' की कहानी 'खस्सी' में दलित वाल्मीकि धर्मपाल और शिवपाल दोनों अपनी जाति छिपाकर उच्च जाति की लड़की से प्रेम करता है। एक बार शिवपाल लड़की के भाई द्वारा पकड़ा जाता है और उसे मार पड़ती है, उससे भी बड़ी पीड़ा उसे इस बात का है कि उसकी जाति की असलीयत खुल जाती है। धर्मपाल के कहने पर भी वह रिपोर्ट दर्ज नहीं करता है। वह कहता है- ''छोड़ यार रिपोर्ट सिपोट। ऊपर से नीचे तक इन्हीं के आदमी भरे पड़े है। फिर वो भी अब बात नहीं करेगी...झूठा साबित हो गया हूँ उसकी नजर में...जात...गाँव सब पता लग गया है उसे (टेकचंद 82)।'' इसी जाति के डर से धर्मपाल अपनी राजपूत प्रेमिका स्वीटी से मिलने भी नहीं जाता है। लेकिन एक दिन स्वीटी भी धर्मपाल को सुअर को खस्सी करते देख लेती है। उसे भी उसकी जाति का ज्ञान हो जाता है। जात का पता चलते ही सारा प्रेम खत्म हो जाता है। यहाँ तक कि धर्मपाल को देखकर भी स्वीटी गुस्से से मुँह फेरकर थूकती है। यह आघात धर्मपाल को बहुत गहरा लगता है। लड़की ने धर्मपाल को नहीं, उसकी जाति पर थूकी थी।–''अ..क..थू...स्वीटी ने जैसे उबकाई, नफरत और गुस्से से हीरो पर थूक दिया।

''धड़ाम''.... दरवाजा बन्द होने की आवाज भी उसने सुनी। संतुलन बिगड़ गया, हीरो गिरते-गिरते संभला (टेकचंद 84)।'' किन्तु अब दलित चुपचाप सहने वाला नहीं है। उसने विरोध करना सीख लिया है। गाँवों में भी दलित जमींदारों के अत्याचारों को चुपचाप नहीं सह रहे हैं। वह जमींदारों के विरूद्ध लड़ने लगा है। 'बकरी के दो बच्चे' कहानी में जब जमींदार का बेटा धर्मपाल दलित दलपत के बकरी के दो मासूम बच्चे को इसलिए पीट कर मार देता है क्योंकि बकरी का बच्चा उछलते-कुदते उसके आँगन की सीमा में घुस गया था। दलपत द्वारा जमींदार से शिकायत करने पर भी उसे उलटे सुनना पड़ता है, तब दलपत चुप नहीं बैठता है और शर्मचंद और सफाई कर्मचारी के यूनियन का अध्यक्ष रामदुलारे से मिलकर एस.पी. तक अपनी बात पहुँचाता है। लोकल थाने के पुलिस का मुँह तो जमींदार पैसे के बल पर चुप करा देता है, किन्तु एस.पी. के आदेश पर पुलिस जमींदार दानसिंह को गिरफ्तार कर ले जाती है। जमींदार का सारा अहम चूर-चूर हो जाता है। -

> दानसिंह को हथकड़ी। उसकी अंतस में आत्मग्लानि, आत्मभर्त्सना और शर्मिंदगी का सोता फूट रहा था। बाप-दादाओं से विरासत में मिली यह शोहरत यूं दफन हो जायेगी, उसने स्वपन में भी नहीं सोचा था। गाँव उसकी इस अपमानजनक गिरफ्तारी का गवाह है। (सांभरिया 40)

'आखेट' कहानी में भी जब नानक सिंह रेवती की जबरदस्ती इज्जत लूटना चाहता है तब रेवती खुरपी से उसकी नाक काट देती है।–''हद दर्जे के ऐय्याश नानक सिंह ने गाँव की कई बहु-बेटियों की आबरू पर हाथ डाला था। उस पर हाथ छोड़ने की किसी की हिम्मत नहीं हुई थी। अबलाएं थी। छटपटाती। मुरझा जाती। रेवती वीरांगना निकली। उसने सूद समेत सब वसूल किया था (सांभरिया 45)।'' नानक सिंह के डर से बाद में सोमा अपनी बीबी रेवती को लेकर शहर को पलायन कर जाता है, किन्तु उसके हाथ में एक बन्दूक आते ही वह फिर से वापस गाँव लौटकर नानक सिंह से अपनी माँ की मौत और खेत का बदला लेना चाहता है। समय के साथ-साथ दलित दबा और शोषित नहीं रहना चाहता है। वह विरोध दर्ज कर रहा है। अपने शोषण का हिसाब ले रहा है। इसी कहानी में सोमा में इतनी चेतना आ गई है कि वह अपनी भावी पीढ़ी को पढ़ा-लिखा कर अफसर बनाना चाह रहा है। वह कहता है – ''मेरा बेटा है। ऐसा-वैसा थोड़े ही रहेगा। नहीं करेगा किसी की मजूरी-वजूरी। मैं इसे अफसर बनाऊँगा, अफसर। हाँ, हाँ बेटे, तेरे पास कोठी होगी, कार होगी। नौकर-चाकर होंगे (सांभरिया 43)।'' यह दलितों में आये चेतना का प्रतिफलन है कि वह आज अपनी नई पीढ़ी को अफसर बनाना चाह रहा है और आज दलित अफसर बन भी रहे हैं।

अब दलितों पर शोषण का स्वरूप बदल गया है। दलित पर छोटी जाति का होकर सवर्ण से प्रेम करने या विवाह करने के कारण दलित पर होने वाले अत्याचार की खबर आये दिन समाचार पत्रों की सुर्खियों में रहता है। अन्तरजातीय विवाह के कारण दलितों का ऑनर किलिंग आज भी जारी है। दलित महिलाओं के साथ बदले के रूप में बलात्कार

किया जा रहा है। 'मोहनदास नैमिसराय' अपनी कहानी 'स्वपनदर्शी' में दलित युवक द्वारा सवर्ण लड़की से प्रेम करने, लड़की के पिता द्वारा लड़के पर अत्याचार करने तथा सवर्ण लड़की द्वारा हर कीमत पर अपने प्रेम के लिए कानून की मदद लेने की घटना को दिखाया है। लड़की का पिता धनसिंह पुलिस की मदद लेकर समीर को डराता है। उसके विरूद्ध फर्जी एफ. आई. आर भी दर्ज करवाता है। पुलिस भी उसकी मदद करती है। पुलिस कहता भी है – ''तेरी हिम्मत कैसे हुई एक दलित होकर ब्राह्मण लड़की से प्रेम करने की (नैमिसराय 43)।'' समीर को गुंडों द्वारा पिटवाया भी जाता है। किन्तु, कहानी में लेखक दिखा रहे हैं कि सभी दलित के विरोधी नहीं है। कुछ सवर्ण दलित के साथ भी है। और साथ है भारत का संविधान। शर्मिला, समीर का साथ देती है और एस.पी. की मदद से अपने बाप को जेल भी भेजवाती है। वह स्पेशल मजिस्ट्रेट से परमीशन लेकर मैरिज की अर्जी भी देती है – ''उसकी अर्जी पर तुरन्त गौर हुआ। और शाम होने से पहले तक विवाह की इजाजत मिल गई थी। हजार तरह की जातीय बाधाएँ तथा विषमता होने के बावजूद वे प्रणय सूत्र में बंध गये (नैमिसराय 44)।'' जातिप्रथा के विनाश के लिए यह जरूरी है कि सवर्ण आगे आये और इस प्रथा के खिलाफ आवाज उठाये। 'रूपाली सिंह' की कहानी 'विद्रोहिणी' में भी सवर्ण लड़की द्वारा इस जातिप्रथा का चुपके से विरोध करती दिखायी गयी है। कहानी में रीमा के घर पारस नाम का दलित काम करता है। उसकी दादी ने उससे कहा था कि – ''पारस डोम है, उससे देह नहीं छुआना, नहीं तो शैम्पू करके नहाना पड़ेगा (सिंह 120)।'' लेकिन हर बार रीमा जानबूझकर पारस को छू लेती है। दादी से मार खाने पर वह जानबूझकर छूती है और बिना बताये सबको छू कर अपवित्र कर देती है। वह कहती है – ''अब नहाना भी नहीं पड़ेगा और सबको छू-छूकर भ्रष्ट करूँगी। रोज मुझी से हर मुश्किल काम करवाते हैं। अब आयेगा मजा (सिंह 20)।'' स्कूल में एक दलित सहेली से मिल बाँटकर टिफिन खाने पर उसकी दीदी उससे कहती है – ''तू अपने टिफिन में खिला रही है बबुन्तीया को। चमारीन है और तुने अपना बर्तन भ्रष्ट कर दिया (सिंह 121)।'' घर जाकर वह देखती है कि उसकी दादी ने टिफिन को धोया और आग पर रख कर पवित्र कर दिया। वह सोचती है – ''अगर आग में जलाने से चीजें पवित्र हो जाती है तो क्या बबून्ती के यहाँ चूल्हा नहीं है। उसके बर्तन भी तो चूल्हें पर चढ़ते हैं, पारस भी तो घूरा तापता है, तो क्या इनके घरों का आग भी अछूत है (सिंह 122)।'' अतः छुआछूत की भावना को सवर्ण भी खुद तर्क के माध्यम से झूठला रहा है और कहीं न कहीं वह भी दलितों को अपना रहा है। दरअसल रीमा का ऐसा सोचना समाज में फैली जातिप्रथा का विरोध है। जातिप्रथा एक ढकोसला है जिसकी आड़ में दलितों का शोषण निहित है।

शिक्षा ने दलित को न केवल आर्थिक संपन्न बनाया है, बल्कि उन्हें आत्मसम्मान के साथ जीने की प्रेरणा भी दी है। आज दलित मीडिया में भी पहुँच चुका है। किन्तु दलित की

चुनौतियाँ खत्म नहीं हुई है। उन्हें आज भी हर क्षेत्र में जातिवादी भेदभाव का शिकार होना पड़ रहा है। 'रजन रानी 'मीनू' ने अपनी कहानी 'मैं खबरदार' में मीडिया में कार्यरत दलित स्त्री के साथ होने वाले भेदभाव का पर्दाफास की है। वर्षा को बचपन से स्कूल में अपने सरनेम को लेकर जूझना पड़ा था। हमारे समाज में सरनेम ही जाति की पहचान है। रेलवे में टी.टी.ई. का इन्टरव्यू लेते समय भी उसे अपनी जाति से गुजरना पड़ रहा था। लोग उसके सरनेम से उसे उच्च वर्ग समझ रहे थे। टी.टी. भी बार- बार अपने उच्च जाति होने का बोध करवा रहा था। वर्षा सोचती है –

> यहाँ भी जाति मेरा पीछा नहीं छोड़ रही है। वहाँ ठकुराइन यहाँ पंडिताइन। मीडिया प्रोफेशनल में जाति भेद ओजोन में छेद की तरह है। यह मेरे पीछे लग गई है। मेरी जाति मेरे साथ हर जगह परछाई की तरह पीछा करते आ रही है। (मीनू 11)

वर्षा अपने काम के बल पर पहचान बनाना चाहती है, किन्तु वह देखती है कि किसप्रकार उसके ऑफिस में उसका बॉस ब्राह्मण, क्षत्रिय, मुसलमान के बीच भेद-भाव करता है। वह वर्षा के सरनेम के कारण उसे ठकुराइन समझता है, किन्तु वर्षा तो दलित जाति की है। मीडिया में इसतरह के भेदभाव को देखकर वर्षा चकित हो जाती है।–

> मीडिया में जातिभेद का रोग नहीं हो सकता। यहाँ सब पढ़े-लिखे, सुलझे विचारों वाले प्रगतिशील सेकुलर लोग रहते हैं। दुनिया की बाल की खाल निकालने वाले लोगो के अंदर इतनी बुराईयाँ, कमियाँ होंगी? वर्षा को चकित करने वाली बात लग रही थी। (मीनू 16)

वर्षा अब तक जाति से बचना चाह रही थी, किन्तु अब उसे अपने दलित होने पर गर्व हो रहा था। वह चाहती थी कि लोग उसे उसके काम से जाने जाति से नहीं, किन्तु जाति उसका पीछा नहीं छोड़ती है। जब वह कक्षा 10 में थी तभी उसने अपना सरनेम अपने नाम से हटा दी थी। वह कहती है – ''तब तक मुझे सच में बहुत डर लगता था कि कहीं इसे मेरी जाति का पता न चल जाय। हमेशा सतर्क रहती थी, मगर अब मेरे अंदर का डर निकल गया है। अब मैं शान से अपना परिचय देती हूँ। मैं पत्रकार हूँ (मीनू 16)।'' जातिगत आधार पर शोषण का स्वरूप आजकल शिक्षण संस्थानों में पुरजोर दिखाई पड़ रहा है। आरक्षण का विरोध जोरो से चल रहा है। इसके परिणम स्वरूप दलित छात्रों को निशाना बनाया जा रहा है। आये दिन न्यूज पेपर में दलित छात्रों के आत्म हत्या की बातें छप रही है, किन्तु कोई इसके पीछे छिपे राज को जानने तक की जहमत नहीं उठाया जाता है कि आखिर दलित छात्र आत्महत्या कर क्यों रहे है? शिक्षण संस्थानों में पढ़ने वाले छात्रों को हमेशा सवर्ण छात्रों से मानसिक यातना झेलना पड़ता है। जो छात्र इसे नहीं झेल पाते हैं वे अंततः आत्महत्या की शरण में चले जाते हैं। 'कैलाश वानखेड़े' की कहानी 'महू' में संस्थानों में क्लासमेट के बीच फैलते जातिवादी भावना को इंगित किया गया है। कहानी में प्रज्ञा अपनी

सहेली संघमित्रा के कॉलेज छोड़ने के कारण को बताते हुए कहती है – ''उसने तो पहले ही साल कॉलेज छोड़ दिया था। वह सहन नहीं कर पाई। वह रहती तो उसके पास भी आत्महत्या के अलावा दूसरा रास्ता नहीं होता। कॉलेज छोड़कर जाने वालों के बारे में कोई सोचता ही नहीं, क्यों छोड़ देते हैं कॉलेज (वानखेड़े 82)।'' प्रज्ञा को उसके ही क्लास की सवर्ण लड़की रागिनी हमेशा शुडू कहकर बुलाती है। उसे इस बात की चिढ़ है कि अच्छे अंक पाकर भी उसे सवर्ण होने के कारण कैमिस्ट्री नहीं मिली। उसे लगता है कि प्रज्ञा ने दलित होकर उसका हक छीन ली है। इसका जवाब देते हुए प्रज्ञा कहती है – ''तुम्हारा हक? सदियों से हमारे हक पर डाका डाला है तुमने। सदियों से सहते रहे हैं हम। अब हमें मौका मिला तो पच नहीं रहा है (वानखेड़े 82)।'' प्रज्ञा अब चुप रहने वाली दलित नहीं है। वह तर्क करती है और गर्व से कहती है कि अगर उसे रिजर्वेशन मिला है तो यह उसका हक है। वह कहती है – ''हम बोलेंगे अब। हाँ हमें फख्र है कि हमारे माँ-बाप ने अपनी पूरी जिन्दगी हमें बनाने के लिए लगा दी...उनके लिए.....बाबा साहेब के लिए कि उनकी बदौलत है हम यहाँ खड़े....हम कहेंगे कि हैं हम कोटे वाले (वानखेड़े 84)।'' दलित अब अपने ही क्लासमेट द्वारा मानसिक प्रताड़ना को झेल रहा है, यह अलग बात है कि अब वह इसका प्रतिकार भी करने लगा है। यह शोषण का नया तरीका है। कहानी में नरेश कहता है – ''प्रताड़ना बंद नहीं होती है। कुछ शब्द बदल जाते हैं। कुछ तरीके चेंज कर लेते हैं। पॉलिश हो गये न बाजार वाले। मासूमियत के साथ गला काटते हैं। ये हर रोज काटते हैं मारने के लिए (वानखेड़े 81)।''

'ओम प्रकाश बाल्मीकि' की कहानी 'घुसपैठिये' में भी शिक्षण संस्थानों में दलित छात्रों पर होने वाली प्रताड़ना को दिखाया गया है। कहानी में सवर्ण छात्र के लिए आरक्षण पाकर आने वाले दलित छात्र घुसपैठिये के समान लगते हैं। सवर्ण छात्र इन दलित छात्रों के साथ मानसिक एवं शारीरिक रूप से प्रताड़ित करते हैं। दलित छात्रों पर हो रहे अत्याचार को लेकर पुलिस, प्रशासन तक चुप्पी साधे रहते हैं। कहानी में रमेश चौधरी दलित छात्रों को क्रांति के लिए प्रेरित करते हुए कहता है –

> तुम लोग इसी तरह उदासीन बने रहे तो वह दिन दूर नहीं जब आरक्षण को ये लोग हजम कर जायेंगे.....बाबा साहेब तो है नहीं .....और बाबा साहेब के नुमाइंदे बनने का जो ढोंग कर रहे हैं वे भी संसद में पहुँचते ही गीदड़ बनकर उनकी गोद में बैठ जाते हैं जो आरक्षण विरोधी है और तरह-तरह की नौटंकियां करने में माहिर है। (बाल्मीकि 108)

कहानी में सुभाष सोनकर को प्रणव मिश्रा द्वारा दलित होने के जुर्म में पूरी तरह पीटा जाता है। वह कहता है – ''चमार हो या सोनकर.....ब्राह्मण तो नहीं हो....हो तो सिर्फ कोटे वाले...बस इतना काफी है (बाल्मीकि 110)।'' सवर्ण छात्रों के उत्पीड़न से परेशान होकर

वह आत्महत्या कर लेता है। उसके दलित माँ-बाप का अपने बेटे को डॉक्टर बनाने का सपना अधूरा रह जाता है। सवर्ण छात्रों द्वारा होस्टल में दलित छात्रों को एक कमरे में कैद कर पीटा जाता है। बॉयज होस्टल हो या गर्ल्स, दलितों को अलग कमरे में रखा जाता है। शिकायत करने पर कॉलेज मैनेजमेंट को लगता है- ''दलितो के लिए मेडिकल में आना अतिक्रमण करना है (बाल्मीकि 110)।'' कॉलेज प्रोफेसरों द्वारा भी प्रेक्टिकल का मार्क्स देते वक्त भेदभाव किया जाता है। शिक्षण संस्थानों में यह भेदभाव केवल विद्यार्थियों तक ही नहीं, प्रोफेसरों के बीच भी उसी परिमाण में मौजूद है। आरक्षण के आधार पर आने वाले दलित प्रोफेसरों को भी मानसिक प्रताड़ना से गुजरना पड़ता है। विपिन बिहारी की कहानी 'प्रेम की बुनियाद' में वे दिखाते हैं कि किसप्रकार डिपार्टमेंट में एक दलित के शिक्षक बनकर आने पर पहले तो सवर्ण शिक्षकों में कुंठा का उभार होता है, वहीं दलित शिक्षक द्वारा शिक्षा प्राप्त करने को लेकर कक्षा में सवर्ण और दलित विद्यार्थियों के बीच बँटवारा हो जाता है। दलित शिक्षक से उसकी जात पूछने पर संतराम कहता है – ''जातियों में विभक्त करने का काम आप जैसों का है। मैं सिर्फ दलित हूँ। मेरी कोई जात नहीं है (बिहारी 103)।'' वे दलितों के अंदर भी बँटे जातिगत भेद को जानना चाहते हैं। दलितों के फैले जातिगत भेद का कारण भी संतराम इन सवर्णों को ही मानता है। वह कहता है-

> यह सब आप लोगो की ही देन है कि दलित आपस में ही दलित-महादलित के नाम पर भिड़ते रहे और आप लोग अपनी गोटियाँ सेट करते रहें। लेकिन मैं नहीं चाहता हूँ कि जाति के नाम पर दलितों में कोई राजनीति हो। यदि होता है तो इस पर रोक लगनी चाहिए। मैं दलित हूँ सिर्फ दलित। (बिहारी 103)

दलित संतराम के एपेईंटमेंट होने पर उसके हेड ने मुँह बिचका लिया था, किन्तु वे कुछ बिगाड़ नहीं सकते थे। दलित पढ़-लिख कर, योग्यता के बल पर कई पदों पर पहुँच रहा है। संतराम हेड को सोचकर मन ही मन सोचता है – ''सब तरफ तुम ही तुम रहोगे, तब हमलोग कहाँ जायेंगे? योग्यता मुझमें है तो उचित जगह देनी ही पड़ेगी (बिहारी 104)। '' कक्षा में सवर्ण छात्रों द्वारा विरोध करने पर दलित छात्र भी संगठित होने लगते हैं। वे दिखा देना चाहते हैं कि अब वे भी संगठित है और हर चीज का विरोध कर सकते हैं।

इस जातिद्वेष की मार सवर्ण छात्रों को भी कभी – कभी उठाना पड़ता है। अगर कोई सवर्ण छात्र किसी दलित प्रोफेसर को अपना गाइड या गुरू मान ले, उसके सामने झूककर प्रणाम करें तो उसे भी इसकी कीमत चुकानी पड़ती है। समाज में किसी का पद या गुण से अधिक महत्व उसकी जाति का है। 'शशिभूषण' की कहानी 'जातिदंड' में सवर्ण छात्र रामफल पांडे का एक दलित प्रोफेसर को अपना रिसर्च गाइड चुनना उसके लिए मुसीबत बन जाती है। रामफल पांडे का ब्राह्मण होकर दलित प्रोफेसर के पाँव छूना सवर्ण समाज को कलंक के समान लगता है। कहानी में – ''जो व्यक्ति गाँव में किसी से पैलगी नहीं करता। बढ़कर अभिवादन नहीं करता। सगे नाते-रिश्तेदारों के पाँव नहीं छूता वह किसी दलित

प्रोफेसर के पाँव छूता है। किसी के लिए हजम होने वाली बात नहीं थी (शशिभूषण 99)।'' रामफल पांडे को प्रोफेसर शर्मा ही नहीं, विभाग का हेड भी सवर्ण होने के कारण उसे नसीहत देता है कि वह एक दलित प्रोफेसर को अपना गुरु न माने। वह कहता है – ''दलित के पीछे-पीछे तुम ब्राह्मण होकर घुमते हो। यह ठीक नहीं है। यह इस विभाग में, यहाँ की धरती पर फलदायी नहीं हो सकता। इस विभाग में तो क्या पूरा विश्वविद्यालय ही न इसे पचा पायेग, न बर्दास्त कर पायेगा (शशिभूषण 102)।'' उसके गाँव में इस बात की जानकारी होने पर सभी रामफल पाँडे का बहिष्कार करने और उसके शुद्धिकरण का फैसला लेते हैं। रामशरण कहता है –

> यदि रामफल पांडे ने स्वीकार कर लिया या किसी तरह यह साबित हो गया कि उन्होंने किसी दलित का चाहे वह प्रोफेसर ही क्यों न हो, पाँव छूते आ रहे हैं तो उनका सामाजिक बहिष्कार किया जाएगा और अगर रामफल ने इस बहिष्कार का उचित सम्मान न किया तो उनका शुद्धिकरण किया जायेगा। (शशिभूषण 102)

'रामजी यादव' की कहानी 'सूदखोर के पाँव' में भी बलिराम मास्टर दलित है और उनके साथी कलिग सवर्ण जाति के। अध्यापक होते हुए भी उन्हें कभी न कभी अपनी जाति के कारण सवर्णों का ताना सुनना ही पड़ता है। ब्रह्मांड की उत्पत्ति के संबंध में अपनी राय रखने पर सवर्ण कलिग यहाँ तक कह देते हैं – ''पाव भर दाना, शूद्र उताना। पीछड़ा होकर अध्यापकी पा गये तो राष्ट्रपति हो गये। असल औकात तो गाय-भैंस चराने की ही है न जी (यादव 28)।'' मास्टर बलिराम जातिप्रथा देखे बिना सबके सुख-दुख में भाग लेते है, किन्तु सवर्ण कलिग कभी न कभी उसे उसके दलित होने का बोध करा ही देते हैं। वह क्षत्रिय के ब्रह्मा की छाती से पैदा होने वाली मिथक पर भी प्रधानाचार्य को खरी खोटी सुना बैठता है। कहने का तात्पर्य है कि दलितों की लड़ाई कोई और नहीं लड़ने वाला, खुद दलितों को अपनी लड़ाई लड़नी होगी और उसे हर सवर्णों के सवालों का निडरता से तार्किक तरीके से जवाब देना होगा।

3.5.4. दलित स्त्री जीवन की अभिव्यक्तिः

हम जानते हैं कि भारतीय समाज में नारियों का जितना शोषण हुआ है, वह दुनिया के किसी भी समाज में देखने को नहीं मिलता है। नारी बस नारी है, वह सवर्ण के यहाँ हो या दलितों के, उसे हमेशा दासता का जीवन ही जीना पड़ा है। जो दलित समाज सवर्णों के प्रति विद्रोही रूख अपनाता ही, वही समाज अपने यहाँ हो रहे स्त्री शोषण के खिलाफ चुप्पी साधे रहता है। ऐसे में एक दलित वर्ग की नारी को दोहरी मार झेलनी पड़ती है, एक तो वह नारी है दूसरी दलित। नारी के सम्बन्ध में दलित लेखकों का भी नजरियाँ हिन्दू धर्म शास्त्रों जैसा ही अमानवीय और उत्पीड़न से भरा हुआ है और ऐसा हो भी क्यों न? ये दलित पुरुष भी उसी पितृसत्तात्मक व्यवस्था का ही एक हिस्सा है। राजेन्द्र यादव ने एक स्थान पर ठीक ही कहा है कि जो जितना ही दबा, कुचला, गुलाम है उसका

'आदर्श आदमी' उतना ही निरंकुश, अत्याचारी, अमानवीय है। पहला अवसर मिलते ही वह दलित आदमी बनने की उतावली में ठीक अपने मालिक का प्रतिरूप बन जाता है।

भारत के संकीर्ण समाज में स्त्री हमेशा से पाँव की जूती और भोग की वस्तु मानी जाती रही है। इसी कारण एक दलित स्त्री घर हो या बाहर, हर जगह शोषित और उत्पीड़ित है। दलित नारी घर की चार दिवारी में कैद नहीं रहती, वह पुरुष के कंधा से कंधा मिलाकर काम करती है। घर हो, खेत हो, झाड़ू लगाना, मल साफ करना, हर प्रकार का काम वह पुरुषों के समान ही करती है। इसके बावजूद उसे अपने ही पुरुष द्वारा शोषण का शिकार होना पड़ता है और बाहर निकलते ही सवर्ण इन दलित स्त्रियों के जिस्म को नोंचने के लिए गिद्ध की तरह हरदम तैयार बैठा हुआ है। डॉ. भीमराव अंबेडकर के उदय के साथ दलित स्त्रियों की दशा में परिवर्तन शुरु हुआ। दलित स्त्रियों को अपने समाज के पितृसत्ता के बोझ के साथ सवर्ण समाज के पितृसत्ता के शोषण और दमन को भी झेलना पड़ता है। डॉ. सुनिता साखरे लिखती है- ''दलित स्त्रियों के साथ अंदर-बाहर हर जगह उत्पीड़न होता है। घर में घर के लोगों द्वारा और बाहर समाज के लोगों द्वारा (साखरे 08)।'' दलित स्त्री को दलित जाति के साथ – साथ अपनी स्वाधीनता के लिए भी संघर्ष करना पड़ता है।

21वीं सदी के दूसरे दशक के कहानिकारों ने स्त्री में शिक्षा के कारण आए परिवर्तन और दलित स्त्री के ऊँचे पदों पर पहुँचने और उसके लिए किए जाने वाले संघर्ष को अपना विषय बनाया है। आज दलित स्त्री शिक्षित ही नहीं हो रही है, बल्कि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्रों में भी अपने अधिकारों के लिए लड़ रही है। ज्योतिबा फुले की पत्नी सावित्री बाई महाराष्ट्र में पहली स्त्री शिक्षिका मानी जाती है। उसी प्रकार अछूतानन्द और उसकी पत्नी दुर्गाबाई ने दलित स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में अभूतपूर्व कार्य किए है। दुर्गाबाई ने अपने गहन बेचकर विद्यालय की स्थापना की । आज भी हिन्दी क्षेत्र में दलित स्त्री शिक्षा के लिए योगदान करने वाली दलित महिलाओं की कमी है। अंबेडकर का मंत्र ही है शिक्षित हो, संगठित हो और संघर्ष करो। आज इस वैश्वीकरण के युग में दलित स्त्री शिक्षित भी हो रही है, संगठित हो रही है और अपने हक के लिए संघर्ष भी कर रही है।

शिक्षा ने दलितों के जीवन में अभूतपूर्व क्रांति लाई है। दलित युवक ही नहीं दलित स्त्रियाँ भी शिक्षा पाकर आगे आ पाई है। वैश्वीकरण के दौरान गाँवों का परिवर्तन कस्बों एवं शहरों के रूप में हुआ है। गाँव की दलित स्त्रियाँ भी शहर जाकर पढ़ रही है। 'योगिता यादव' की कहानी 'राजधानी के भीतर-बाहर' ऐसे ही गाँव के शहर में बदलने और एक दलित स्त्री के शहर कॉलेज में जाकर पढ़ाई करने से जुड़े संघर्ष की गाथा है। कहानी में सुनीता शहर के कॉलेज में जाकर कैमिस्ट्री की पढ़ाई कर रही है। एक तरफ उसे शहर के परिवेश से जूझना पड़ रहा है तो दूसरी ओर उसे घर की त्रासदी भी झेलना पड़ रही है। किन्तु उसे पता है कि शिक्षा के द्वारा ही जीवन में परिवर्तन लाया जा सकता है। लेखिका दिखाती है-

> बारहवीं करने के बाद सोनू ने लड़कियों के उसी कॉलेज में एडमिशन लिया, जिसमें मैनें फार्म नहीं भरा था.....दो छोटी बहनें हैं जो पढ़ रही थी और योजना थी कि उन्हें भी जेबीटी करवा दी जायेगी ताकि वे भी भाई की तरह अपने पैरों पर खड़ी हो जाय और मिट्टी की दुनिया और मिट्टी की जाति से बाहर निकल दिल्ली की सुविधा-सम्पन्न जिन्दगी में शामिल हो सकें। (यादव 112)

अब दलित समाज में भी इस बात पर जोर दिया जा रहा है कि स्त्रियाँ भी पढ़-लिख कर अपने पैरों में खड़ी हो सके। दलित भी अपनी जातिगत पेशे से बाहर निकल कर स्वाभिमान के साथ जिन्दगी जीना चाह रहा है।

एक ओर स्त्री पढ़-लिख कर आगे बढ़ रही है तो वहीं दलित समाज के भीतर भी पितृसत्तात्मक मूल्य साँसें ले रहा है जहाँ स्त्री और पुरुष में भेद किया जाता है। 'सुमित्रा मेहरोल' की कहानी 'फांस' में दलित समाज में भी लोगों के स्त्रियों के प्रति किए जाने वाले उदासीन मानसिकता को दिखाया गया है। कहानी में एक विकलांग स्त्री की पीड़ा अभिव्यक्त है, जिसे अपने ही माता-पिता से उपेक्षा झेलनी पड़ती है। फिल्म देखने जाने जैसी छोटी सी घटना में नैना के माता-पिता अपने बेटे को तैयार करते हैं और नैना के बारे में बिना कुछ सोचे, उसकी इच्छाओं को कुचलते हुए उसे छोड़कर फिल्म देखने चले जाते हैं। नैना उस घर में होते हुए भी वहाँ नहीं थी। नैना अपने माँ-बाप के कदम से कदम मिलाकर चलना चाह रही थी, किन्तु उसके माँ- बाप को इसका ज्ञान भी नहीं था कि नैना भी पीछे-पीछे आ रही है।– ''बढती दूरी के साथ-साथ उसके रूदन का स्वर और वेग भी प्रतिक्षण तीव्र से तीव्रतर हो रहा था, पर नन्ही की उपस्थिति से अनजान एक बार भी पीछे मुड़कर उसे देखे बिना मम्मी-पापा उससे दूर बहुत दूर होते जा रहे थे (मेहरोल 85)।'' दलित समुदाय के अंदर स्त्री उपेक्षा नहीं देखी जाती थी, किन्तु यह सवर्णों के बुराईयों का परिणाम है कि दलित के अंदर भी एक विकलांग बच्ची के प्रति उपेक्षा का भाव देखा जा रहा है।

दलित परिवार में मौजूद पितृसत्तात्मक मूल्यों को रेखांकन करती 'चंद्रकांता' की कहानी है 'शैड्यूल कास्ट।' कहानी में मीरा नामक पात्र जाति से दलित है और वह सवर्ण जाति के अभिषेक से प्रेम करती है। प्रेम के बीच जब जाति की दीवार आता है, तब अभिषेक मीरा को दलित होने का बोध कराता है और उससे संबंध तोड़ देता है। अभिषेक को अब अपने कान्यकुब्ज होने और मीरा के दलित होने का अंतर समझ आता है। किन्तु मीरा संबंध के विच्छेद होने से दुःखी नहीं होती है। वह रोती नहीं है बल्कि अभिषेक को खरी खोटी सुनाती है। वह कहती है –

> तुम तो जानते थे फिर, जात - विरादरी का यह गणित तुमने पहले क्यों नहीं लगाया? इस खूबसूरत देह का मोल भाव करते वक्त मेरी जात भी क्यों न पूछ

> ली....मैं ठुकराती हूँ तुम्हें और तुम्हारी उस दैव –शुचिता को जिनसे न मालूम कितने देव दासियों के बलात् शील भंग की सड़ांध आती है। (चंद्रकांता 127)

मीरा न केवल अभिषेक को फटकारती है, बल्कि अभिषेक के माध्यम से पूरे सवर्ण जाति के दैव-शुचिता वाली बात पर व्यंग्य भी करती है।

21वीं सदी के युग में भी दलित स्त्रियों को अपनी इज्जत और जान गँवानी पड़ रही है। आये दिन दलित महिलाओं के साथ दुष्कर्म हो रहा है तो कहीं डायन कहकर पीट-पीट कर मार डालने की घटना हमें विचलित कर रही है। अभी हाल ही में उत्तर प्रदेश के हाथरस की घटना ने सबके रोंगटे खड़े कर दिए है। दलित स्त्री के साथ न केवल सामुहिक दुष्कर्म किया गया, बल्कि उसे मार भी दिया गया। समस्या यह है कि प्रशासन भी पीड़ित के परिवार वालों को प्रताड़ित कर बलात्कारी को बचाने की कोशिश कर रही है। इसका पूरे देश में पुरजोर विरोध भी हो रहा है। आज का दलित इन घटनाओं को देखकर विचलित ही नहीं हो रहा है, बल्कि उसके अंदर प्रतिशोध की ज्वाला भी धधक रही है। 'सूरज बड़त्या' की कहानी 'गुफाएं' में भी राजन की बहन के साथ बलात्कार होता है, बाद में उसकी बहन आत्महत्या कर लेती है। राजन जब-जब किसी दलित स्त्री के साथ हुए बलात्कार की घटना सुनता है वह गुस्से में भर जाता है। वह सवाल करता है – ''क्या हम लोकतंत्र में रहते हैं....? क्या मनुष्य सचमुच सभ्य हो गया है..? हरामियों ने हमारी माँ-बहन के साथ रेप कर दिया। हमारे लोगो...(बड़त्या)।'' उसे अपने दलित होने पर गर्व है। वह अपनी प्रेमिका को गर्व से कहता है-

> शायद तुम दलित का अर्थ न समझ पाओ...मैं शेड्यूलकास्ट हूँ। वे मेरे लोग थे जिनकी चाहतों और सपनों को मसल दिया गया। उनका क्या कसूर था। क्या इस समाज में दलित को जीने का हक भी नहीं...कभी तो मन करता है कि आग का बदला आग.....मौत का बदला मौत हो....तभी मानेंगे ये...अब हम कमजोर नहीं है। (बड़त्या 158)

वैश्वीकरण के युग में दलित स्त्रियाँ भी आधुनिक बन गई है। फिर भी उसपर होने वाले अत्याचार कम नहीं हुए है। दिन-प्रतिदिन देश का हर राज्य स्त्रियों की सुरक्षा की दृष्टिकोण से असुरक्षित होता जा रहा है। कामकाजी स्त्रियों के लिए अकेले रहना मुश्किल हो गया है। ऐसे में दलित स्त्री के लिए तो यह और मुसीबत वाली बात है। ऐसी ही असुरक्षित दलित लड़की के कौमार्य बेचने की कहानी है 'जयप्रकाश कर्दम' की कहानी 'चक्रव्यूह'। कहानी में दलित लड़की रूपा अपहरण, बलात्कार, छेड़छाड़ के डर से सोशल मीडिया में अपने कौमार्य बेचने का विज्ञापन देकर सनसनी हो जाती है। इस वैश्वीकरण के बाजार में जब हर चीज एक प्रोडक्ट है, तो रूपा भी अपने देह को प्रोडक्ट मानकर उसका विज्ञापन करवाती है। उसके कौमार्य को खरीदने के लिए भी एक लम्बी लिस्ट लग जाती है। इस विज्ञापन को पत्रकारों द्वारा जाति से जोड़कर देखा जाता है। लड़की की जाति का पता

चलते ही पत्रकार तक दलित के प्रति जातिगत घृणा और द्वेष की दृष्टि से रिपोर्टिंग करने लग जाता है। रूपा की मजबूरी न देखकर उसे दलित जाति की दृष्टि से देखा जाने लगता है। पत्रकार आमोद कहता है –

> दलित लोग गंदे और घटिया काम करते हैं और गंदी जगहों पर रहते हैं। उनका परिवेश गंदगी से भरा होता है। उनके सोच का स्तर भी उनके अनुसार ही होता है। इसलिए बेहतर जीवन जीने की चाह में दलित लड़की द्वारा ही बिना किसी लोक लाज या मान-मर्यादा के, इसतरह अपना कौमार्य बाजार में बेचा जा सकता है। कुल खान-दान की मान-मर्यादा के बंधन में बंधी कोई ऊँच्च जाति की लड़की ऐसा नहीं कर सकती। (कर्दम 81)

पत्रकार द्वारा जाति के आधार पर विश्लेषण करना कतई उचित नहीं। हम जानते हैं कि आजकल ऊँच्च हो या निम्न हर तरह की लड़कियाँ हाई प्रोफाइल कार्ल गर्ल का काम करती देखी जा रही है। आमोद के ऐसा सोचने पर तपन जवाब देते हुए कहता है – ''धन और ऐश्वर्य के लिए अपना शरीर बेचने वाली स्त्रियाँ दलित नहीं गैर दलित होती है। दलित स्त्रियों की तो त्रासदी यह है कि उनकी इज्जत तो उनके साथ बलात्कार करके जबरन लूट ली जाती है (कर्दम 81)।'' रूपा द्वारा कौमार्य बेचे जाने की समस्या जितनी चिंताजनक है उतना ही उसे दलित जाति के रूप में देखकर समस्या को जाति विशेष तक जोड़कर देखना स्त्रियों के साथ अन्याय करना है।

'शिवमूर्ति' ने अपनी कहानी 'तिरिया चरित्र' में दलित वर्ग की स्त्री का कारुणिक चित्रण पेश किया है। कहानी का पात्र 'विमली' पुरुषों के बीच जाकर ईट भट्टे में काम करती है तो केवल अपने माँ – बाप के भरण-पोषण के लिए। उसे अपने ही ससुर द्वारा बलात्कार की पीड़ा झेलनी पड़ती है। ससुर द्वारा विमली पर ही लांछन लगाया जाता है और विमली को पंचायत की क्रूरता झेलनी पड़ती है। यह पंच विमली को निरपराध दाग देता है, पर इसका विरोध विमली अवश्य करती है – "मुझे पंच का फैसला मंजूर नहीं। पंच अंधा है। पंच बहरा है। पंच में भगवान का सत्त नहीं है। मैं ऐसे फैसले पर थूकती हूँ – आ-क-थू। देखूँ कौन माई का लाल दगनी दागता है (शिवमूर्ति www.hindisamay.com)।'' वहीं 'कुच्ची का कानून' कहानी में कुच्ची, विमली की तरह पराश्त नहीं होती है। वह पंचायत के सामने अपनी माँ बनने की अधिकार रक्षा में सफल होती है। कुच्ची बदलते समय में बदलते समाज की सोच की उद्घोषणा करती नजर आती है। पितृसत्ता के विरोध में मातृसत्ता को स्थापित करने की माँग करती है। उसका यह सवाल ध्यातव्य है – "कोख मेरी है तो इसपर हक किसका होगा (शिवमूर्ति http://gadyakosh.org)।'' शिवमूर्ति ने कोख पर स्त्री के अधिकार के मुद्दे को घर से बाहर पंचायत में लाकर एक नये अधिकार एवं विमर्श को हवा दी है। बिना पति के माँ बनने की बात पर जब सास द्वारा शंका व्यक्त की जाती है तब वह

कहती है – "किसी का नाम धरना जरुरी है क्या अम्मा? अकेले मेरा नाम काफी नहीं है? (शिवमूर्ति http://gadyakosh.org)।''वह पंचों के स्त्री अस्मिता की लड़ाई लड़ती है और स्पष्ट घोषणा करती है – "कुंती माई डर गयी, अंजनी माई डर गयी, सीता की माई डर गयी, लेकिन बालकिसन की माई डरने वाली नहीं है। मेरा बालकिसन पैदा होकर रहेगा (शिवमूर्ति http://gadyakosh.org)।'' कहानी के स्त्री पात्र पढ़े-लिखे एवं शहरी नहीं है, वे ग्रामीण है, दलित है, किन्तु अन्याय के खिलाफ लड़ने की चेतना से पूर्ण। ये दलित वर्ग की वे स्त्रियाँ है जो हजारों वर्षों से पितृसत्ता के शोषण की शिकार होती आई है, पर अब ये स्त्रियाँ प्रतिरोध करने लगी है। 'अकालदण्ड' में सुरजी हँसिये से सेक्रेटरी के देह का नाजुक हिस्सा काटकर अलग कर देती है –''अन्दर का दृश्य बड़ा भयानक है। सिकरेटरी बाबू पलंग पर नंग – धरंग पड़े छटपटा रहे हैं। सुरजी ने हासिए से उसकी देह का नाजुक हिस्सा अलग कर दिया है और पिछवाड़े के रास्ते भागकर अंधेरे में गुम हो गई है (शिवमूर्ति www.hindisamay.com)।'' लेखक ने यह दिखा दिया है कि अब दलित स्त्रियाँ नाजूक नहीं हैं, वह विरोध ही नहीं बदला तक लेना सीख चुकी है। अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिए वह कोई भी कदम उठा सकती है।

3.5.5. दलित राजनीति की चुनौतियाँ -

राजनीति में दलितों के आरक्षण के माध्यम से प्रवेश ने बहुत हद तक सवर्णों के साथ खड़े होने और अपने हक की बात करने का अधिकार तो दिया साथ ही आरक्षण की नीति के तहत दलित संसद और विधान सभाओं तक पहुँच सके। भारत वर्ष में जाति आधारित चुनावों ने भी सवर्णों को दलितों के घर-घर तक वोट माँगने के लिए पहुँचाया है। आज के दौर में दलित और अल्पसंखयक वोट बैंक बने हुए है और राजनीतिकों को भी इन वर्गों की आवाज सुनने के लिए मजबूर होना पड़ा है। डॉ. अंबेडकर ने यह सोचा था कि दलितों के राजनीति में हस्तक्षेप करने से बहुत हद तक उनकी समस्याओं को उजागर किया जा सकेगा, दलितों की स्थिति में सुधार हो सकेगा। किन्तु, दलित राजनीति में आकर खुद ही राजनीति के शिकार होने लगे हैं। जो सोचकर राजनीति में दलितों का सीट आरक्षित किया गया, वह पूरा न हो सका। ये दलित सत्ता पाते ही सामाजिक दुर्गति को भूलने लगे और स्वार्थी बनकर सत्ता का अंग बनकर अपने ही वर्ग का अहित करने लग गये।

21 वीं सदी में दलितों के बीच बहुत कुछ बदला है। आज दलित झोपड़पट्टियों में रहने के साथ ही सवर्णों के बीच पॉश कॉलोनियों में रहने लगा है। वह सवर्णों के साथ मिलकर सिनेमा, बाजार, रेस्टराओं में घुम रहा है। एक साथ स्कूल, कॉलेज में पढ़ाई कर रहा है। एक साथ काम कर रहा है। नव उदारवाद ने जातिभेद की खाई को कुछ हद तक कम किया है, फिर भी दलित और सवर्णों के बीच प्रेम विवाह आज भी दलितों के मौत का कारण बना हुआ है। गंदा उठाने और सफाई का काम आज भी दलित ही कर रहा है। कई स्थानों पर वह

आज भी विषमता और शोषण का शिकार है। शायद सब कुछ ठीक होने में समय लग जाय। नव-उदारवाद ने जहाँ जातिगत भेदभाव की दीवार को कमजोर किया है, वहीं इसके आरक्षण विरोधी रवैये ने दलितों के लिए खतरा भी पैदा किया है। दलित राजनीति को जरूरत है कि वह दलितों का आर्थिक ढ़ाँचा मजबूत करें। केवल वोट की राजनीतिक समीकरण न मिलाकर हाशिए में पड़े इस वर्ग के उत्थान के लिए कुछ कार्य करें। 21वीं सदी के दूसरे दौर की दलित कहानियों में दलित राजनीति के द्वारा दलित को मिलने वाली सुविधाओं के साथ-साथ इसके दूसरे पहलुओं पर भी विचार किया गया है।

शिवमूर्ति की कहानी 'बनाना रिपब्लिक' दलित राजनीति और उसके उभार की कहानी है। जग्गू द्वारा लेखक ने यह दिखा दिया है कि अब दलितों का राजनीतिकरण हो चुका है। ठाकुर द्वारा दलित को कठपुतली बनाकर सत्ता पाने का कुचक्र अब नहीं चलेगा। जग्गू के चुनाव जीतने पर जुलूस का ठाकुर के घर की तरफ न जाना, ठाकुर द्वारा स्वयं जग्गू के जुलूस में माला लेकर पहुँचना और किसी के कहने पर – "जरा कमरिया तो लचकाइए ठाकुर (शिवमूर्ति www.hindisamay.com)।'' ठाकुर का कमरिया लचकाकर नाचना बदलते समय का यथार्थ है। कफन कहानी में घिसु और माधव का कफन के पैसे से शराब पीकर नशे में गिरना दलित समाज की नियति थी तो जग्गू का चुनाव जीतकर ठाकुर को नचाना आज की नियति। ठाकुर द्वारा यह कहना – ''अगर पानी पीने से साथ पक्का होता हो तो बाल्टी भर पी जाऊ (शिवमूर्ति www.hindisamay.com)।'' 'ठाकुर के कुँआ' का अगला विकास है, जहाँ जोखू को गंदा और बदबूदार पानी पीने के लिए मजबूर होना पड़ा था। वहीं 'बनाना रिपब्लिक' में ठाकुर को दलितों के साथ के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। कहानी के अंत में ठाकुर के पंजे में पंजा फसाँकर नाचने वाले दलित बच्चे घिसु-माधव की तरह नशे में धत्त होकर नाचने वाले बच्चे नहीं है, बल्कि पंजे से पंजा मिलाकर सीधे वर्ग-संघर्ष करने वाले बच्चे हैं।

राजनीति में दलित आरक्षण की नीति ने भले सवर्णों को दलित के घर तक वोट मांगने के लिए भेज दिया हो, किन्तु यह भी सच्चाई है कि दलित राजनीति में आज भी कमजोर है। संसद तक पहुँचने के बाद भी दलित की स्थिति में ज्यादा सुधार नहीं ला पा रहे हैं। दलित प्रतिनिधि भी सवर्ण के साथ सांठ-गांठ कर अपनी रोटी सेंकने में लग गये हैं। दलित के लिए सीट आरक्षित होने के बावजूद नाम भले दलित का हो लेकिन, राज सवर्ण ही कर रहा है। 'जयश्री शर्मा' की कहानी 'सरपंच की तलाश' राजनीतिक आरक्षण की पोल खोलती है। कहानी में एक छात्र अपने दोस्त का मूल-निवास प्रमाण पत्र लेने उसके गाँव जाता है, पर वह गाँव में जाकर सरपंच का घर नहीं ढूँढ पाता है, क्योंकि वह सरपंच एक दलित महिला है। भूतपूर्व सरपंच से मिलने पर ही वह जान पाता है कि वर्तमान सरपंच एक अनुसूचित जनजाति की महिला है। वह कहता है –'' देखिए मैं भूतपूर्व सरपंच हूँ। दरअसल पिछले पंचायती चुनाव में यहाँ का सरपंच पद अनुसूचित जनजाति की महिला के लिए आरक्षित

कर दिया गया था। इस कारण यहाँ महिला सरपंच है (शर्मा 216-218)।'' वास्तविकता यह है कि उस महिला सरपंच को कुछ नहीं आता है। वह अनपढ़ है, बकरियाँ चराती है। उसका सारा काम तो उसके पति का मालिक करता है। वह तो बस अंगूठा लगाती है। आरक्षित सीट पर किसी न किसी को तो खड़ा करना ही है, सो उस महिला को ही चुना जाता है। वह कहता भी है –

> दरअसल जब आदिवासी महिलाएँ चुनाव के लिए तैयार हो ही नहीं रही थी तो किसी न किसी को सरपंच बनाना ही था सो भँवरी को मना-मुनाकर बाँस पर चढ़ा दिया.....उसका पति तो मेरी मार्बल की खान पर काम करता है। मैंने ही पटा कर उसका फार्म भरा दिया। चूँकि केवल उसी का फार्म पेश हुआ था सो वह निर्विरोध सरपंच चुन ली गई। (शर्मा 268)

आज भी देश के कई गाँवों में आरक्षण के वजह से पद पर तो दलित बैठा होता है, किन्तु सारा काम कोई और ही कर रहा होता है। आरक्षण पाकर भी दलित उसका भरपूर उपयोग नहीं कर पा रहा है और अंगूठा छाप लगाकर सवर्ण की ही गुलामी कर रहा है। लेखक दिखाता है –

> ग्राम सेवक कई लोगों से घिरा हुआ था। थोड़े इंतजार के बाद मोटरसाइकल पर बिठाकर वह उसे सरपंच के घर ले गया। वह बकरिया चराकर जंगल से आ चुकी थी। पहले से तैयार प्रमाण पत्र पर उसने उसका अंगूठा लगवाया और उसे सौंप दिया। (शर्मा 267)

कहानी उस सच्चाई को बयाँ करती है कि दलितों के आरक्षण का फायदा राजनीतिक रूप से सवर्ण ही उठा रहा है। जब तक दलित पढ़-लिख कर आगे नहीं आ जाते, संविधान द्वारा दिए गए अधिकारों का ज्ञान नहीं पा लेते, राजनीति में उनके आरक्षण का फायदा किसी न किसी रूप में सवर्णों द्वारा उठाया जाता रहेगा।

दलित हमेशा से चुनावी मैदान में वोट बैंक बनता आया है। आरक्षित सीटों में दलित सरपंच होने के बावजूद उसकी कुछ नहीं चलती है। दलितों को केवल वोट बैंक न बनकर राजनीति में सक्रिय भूमिका निभानी होगी। 'कैलाश चन्द्र' की कहानी 'गोठान में पड़ा लोकतंत्र' चुनावी माहौल की कहानी है जहाँ वोट पाने के लिए सवर्ण प्रत्यासी दलितों के बीच आंकड़ा भिड़ाने में लग जाता है, किन्तु चुनाव में दलितों का वोट न मिलने पर वरमदीन महाराज हार जाते हैं और इसका प्रतिशोध वह दलितों पर अत्याचार करके लेता है। उसने दलितों को लुभाने के लिए नोट बाँटे, कच्ची दारू पिलवाई, कंबल बाँटे फिर भी वोट न मिलने पर हार जाते हैं। प्रतिशोध के लिए वे दलितों के शवयात्रा को रास्ते में ही रोक देते हैं, चूंकि दलितों का शमशान उसके जमीन से होकर गुजरता है। वह कहता है – ''हमारी जमीन से होके कोनऊ दलित की अरथी न गुजरहे। वरमदीन की यह घोषणा बम

की तरह फटी (चन्द्र 48)।'' दलित को शव लेकर वापस लौटना पड़ता है। लेखक दिखाते हैं – ''दलितों को सबक सिखाने के लिए कुँइयों का पानी भरना बंद कर देना, गली छींद देना, झोपड़े ध्वस्त कर देना तो जैसे चलन में आ ही गया था। पर अरथी को रोक देना और उसे मरघट नहीं पहुँचने देना आज यह नया व्यवधान खड़ा हो गया था (चन्द्र 48)।'' पंच की बैठक बैठने पर सवर्ण सरपंच और दलित सरपंच के बीच भेदभाव किया जाता है। - ''सवर्ण पंच सभी चारपाइयों पर बैठे और दलित पंचों को बोरा बिछाकर नीचे जमीन पर बैठने के लिए कहा गया (चन्द्र 48)।'' किन्तु आज दलित इसका विद्रोह करना जानता है। अभी हाल ही में तमिलनाडू के एक गाँव में भी दलित सरपंच को जमीन पर बैठने के लिए कहा गया। इसका विरोध हुआ और यह अखबारों की सुर्खियों तक में यह बात फैल गई थी। कहानी में भी दलित वरमदीन वाली घटना के विरोध में आन्दोलन पर उतर आते हैं और काम रोको आन्दोलन छेड़ देते हैं- ''हलवाही बंद, मरे जानवर उठाना बंद, उनके जूता बनाना बंद। सम्पूर्ण बंद (चन्द्र 49)।'' आन्दोलन का व्यापक असर होता है और सरकारी हस्तक्षेप के बाद सवर्ण को समझौता करने के लिए राजी होना पड़ता है।

राजनीति में दलित प्रतिनिधी होने के बावजूद सवर्ण और सत्ता दल द्वारा दलित को ही मोहरा बनाकर दबाया जाता रहा है। आज भी ग्रामीण राजनीति में सवर्ण और पुलिस प्रशासन की मिलीभगत से उसी दलित को सीट मिल रहा है जो सवर्णों की कठपुतली बनना चाह रहा है। आज भी जब जरूरत पड़ती है किसी दलित को ही बकरा बनाया जा रहा है। 'अर्जुन सावेदिया' की कहानी 'मुठभेड़' सवर्णों की मिलीभगत और डाकुओं से सांठ-गाँठ वाले एक छोटे से दलित गाँव की कहानी है। गाँव में एक ओर डाकुओं का आतंक है तो दूसरी ओर पुलिस और डाकुओं के मुठभेड़ में दलितों के कच्चे घर के जलकर राख होने की वेदना है। इतना ही नहीं इस मुठभेड़ में कई बेकसूर दलित मारे जाते हैं। किन्तु, उन दलितों के प्रति न तो सवर्णों की न पुलिस प्रशासन की सहानुभूति है। जैसे ये दलित मानव नहीं कोई जानवर हो। कहानी में पुलिस अपनी नाकामी को छुपाने के लिए एक साधारण दलित को पकड़ कर दिखाना चाहता है कि उसने डाकू को पकड़ लिया। उस दलित को मारा-पिटा जाता है और सबूत न मिलने पर छोड़ दिया जाता है। कहानी में लेखक दिखाते हैं – ''पकड़ा गया आदमी डाकू फूला नहीं बल्कि एक गरीब दलित मजदूर है। वह उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश तीनों राज्यों की सीमा पर बसे एक सीमावर्ती गाँव का निवासी है। असली नाम रौनक है (सावेदिया 127)।'' यह रौनक पढ़ा-लिखा दलित था, उसकी गिरफ्तारी के पीछे भी सवर्णों की चाल थी। चूँकि वह इसबार अपनी ही जाति के हनुमान सिंह को इलेक्शन में चुनौती दे रहा था। सवर्ण हनुमान सिंह को चुनाव का टिकट दिलाना चाह रहे थे, जो सवर्णों के हाथ की कठपुतली था। उसके गाँव को पुलिस द्वारा घेर लिए जाने पर यह रौनक ही अकेले लाठी लेकर डाकुओं से लोहा लेने के लिए निकल पड़ता है जबकि सारे सवर्ण अपने घर में छिप जाते हैं। इसी मुठभेड़ में कई दलित मारे जाते हैं और उनका घर जलकर खाक हो जाता है। लेखक दिखाते हैं-''सबेरा होने तक गाँव में चारों

ओर छप्पर छबे झोपड़ीनुमा तमाम कच्चे-पक्के घर जलकर खाक हो चुके थे। दलितों का पूरा पौठा आग से प्रभावित था। कोई घर कम तो कोई झोपड़ी ज्यादा जल गई थी (सावेदिया 130)।'' 'कैलाश चन्द्र' की और एक कहानी 'जाल' में भी दलित की जमीन को सवर्ण द्वारा जबरन हड़प लिया जाता है। उस गाँव का सरपंच दलित ही था, फिर भी उसकी हिम्मत नहीं होती है कि वह जयलाल के विरूद्ध जा सके। -

> वह जयलाल जैसे बड़ी जात के मनई के खिलाफ नोटिस नहीं भेज सका। उसकी इतनी औकात नहीं थी। वैसे भी उसकी पीठ पीछे उसे गाँव के बड़े मनई गरियाते रहते थे और उसकी हीन जात को लेकर टिप्पणियाँ करते रहते थे। कानूनन वह सरपंच अवश्य था पर बड़े लोगों के बीच उसकी हैसियत दो कौड़ी की भी नहीं थी। (चन्द्र 45)

गाँव का सरपंच स्वयं दलित होने के बावजूद वह अपने ही दलित भाई की जमीन को नहीं बचा पाता है। सरपंच बनकर भी वह बड़ी जात वालों का खिलौना ही बना रहता है, ऐसे पद से दलितों का क्या फायदा होगा? कहानी में दलित भगतराम की जमीन को भी धोखे से स्कूल के लिए हड़प लिया जाता है। -

> सहमति पत्र पर धोखे से लगवाये उसके अंगूठा निशानी ने स्कूल अभियान में लगे लोगों की तमाम मुश्किलें आसान कर दीं। स्कूल का नाम भी जयलाल के सदा पढ़ाई-लिखाई का विरोध करने वाले उसके सूदखोर बाप केदारनाथ के नाम पर रख दिया गया। (चन्द्र 49)

यह आज के कई गाँवों की सच्चाई है जहाँ दलित प्रतिनिधि होने के बावजूद वह दलितों के लिए कुछ कर नहीं पा रहा है। आरक्षण ने दलितों को राजनीति में भी उतरने का मौका दिया है। भारतीय संविधान ने दलित प्रतिनिधि के लिए क्षेत्रों को दलितों के लिए आरक्षित किया। इन क्षेत्रों से दलित पात्र चुनाव लड़कर भारतीय राजनीति में अपनी भूमिका निभा रहा है। वोट की राजनीति ने दलितों के अंदर चेतना के साथ- साथ सवर्णों से समतुल्य खड़े होने में मदद की है। राजनीति ने सवर्णों को दलित नेता के समक्ष झूकने के लिए मजबूर किया है। फिर भी दलित राजनीति में आरक्षण का मजा कुछ खास दलित ही उठा रहा है। अपनी जाति का प्रतिनिधित्व करने के बावजूद दलित नेता खुद के स्वार्थ में फँस चुका है। दलित उत्थान में उसकी भूमिका नगण्य साबित हो रही है। वहीं कई क्षेत्रों में दलित नेता जीतने के बावजूद वह सवर्णों के हाथ की कठपुतली बना घुम रहा है।

3.6. उपसंहारः

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त हम देखते हैं कि 21वीं सदी के माहौल में दलित समाज में जहाँ एक ओर चेतना का संचार हुआ है, वहीं मध्यवर्गीय दलित अपनी जाति के शोषण को भुलकर खुदमें सवर्ण की मानसिकता का विकास कर रहा हैं। शोषण का वह रूप जो आज से सैकड़ो साल पहले था, आज ठीक वैसी परिस्थितियाँ नहीं रही हैं। दलित का परिवार आज शिक्षा प्राप्त कर सवर्णों के समकक्ष खड़ा हो पाया है। आरक्षण की नीति ने उनके जीवन में भारी परिवर्तन लाया हैं। आज देश के हर क्षेत्र में दलित पहुँच पाया है। यह अलग बात है कि वैश्वीकरण की नीति ने जहाँ दलित को भी आगे आने का मौका दिया है, वहीं इसकी कुछ खामियाँ भी हैं। निजीकरण की नीति आरक्षण को नहीं मानती है। आज जिस तरह से देश में निजीकरण की प्रक्रिया अपनायी जा रही है, वह दिन दूर नहीं जब सरकारी संस्थान नाम मात्र को रह जायेंगे और हर चीज का निजीकरण कर दिया जायेगा। आरक्षण पर सवाल उठने शुरू हो गये हैं। अतः आरक्षण के मुद्दे को लेकर दलित समाज को एक जुट होने की जरूरत है। दलित के जीवन में होने वाले परिवर्तन का यथार्थ चित्रण समकालीन लेखकों की कहानियों में बाखूबी देखने को मिल रहा है। इसके बावजूद आज के दलित लेखकों में एक आन्दोलन की कमी देखी जा रही है। दलित लेखक भी कई मुद्दों पर एकजुट नहीं हो पा रहे हैं।

संदर्भ- ग्रंथ

आलोचनात्मक-ग्रंथ

1. अंबेडकरः *सम्पूर्ण वाङ्मय.* खण्ड-1, 2017.
2. एजुकेशन डिपार्टमेंट. *सोर्स मेटेरियल ऑन डॉ. बाबा साहेब अंबेडकर एंड दी मूवमेंट ऑफ अनटचेबिल्स.* वाल्यूम-1, गवर्नमेंट ऑफ महाराष्ट्र. पहला संस्करण, 1982.
3. कर्दम, जयप्रकाश (सं). आलेख- नैतिकता का कुपाठ और दलित आत्मकथाएँ. *दलित साहित्य वार्षिकी-2006.* अकादमिक प्रतिभा, 2006.
4. कुमार, दीपक (सं). *दलित-विमर्श और हिन्दी साहित्य.* लोकभारती पेपरबैक्स, 2017.
5. दुबे, अभय कुमार सं. *आधुनिकता के आइने में दलित.* वाणी प्रकाशन, 2014.
6. नैमिशराय, मोहनदास. *दलित साहित्यः सही जगह की तलाश (परिसंवाद).* कल के लिए.
7. पालिवाल, कृष्ण दत्त. *अंबेडकर और समाज-व्यवस्था.* किताब घर, 1990.
8. बंदोपाध्याय, प्रणव सं. *दलित साहित्य की राजनीतिक अवधारणा- दलित प्रसंग.* शिलालेख, 1999.
9. महेसाणे, पी.ए. परमार. *दलित चेतना के आधार स्तम्भ.* गाँधी कुटीर, 2011.
10. मास्के, साक्षान्त. *परम्परागत वर्ण व्यवस्था और दलित साहित्य.* वाणी प्रकाशन, 2010.
11. राजकिशोर (सं). *दलित राजनीति की समस्याएँ.* वाणी प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 2008.
12. वाल्मीकि, ओम प्रकाश. *दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र.* राधा कृष्ण प्रकाशन, 2014.
13. वेदालंकार, जयदेव. *वैदिक दर्शन.* भारतीय विद्या प्रकाशन, 1991.
14. शंभुनाथ. *भारतीय अस्मिता और हिन्दी.* सामयिक प्रकाशन, 2012.
15. हटन. *भारत में जातिप्रथा.* मोतीलाल बनारसीदास, 2007.
16. हरगोविन्द. टीकाकार. *मनुस्मृति.* अखंडानन्द, अहमदाबाद, 1996.

आधार-ग्रंथ

1. कर्दम, जयप्रकाश. *चक्रव्यूह.* बया, अक्टूबर-दिसम्बर, 2019.
2. कुमार, अभय. *दोहरे.* कथादेश, सितम्बर, 2019.
3. चौहान, कैलाश चन्द्र. *गोठान में पड़ा लोकतंत्र.* बया, जुलाई-दिसम्बर, 2016.
4. चौहान, कैलाश चन्द्र. *जाल.* बया, जनवरी-मार्च, 2013.
5. चंद्रकांता. *शेड्यूल कास्ट.* दलित साहित्य की चर्चित प्रेम कहानियाँ, कदम प्रकाशन, 2019.
6. टेकचंद. *मोर का पंख.* मोर का पंख तथा अन्य कहानियाँ, वाणी प्रकाशन, 2015.
7. टेकचंद. *दौड़.* मोर का पंख तथा अन्य कहानियाँ, वाणी प्रकाशन, 2015.
8. टेकचंद. *खस्सी.* मोर का पंख तथा अन्य कहानियाँ, वाणी प्रकाशन, 2015.
9. तुषामढ़, पूनम. *काली.* कथादेश, सितम्बर, 2019.

10. नावरिया, अजय. *निर्वासन.* पाँच बेहतरीन कहानियाँ, वाणी प्रकाशन, 2013.
11. नावरिया, अजय. *आवरण.* कथादेश, सितम्बर, 2019.
12. नावरिया, अजय. *न्याय कथा.* पाँच बेहतरीन कहानियाँ, वाणी प्रकाशन, 2013.
13. नैमिसराय, मोहनदास. *स्वपनदर्शी.* दलित साहित्य की चर्चित प्रेम कहानियाँ, कदम प्रकाशन, 2019.
14. बड़त्या, सूरज. *कबीरन.* https://www.jankipul.com/2018/04/a-short-story-of-suraj-badtya.html
15. बड़त्या, सूरज. *गुफाएँ.* दलित साहित्य की चर्चित प्रेम कहानियाँ, कदम प्रकाशन, 2019.
16. बिहारी, विपिन. *उल्टियाँ.* कथादेश, सितम्बर, 2019.
17. मीनू, रजत रानी. *मैं खबरदार.* हंस, दिसम्बर, 2019.
18. मील, संदीप. *दूजी मीरा.* हिन्दी समय डॉट कॉम.
19. मेहरोल, सुमित्रा. *फांस.* कथादेश, सितम्बर, 2019.
20. यादव, योगिता. *राजधानी के भीतर-बाहर.* हंस पुरस्कृत कहानियाँ, अक्षर प्रकाशन प्रा. लिमिटेड, 2020.
21. राजस्थानी, हीरालाल. *हड्डल.* दलित साहित्य की चर्चित प्रेम कहानियाँ, कदम प्रकाशन, 2019.
22. वानखेड़े, कैलाश. *महू.* दलित साहित्य की चर्चित प्रेम कहानियाँ, कदम प्रकाशन, 2019.
23. वाल्मीकि, ओमप्रकाश. *घुसपैठिये.* बया, अप्रैल-जून, 2016.
24. शर्मा, जयश्री. *सरपंच की तलाश.* मधुमती, मार्च-अप्रैल, 2012.
25. शिवमूर्ति. *तिरिया चरित्र.* हिन्दी समय डॉट कॉम
26. शिवमूर्ति. *कुच्ची का कानून.* Gadyakosh.org
27. शिवमूर्ति. *अकालदण्ड.* हिन्दी समय डॉट कॉम
28. शिवमूर्ति. *बनाना रिपब्लिक.* हिन्दी समय डॉट कॉम
29. सावेदिया, अर्जुन. *मुठभेड़.* कथादेश, सितम्बर, 2019.
30. सांभरिया, रत्न कुमार. *फुलवा.* दलित समाज की कहानियाँ, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लिमिटेड, 2014.
31. सांभरिया, रत्न कुमार. *मेरा घर.* दलित समाज की कहानियाँ, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लिमिटेड, 2014.
32. सांभरिया, रत्न कुमार. *आखेट.* दलित समाज की कहानियाँ, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लिमिटेड, 2014.
33. सांभरिया, रत्न कुमार. *बकरी के दो बच्चे.* दलित समाज की कहानियाँ, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लिमिटेड, 2014.
34. सिंह, रूपाली. *विद्रोहिणी.* बया, अप्रैल-जून, 2016.

पत्रिकाएँ

1. इंडिया टुडे. 28 जनवरी, 2009.
2. कथादेश. सितम्बर, 2019.
3. सुमन लिपि मासिक. फरवरी-मार्च, 1994.
4. युद्धरत आम आदमी.1998. अंक-41-42.

शब्दकोश

1. हिन्दी- गुजराती कोश. गुजरात विद्यापीठ. 2014.
2. मराठी-गुजराती कोश. मुम्बई.

चतुर्थ अध्याय

वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में किसान विमर्श की अभिव्यक्ति

चतुर्थ अध्याय

वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में किसान विमर्श की अभिव्यक्ति

भूमिकाः

हिन्दुस्तान की आबादी का 70 प्रतिशत हिस्सा आज भी कृषि पर निर्भर है। यह देश किसानों का देश कहलाता है। गाँधी जी ने किसानों को देश की आत्मा तक कहा है। किसानों को अन्नदाता भी कहते हैं। इसके बावजूद भारत ही नहीं पूरे विश्व में सबसे ज्यादा दुर्दशाग्रस्त जीवन किसानों का ही है। अतः यह जानना जरूरी है कि किसान है कौन? प्रस्तुत अध्याय में इस दौर में हिन्दी कहानी में किसान जीवन की अभिव्यक्ति, उनकी स्थिति एवं समसामयिक परिस्थितियों से निर्मित चुनौतियों में किसानी सभ्यता की दशा पर विचार किया जाएगा।

4.1. किसान विमर्शः

किसान शब्द मूल रूप से प्राकृत भाषा का शब्द है। इसका मूल अर्थ कम ही परिवर्तित हुआ है। अतः किसान कहते ही दो तरह के किसानों का बोध होता है। एक तो वह जो अपनी जमीन का मालिक भी है और खेती का काम करता है, दूसरा वह जिसके पास अपनी जमीन तो नहीं है, लेकिन वह दूसरो के खेत में खेत मजदूर का काम करता है। कृषि कार्य से जुड़े हमें किसानों का चार वर्ग दिखाई देता है- 1. भूमिपति किसान 2. मंझोले किसान 3. छोटे जोत के किसान और 4. खेतीहर मजदूर किसान।'हिन्दी शब्द सागर' के तृतीय भाग में किसान शब्द का अर्थ है -1. कृषि या खेती करने वाला, 2. गाँव में नाई, बारी आदि जिनके घर कमाते हैं उन्हें किसान कहते हैं। 'मानक हिन्दी कोश' के अनुसार किसान शब्द का अर्थ है – 1. वह जो खेती-बारी का काम करता हो। खेतों को जोतने, उनमें बीज बोने, होने वाली फसल काटने आदि का काम करने वाला व्यक्ति। अतः किसान विमर्श के अंतर्गत किसानों की मनोदशा, भावना, उनके अधिकारों एवं उज्जवल भविष्य की योजना के साथ-साथ स्वस्थ जीवन के प्रति चिंतन एवं मनन किया जाता है।

वह किसान ही है जो अपने खून पसीने से भूमि को सींचता है। धूप, बरसात, आँधी, तूफ़ान की परवाह किए वगैर रात-दिन पूरे देश का पेट भरने के लिए संघर्ष करता है। इतना करने के बावजूद वह अपने लिए दो वक्त की रोटी का जुगाड़ नहीं कर पा रहा है। वह दर-दर की ठोकरें खा रहा है। उसे मजबूरी वश गाँव छोड़कर मजदूरी के लिए शहर को पलायन करना पड़ रहा है या कर्ज के बोझ तले दबकर आत्महत्या का रास्ता चुनना पड़ रहा है। हमारा देश कृषि प्रधान देश है और देश की अर्थव्यवस्था की जिम्मेदारी भी किसानों पर ही है। फिर भी उसकी ऐसा दशा का जिम्मेदार कौन है? किसान कल भी मजबूर था, वह आज भी मजबूर है। अंग्रेजी शासन के दौरान किसानों को शासक वर्ग द्वारा ढ़ाये गए कई प्रकार के अत्याचारों को झेलना पड़ा, लगान के नाम पर उसका खून चूसा गया। उसे दोहरी मार झेलनी पड़ रही थी। शासक वर्ग का अत्याचार तो था ही, साथ ही

अपने ही देश के जमींदारों द्वारा कर वसूलने के नाम पर, सूद के नाम पर नरक का जीवन व्यतीत करना पड़ रहा था। भारत की आजादी के बाद किसानों ने एक सुनहले भविष्य का सपना देखा था किन्तु, वह सपना कभी साकार नहीं हुआ; कारण यही था कि अंग्रेज तो चले गये, किन्तु शासन व्यवस्था में जॉन की जगह गोविन्द बैठ गया।

भारतीय समाज का मूलाधार किसान तथा भूमि से जुड़ा हुआ है। भूमि हमारी माँ है। वेदों में जन्मभूमि को स्वर्ग से भी बढ़कर माना गया है। - ''जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गदपि गरीयसी।'' इसी भूमि से अन्न उपजाने का काम किसान करता है। वह हमारा अन्नदाता है। इसके बावजूद इस अन्नदाता का जीवन चतुर्दिक समस्याओं से घिरा हुआ है। पूर्व औपनिवेशिक काल से लेकर 21वीं सदी तक के इतिहास में किसानों का जीवन संघर्षमय ही रहा है। इतिहास बदलता रहा, शाशक बदलते रहें, किन्तु किसानों के जीवन से दुःख का साया कभी नहीं हटा।

मानव जीवन के विकास में कृषि का अविष्कार एक ऐसा बिन्दू है जिसने सभ्यता और संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारत कृषि प्रधान देश है। भारत के सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का योगदान आज भी 22 प्रतिशत है । फिर भी आज तक किसानों का शोषण कम नहीं हुआ है। किसानों के शोषण, उत्पीड़न, और विद्रोह का इतिहास बहुत पुराना है। किसान भारत की आत्मा है; अन्नदाता है; किन्तु प्राचीन समय से ही किसानों का जीवन दयनीय रहा है। 'रामाज्ञा शशिधर' किसान के संबंध में ठीक ही कहते हैं- ''किसान श्रमशील समाज की केवल आर्थिक इकाई नहीं है। वह सांस्कृतिक एवं वैचारिक इकाई भी है।'' (शशिधर 47) किसान हैं तभी हमारी संस्कृति बची हुई है।

किसानों के साथ सबसे बड़ी समस्या यह भी है कि इन्हें अपने ही उपजायें फसलों की कीमत लगाने का अधिकार नहीं है; न सरकार द्वारा ही उचित कीमत की मंजूरी है। किसानों के फसलों की कीमत पूँजीपतियों द्वारा निर्धारित किया जाता है। कभी- कभी किसानों को अपनी लागत कीमत से भी कम कीमत में अपने फसलों को इन व्यापारियों के हाथों बेचना पड़ता है, जिससे किसानों को भारी नुकशान का सामना करना पड़ता है। वे अपने परिवार का पेट भरना ही नहीं ,फसल के लिए लिए गये कर्ज को भी नहीं चुका पाते हैं और वे सूद के भार तले दबते चले जाते हैं। पूँजीपति वर्ग किसानों द्वारा उपजाये फसल को कम कीमत पर खरीदकर 10 गुना ज्यादा मुनाफा कमाते हैं। यही कारण है कि कई बार किसानों को लागत कीमत न मिलने पर वे अपने फसलों को रास्ते में ही फेंक कर अपना विरोध प्रदर्शित करते हैं। सरकार को किसानों की ऐसी समस्याओं पर ध्यान देने की जरूरत है।

4.2. जमींदारी व्यवस्था में किसानः

कृषि योग्य जमीन एवं खेती की व्यवस्था के लिए समय-समय पर कई प्रकार की भूमि व्यवस्थाएँ लागू की गई, जमींदारी व्यवस्था उनमें से एक है। 19वीं सदी के इतिहास में भूमि व्यवस्था के अंतर्गत जमींदारी, रैयतबाड़ी, महलबाड़ी जैसी कई व्यवस्थाएँ कायम थी। जमींदारी व्यवस्था वह व्यवस्था है जिसके अंतर्गत कहीं भू-राजस्व का स्थायी रूप से निर्धारण कर दिया जाता था या कहीं कुछ –कुछ समय के लिए अस्थाई बन्दोबस्त के तहत भू-राजस्व को निर्धारित किया जाता था। जमींदार यहाँ भूमि का स्वामी होता था। गाँव में वह प्रमुख होता था। सरकार और किसान के बीच वह मध्यस्त का कार्य करता था और किसानों से भू-राजस्व वसूल कर कुछ अंश खुद रखकर, वह सरकार के पास राजस्व जमा करता था। सरकार का सीधा संबंध जमींदार वर्ग के साथ था। अतः भू-राजस्व संबंधी सारे विधान जमींदार वर्ग के अनुसार ही होता था।

ब्रिटिश शासन के दौरान कृषि के क्षेत्र में विस्तार हुआ, किन्तु इसका लाभ किसानों को न मिलकर सीधे जमींदारों को मिला। जमींदार की आय लगातार बढ़ने लगी। ये जमींदार किसानों से लगान वसूलने में तत्पर रहते थें, उन्हें कृषि की उन्नति से कोई मतलब नहीं था। कई प्रकार के अतिरिक्त लगान लगाकर वे किसानों का शोषण करते थे। जो काश्तकार किसान थे, उन पर जमींदार वर्ग का अत्याधिक अत्याचार होता था। ये किसान जमींदार द्वारा दी गई जमीन पर खेती करते थे और कृषि का कुछ भाग लगान के रूप में जमींदार को देते थे। जमींदार लगान के अलावा किसानों से बेगार भी लेते थे। इन किसानों को हर वक्त जमीन से बेदखली का भय बना रहता था। चूँकि जमींदार फिजूल खर्ची और विलासी जीवन जीते थे, इसकी पूर्ति के लिए वे खुलकर लगान बढ़ोत्तरी करते रहते थें। इसके अलावा नये-नये तरीके अपनाकर नये-नये प्रकार के कर लगाते थे। नजराना प्रथा के अंतर्गत किसानों को अपने जमीन की देखभाल एवं उसे पुनः प्राप्त करने के लिए नजराने के लिए जमींदार को कर देना पड़ता था। मेहता रिपोर्ट में इसतरह के लगान का विवरण मिलता है। नजराना प्रथा के लिए किसानों द्वारा कन्या बिक्री जैसे जघन्य पाप का भी वर्णन मिलता है। किसानों के कन्या बिक्रय के कई मामले इतिहास में दर्ज है। मुर्दाफरोशी प्रथा के अंतर्गत किसी काश्तकार की मृत्यु हो जाने पर उसके वारीस को जमीन से बेदखल कर दिया जाता था और जमींदार द्वारा उस जमीन की अधिक बोली लगाकर किसी और को दे दिया जाता था। इसके अलावा भी काश्तकार द्वारा नई झोपड़ी बनवाने पर उसे भू-स्वामी को 2 रूपये से 10 रूपये तक नजर देनी पड़ती थी। भू-स्वामी के यहाँ कोई कार्यक्रम होने पर न्यौते के रूप में कर देना पड़ता था। जंगलों में जानवरों को चराने के एवज में चराई कर, कुआँ खुदवाने पर तकावी कर, जमींदार द्वारा कार खरीदने के लिए, घोड़ा खरीदने के लिए, ग्रामोफोन खरीदने के लिए भी किसानों को कर देना पड़ता था। वे हर तरीके से किसानों का शोषण करते थे। लगान न दे पाने पर मनमाना शारीरिक अत्याचार किया जाता था। वे हंटर लगवाकर लगान वसूलते थे। अकाल हो, गरीबी हो, बीमारी हो, किसी भी परिस्थिति में लगान मॉफी नहीं थी। अगर किसान लगान देने में आनाकानी करते, तो जमींदारों द्वारा उसका घर जला दिया जाता था। वे किसानों को धूप में खड़ा कर देते, जोंक पाले गड्ढ़ों में

घंटों खड़ा कर देते थे। तात्कालीन सरकार द्वारा दोषपूर्ण भू-राजस्व व्यवस्था कायम की गई थी ताकि किसानों का मनमाना शोषण जारी रहे। उन्हें तो केवल राजस्व की चिन्ता थी।

4.3. जमींदारी उन्मूलन व्यवस्थाः

जमींदारों के अत्याचारों के कारण धीरे-धीरे किसानों के अंदर असंतोष की भावना घर करने लगी, जिसका प्रस्फुटन किसान आन्दोलनों के रूप में हुआ। पूरे देश के हर राज्यों में कई किसान आन्दोलन घटित हुए। देश का हर प्रांत किसी न किसी समय किसान आन्दोलन से आन्दोलित हुआ। आजादी के बाद भूमि सुधार व्यवस्था के अंतर्गत जमींदारी प्रथा के उन्मूलन की ओर ध्यान दिया गया। आजादी के तुरन्त बाद ही सन् 1949 तक जमींदारी उन्मूलन बिल या भूमि काश्तकारी कानून मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, असम, मद्रास, बिहार जैसे कई प्रदेशों में लाया गया। इस बीच जमींदारी उन्मूलन के समर्थक कांग्रेस नेताओं को यह शंका थी कि जमींदार इस बिल के विरोध में अदालत का दरवाजा खटखटायेंगे। देश के विभिन्न हिस्सों में जमींदारी उन्मूलन कानून की वैधता का विरोध हुआ। सरकार द्वारा संविधान संशोधन किया गया। जमींदार हाईकोर्ट और उच्चतम न्यायालय का दरवाजा खटखटाते रहे। इसके बावजूद 1956 तक जमींदारी उन्मूलन कानून कई राज्यों में पास हो चुका था। 1960 तक ब्रिटिश भारत के अधिकांश जमींदारों का उन्मूलन हो चुका था। जमींदारी उन्मूलन के तहत लगभग दो करोड़ काश्तकार किसान जमीन के स्वामी बन गये। कानून के तहत जमींदारों को मुआवजा दिया गया। मुआवजे की दर हर राज्यों में अलग-अलग थी। इससे कुछ जमींदारों को फायदा तो हुआ, किन्तु छोटे जमींदारों को बहुत कम मुआवजा मिला। वहीं कुछ स्थानों पर छोटे जमींदारों को व्यक्तिगत खेती के नाम पर जमीन का स्वामित्व मिला। इससे एक फायदा तो हुआ कि अब जमीन पर खेती करने वाले किसान स्वयं जमीन के मालिक बन गये। अब उनपर कोई अत्याचार नहीं कर सकता था।

4.4. हरित क्रांति और किसानः

मानव जीवन में खेती का बहुत महत्व है। औद्योगिकीकरण और विकास के बाद आज भी मानव सभ्यता का बहुत बड़ा हिस्सा खेती पर निर्भर है। खेती ही है जिससे भोजन की आपूर्ति होती है, इसलिए कहा जाता है कि उद्योग हमें सुख प्रदान करता है और कृषि हमारा पेट भरता है। उत्पादन और नये सृजन का संबंध किसान से ही है। पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि को महत्वपूर्ण दर्जा मिलने के बाद भी कृषि के क्षेत्र में उतनी उन्नति नहीं हुई जिसका सपना देखा गया था।

हरित क्रांति ने कृषि के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन लाया, जो देश अनाज की कमी से जूझ रहा था, वह देश अनाज के क्षेत्र में आत्मनिर्भर बन गया। हरित क्रांति उन महत्वपूर्ण तकनीकि सुधारों का नतीजा था जिसे साठ के दशक के मध्य भारतीय कृषि में अपनाया गया। इसे नई कृषि रणनीति भी कह सकते हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि पर कुल योजना खर्चे का 31 प्रतिशत और द्वितीय योजना में 20 से 24 प्रतिशत खर्च किया गया था। इन योजनाओं में कुछ खामियों के बावजूद आधुनिक कृषि के वैज्ञानिक तकनीकि

आधार तैयार किया गया। यह वहीं समय है जब भाखड़ा-नांगल जैसे बाँध, कई कृषि विश्वविद्यालय, शोध प्रयोगशालाएँ, कृत्रिम खाद के कारखानाएँ आदि स्थापित किए गए। कृषि के क्षेत्र में तकनीकि परिवर्तन की नींव नेहरू के जीवन काल में ही रख दी गई। साठ के दशक के मध्य में भारत गहन संकट में धँसता जा रहा था। कृषि विकास की दर ठहर सी गई थी। बढ़ती जनसंख्या के कारण कृषि पर भार बढ़ता जा रहा था, फलस्वरूप देश को अत्याधिक खाद्यान्नों का आयात करना पड़ रहा था। इसके लिए भारत को अमेरिका के साथ पी. एल. 480 जैसे समझौते करने पड़े। ऐसे ही समय में भारत को चीन- 1962 और पाकिस्तान-1965, के साथ दो युद्ध लड़ने पड़े। 1965-66 में दो बार अकाल भी पड़ा। भारतीय कृषि में उत्पादन दर में 20 प्रतिशत की कमी आई। ऐसे परिस्थिति से उबरने के लिए नई कृषि रणनीति अमल में लाई गई। इस नई रणनीति के तहत नये किस्म के बीज, रासायनिक खाद, ट्रेक्टर पम्प द्वारा खेती, कृषि शिक्षा कार्यक्रम, संस्थागत कर्जे, कृषि मशीनें आदि का प्रयोग भारतीय कृषि में किया जाने लगा। कृषि में सरकारी निवेश बढ़ाया गया। संस्थागत वित्तिय सहायता के साथ 1965 में कृषि मूल्य कमीशन बैठाया गया। कृषि के क्षेत्र में सकल पूँजी निर्माण बढ़ने लगा। इस नई रणनीति के कारण1967-68 तथा 1970-71 के बीच खाद्यान्नों का उत्पादन 35 प्रतिशत बढ़ गया। खाद्यान्नों के आयात जो 1966 में एक करोड़ तीन लाख टन था, वह 1970 में 36 लाख टन पर आ गया। खाद्यान्नों की भरमार होती गई। 80 का दशक आते-आते भारत अनाज के मामले में आत्मनिर्भर हो गया। 1984 तक भारत के खाद्यान्न भंडार की सीमा 12 करोड़ 88 लाख टन हो गई। भारत इतना सक्षम हो गया कि अब वह खाद्यान्नों का निर्यात भी करने लगा। 90 के दशक के अंत तक भारत में अनाज का उत्पादन करीब 20 करोड़ टन हो गया। तेज औद्योगिक विकास और शहरीकरण के कारण खाद्यान्नों की कमी वाले क्षेत्रों में सरकार द्वारा कमी को आंतरिक तौर पर पूरा किया जाने लगा। भारत का पी. एल. 480 तथा अन्य आयातों पर निर्भरता समाप्त हो गया।

हरित क्रांति को लेकर विद्वानों में बहुत मतभेद था। इसके दूरगामी प्रभाव को लेकर कई चिंताएँ व्यक्त की गई थी, किन्तु इस क्रांति ने असमानता के बजाय देश के नए इलाकों में खुशहाली लाई। हरित क्रांति के प्रथम चरण में अखिल भारतीय मिश्रित विकास दर 2.08 प्रतिशत थी, वहीं 1970-73 से 1980-83 के दूसरे चरण में उच्च उत्पादन वाले बीजों के जरिए महाराष्ट्र, गुजरात, आन्ध्र प्रदेश जैसे राज्यों में भी विकास दर 2.38 प्रतिशत रही। 1980-83 से 1992-95 के बीच जिसे हरित क्रांति का तीसरा चरण मान सकते हैं, इस बीच कम विकास वाले क्षेत्र प. बंगाल, असम तथा उड़ीसा जैसे क्षेत्रों में भी तेजी से विकास हुआ। प. बंगाल में 5.39 प्रतिशत प्रति वर्ष के दर से असाधारण वृद्धि दर्ज की गई।

हरित क्रांति को लेकर एक धारणा फैलायी गयी थी कि इससे गैर किसानीकरण की प्रक्रिया तेज होगी, कृषि के मशीनीकरण से श्रम में गिरावट होगी, जिससे खेतीहर मजदूर बेरोजगार होंगे, इससे लाल क्रांति पैदा होगी, किन्तु बाद की घटनाओं और शोधों ने इन धारणाओं का खंडन कर दिया। छोटे किसानों के हित की रक्षा के लिए कई कार्यक्रम चलाये

गये। ग्रामीण रोजगार योजना, छोटे किसान विकास एजेंसी, खेतीहर मजदूर स्कीम, रोजगार गारंटी स्कीम जैसे कई कार्यक्रम अस्तित्व में आये। छोटे और सीमांत किसान को निवेश पर क्रमशः 25 प्रतिशत और 33.3 प्रतिशत सब्सिडी दी गई। कई सहकारी समीतियों, बैंकों, निगमों द्वारा वित्तिय सहायता दी गई।

4.5 वैश्वीकरण और किसानः

सन् 1992 में भारत सरकार द्वारा नई आर्थिक नीति की घोषणा के साथ ही भारत वैश्वीकरण से जुड़ गया। 1994 में मोरक्कों समझौते हुआ जिसे 1995 में लागू किया गया । विश्व व्यापार संगठन की संधियों में से तीन प्रावधानों का प्रत्यक्ष संबंध कृषि से था। ये समझोते हैं – 1. व्यापार संबंधी बौद्धिक सम्पदा अधिकार समझौता (ट्रिप्स) 2. कृषि पर समझौता (ए ओ ए) 3. स्वच्छता एवं वानस्पतिक स्वच्छता समझौता (एस. पी. एस. .)

ट्रिप्स के समझौते के आधार पर बीज को बौद्धिक सम्पदा घोषित किया गया और इसके आदान-प्रदान पर रोक लगा दी गई। भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह सबसे खतरनाक समझौता था। भारतीय किसान 80 प्रतिशत बीज का उत्पादन स्वयं करते थे। वे उपज से ही बीज के लिए अन्न रख लेते थे, किन्तु नये कानून के आधार पर फसल से बीज बचाना गैर कानूनी घोषित कर दिया गया। 'बीज अधिनियम 2004' के आधार पर किसानों पर यह रोक लगा दी गई कि वह न तो अपने बीज को बेच सकता है, न किसी को दे सकता है और न खुद रख ही सकता है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने इसका फायदा उठाया और अपने बीजों को भारतीय किसानों को खरीदने के लिए विवश किया। ये आधुनिक बीज काफी महंगे और रासायनिक तत्वों से युक्त होते थे, जिसका एक ही बार प्रयोग किया जा सकता था। इस नये कानून ने किसानों से बीज चयन की स्वतंत्रता छीन ली। अब ये कम्पनियाँ ही बीज का निर्माण करते और उसके लिए रासायनिक खादों का भी निर्माण करने लगे।

कृषि पर समझौता (ए ओ ए) के आधार पर कई फैसले लिए गये। व्यापार पर उदारीकरण लागू किया गया। किसानों को मिलने वाली सब्सिडी में धीरे-धीरे कमी कर दी गई। आयात में उदारीकरण के फलस्वरूप देशी बाजारों में देशी कृषि उत्पादों के मूल्यों में भारी गिरावट आई। सब्सिडी के कम होने पर लागत मूल्य बढ़ने लगा। दूसरी ओर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हस्तक्षेप से नगदी फसलों पर ज्यादा ध्यान दिया गया, फलस्वरूप भारतीय किसान धीरे-धीरे श्रृणग्रस्त होने लगा।

'स्वच्छता एवं वानस्पतिक स्वच्छता समझौते' के आधार पर खाद्यान्नों पर अन्तरराष्ट्रीय मानक लागू किया गया। देशी फसलों की गुणवत्ता पर सीधा हमला होने लगा। भारी गुणवत्ता के कारण विदेशी अनाजों की भारतीय बाजारों में भरमार होने लगी। इससे देशी किसानों को भारी नुकशान होने लगा। सरकार द्वारा विशेष औद्योगिक जोन के निर्माण के लिए कृषि योग्य भूमि के अधिग्रहण ने नई मुसीबत ला दी। मुंशी प्रेमचंद ने किसान को नरम चारा कहा था। फलस्वरूप आजादी के बाद भी किसानों का नये तरीके से शोषण शुरु हुआ। भारतीय किसानों के शोषण का इतिहास बहुत पुराना रहा है। ब्रिटिश

शासन से पहले सामंती और जमींदारी व्यवस्था में भी किसानों का शोषण होता था। ब्रिटिश हुकूमत के समय भी कई प्रकार के शोषण से किसानों को गुजरना पड़ा। किन्तु, सारी विपत्तियों का सामना किसान ने डटकर किया। शोषण के बावजूद वह जीवन जीता रहा, कभी आत्महत्या की ओर अग्रसर नहीं हुआ। शाइनिंग इंडिया के नारों के बीच, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के मायाजाल और उनके पक्ष में बनाये गये नियमों ने भारतीय किसानों की रीढ़ की हड्डी तोड़ दी और विवश होकर किसानों को आत्महत्या की राह चुननी पड़ रही है। जनमत में प्रकाशित एक लेख में पी. साईनाथ ने राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो का हवाला देते हुए बताया है कि 1997 से 2008 तक भारत में 1,99,132 किसान आत्महत्या कर चुके है। (जनमत, मई, 2010, पृ- 5) अकेले 2008 में 16,196 आत्महत्याएँ हुई थी। आज का किसान कई समस्याओं से एक साथ जूझ रहा है। बढ़ता कर्ज, बर्बाद होती फसलें, बढ़ती कृषि लागत, महंगे बीज, उर्वरक, कीटनाशक, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का दबाव, सब्सिडी में कमी जैसे दुष्चक्र से किसान बाहर नहीं निकल पा रहा है और अंततः आत्महत्या की ओर बढ़ रहा है।

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के अनुसार देश के आधे से अधिक किसान परिवार कर्ज में डूबे हुए है। 40 प्रतिशत किसान खेती छोड़ मजदूर बन गये है। 27 प्रतिशत किसानों के लिए खेती घाटे का सौदा बन चुका है। किसानों के कर्ज का 60 प्रतिशत हिस्सा बीज और कीटनाशक खरीदने में खर्च होता है। सरकार से उपयुक्त सुविधा न मिलने पर उन्हें श्रृण के लिए साहुकारों का दरवाजा खटखटाना पड़ता है, जहाँ उनका शोषण होता है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का एक ही उद्देश्य है कि खेती घाटे का सौदा बन जाय और किसान अपनी जमीन इन कम्पनियों के नाम कर दें। अब ये कम्पनियाँ इन्हीं किसानों को मजदूर बनाकर खेती करवाएगा और अपने इच्छानुसार फसल उपजाने के लिए विवश करेगा। सरकार और कम्पनियों द्वारा सुनियोजित मुहिम चलायी जा रही है ताकि किसान अपनी जमीन से बेदखल हो जाय और कृषि पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का एकाधिकार हो जाय। खेती पर हो रही राजनीति पर प्रकाश डालते हुए सुनील का कहना है –

> किसान के संकट का श्रोत आधुनिक टेक्नोलॉजी है। इसी प्रकार खाद्य आपूर्ति एवं खाद्य स्वावलम्बन के श्रोत के बजाय अब खेती को तेजी से पूँजीवादी बाजार तथा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की मुनाफे की न मिटने वाली भूख की राजनीति का एक पुरजा बनाया जा रहा है। (शशिधर 6)

अब इन कम्पनियों पर यह अधिकार होगा कि वे क्या उगाएँ, क्यों उगाएँ, कब उगाएँ और किसान इन कम्पनियों के फार्मों पर मजदूर के रूप में काम करेंगे।

वैश्वीकरण ने पहले तो हरित क्रांति के नाम पर आधुनिक खाद एवं उन्नत बीज, कीटनाशक, बिजली, डीजल, आधुनिक यंत्र द्वारा खेती को प्रोत्साहन दिया, फिर बाद में इन्हीं चीजों का मनमाना दाम बढ़ाकर खेती को घाटे का काम बना दिया। नई तकनीक ने खेती की प्रक्रिया को प्रकृति विरूद्ध कर दिया। नई तकनीक ने वातावरण को जहरीला बना दिया। वैश्वीकरण अपने साथ बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को लेकर आया है। इन कम्पनियों का

एकमात्र लक्ष्य मुनाफा कमाना है। अब इनका सीधा हमला खेती पर हो रहा है। किसान खून पसीना बहाकर फसल उपजाता है और इन फसलों को ये कम्पनियाँ बहुत कम कीमत पर खरीद लेती है। ऊपर से नये बीज कानून, पेटेंट कानून, कंट्रेक्ट खेती जैसे नियम बनाकर सरकार सीधे – सीधे इन कम्पनियों को खुली छूट दे रही है। सुनील के शब्दों में कहें तो इस समय भारतीय खेती पर तीन तरह के संकट मंडरा रहे हैं –

> 1. आधुनिक पूँजीवादी विकास में खेती को एक आन्तरिक उपनिवेश के रूप में पूँजी निर्माण या शोषण का श्रोत बनाना। 2. हरित क्रांति के भ्रामक नाम से एक अनुपयुक्त सम्राज्यवादी, किसान-विरोधी व प्रकृति-विरोधी टेक्नोलॉजी थोपना और 3. ग्लोबीकरण के तहत किसानों पर हमले तथा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के कब्जे की प्रक्रिया को और तेज करना। (सुनिल 6)

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की नजर तीसरी दुनिया के कृषि और कृषि-व्यापार पर है। वह इन देशों के जल, जंगल और जमीन पर दखल कर प्राकृतिक संसाधनों का मनमाना दुरूपयोग करना चाहता है। उसके मुनाफे में एकमात्र दुश्मन किसान है, इसलिए वह हर कीमत पर किसानी सभ्यता को नष्ट कर देना चाहता है।

4.6 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में किसानः

21वीं सदी के दूसरे दशक के समय में किसानी जीवन के मूल तत्व जल, जंगल और जमीन, सब कुछ दाँव पर है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के दबाव ने किसानों के जीवन को मोड़ कर रख दिया है। वैश्वीकरण की आग ने एक ओर जहाँ नये-नये उर्वरक दबाईयाँ, मशीनें, उच्च किस्म की बीजें दी है, वहीं किसानों से उसके उपजाये फसल पर से अधिकार छीन लिया है। किसानों के फसलों की बिक्री कहाँ और कितने दामों पर होगी इसका फैसला बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ पहले ही कर लेती है। दिन-रात मेहनत कर फसल उपजाने के बावजूद किसानों की अवस्था बदल नहीं पा रही है। एक ओर प्राकृतिक आपदा है तो दूसरी ओर किसानों के कर्ज एवं सरकार द्वारा लाई गई नई कृषि बिल जैसी योजनाएँ। अतः आज किसान के पास तीन साधन है- या तो वे खेती छोड़कर मजदूर बन जाय और विस्थापन की जिन्दगी जिए, या फिर खेती और कर्ज से तंग आकर आत्महत्या कर ले या फिर प्रतिरोध का रास्ता अपनाये। आज जिस तरह अंधाधूँध विकास हो रहा है, इसने किसानों की जमीन का अधिग्रहण कर किसानों को विस्थापित कर दिया है। आज तक लाखों किसान आत्महत्या कर चुके हैं। नये कृषि बिल के विरोध में लाखों किसानों को महीनों से दिल्ली के बॉडर पर प्रदर्शन करना पड़ा तब जाकर कहीं सरकार की नींद खुली और नये कृषि बिल को वापस लेना पड़ा। यह किसान ही है जो इस्ट इंडिया कम्पनी से लेकर वालमार्ट तक अपनी अस्मिता की लड़ाई लड़ रहा है। ऐसे समय का साक्षी बनकर हिन्दी साहित्य में कुछ लेखक हुए है जो इस दौर में अपनी कहानियों के माध्यम से किसानी जीवन एव उसकी चुनौतियों का जीता जागता चित्रण कर रहे हैं। वे अपनी कहानियों के माध्यम से न केवल किसानी चेतना की बात कर रहे हैं, बल्कि समाज की उस सच्चाई से हमारा परिचय भी करवा रहे हैं,

जिसे हम देखकर भी अनदेखा कर रहे हैं। अतः निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर इस दौर की कहानी में व्यक्त किसानी चेतना को हम समझ सकते हैं।–

4.6.1. हाइब्रिड बीज और किसानः

वैश्वीकरण के उपरान्त नई तकनीक वाली खेती के लिए नए बीज के प्रयोग पर बल दिया गया। पारम्परिक बीज को गैरकानूनी बताकर कम्पनी द्वारा दी गई बीज के उपयोग के लिए मजबूर किया गया। हाईब्रीड बीज और इससे होने वाले दुष्प्रभाव का चित्रण समकालीन लेखकों ने अपनी कहानियों में व्यक्त किया है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा एकाधिकार प्राप्त विशेष बीजों के दुष्परिणाम की ओर संकेत करते हुए 'बीज भौजी' कहानी में लेखक गौरीनाथ लिखते हैं –

> देख रहा हूँ भैया, आपकी देशी टेकनीक। घरेलू बीज और खाद डाले हैं, तो पटौनी में देर होने पर भी फसले बच गई। जो-जो लोग पाकेट वाला हाइब्रीड बीज और खूब खाद डाले हैं, उनकी फसल दो रोज पानी में देर होते ही जलने लगती है। दवा – खाद की कमी होते कीड़े लग जाते है। सुकेश भैया तो समझो लूट गया। (गौरीनाथ 103)

विदेशी बीज द्वारा खेती का यह दुष्परिणाम निकलता है कि फल, सब्जी सभी बेस्वाद होता है। बाजार में उसकी कीमत कम होने लगती है। यह बीज इतना कमजोर होता है कि वातावरण में थोड़ा परिवर्तन होने पर उसके दबाव को नहीं सह पाता है और देखते ही देखते पूरी की पूरी फसल खराब हो जाती है। खाद, पानी सही मिला तो फसल तो खूब होती है, किन्तु उसका स्वाद नष्ट हो जाता है। कहानी में किसान की यही चिंता है कि सब्जी तो बहुत होता है, किन्तु दाम नहीं मिलता। कहानी में सुकेश ऐसे बीज के दुष्प्रभाव को दिखाते हुए कहता है –''वाहवाही से क्या होता है। इतने खाद पानी के बाद गोभी का जंगल भर है। फूल आते भी तो कीड़े लग जाते। मूली- बैंगन तो बेस्वाद लगते, कौन खरीदेगा। कहीं इस कर्ज में जमीन न बिक जाए (गौरीनाथ 103)।'' शुरू में इस नये बीज को लेकर काफी चर्चाएँ हुई। मीडिया कर्मी से लेकर हर एक विद्वान के मुँह इन बीजों की खूबियाँ बताकर खूब बखान किया गया। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ जब इस बीज को लेकर आती है तब विज्ञापन का सहारा लेकर इसकी एक-एक खूबी को इसतरह से दिखाया जाता है जैसे इससे बढ़िया तो और कुछ है ही नहीं, किन्तु आज इन्हीं बीजों के कारण किसान को खेती में घाटा हो रहा है। कहानी में देव जी का कथन है – ''ये कम्पनियाँ हमें बीज-विहीन कर देंगी और हमारी जमीन को बंजर करके छोड़ेगी (गौरीनाथ 103)।'' देश में जब से कम्पनी के बीज और कम्पनी के खाद आये हैं, किसानों का दिवाला निकल गया है। आये दिन किसानों को फसलों में भारी नुकशान का सामना करना पड़ रहा है। कभी तो लहलहाते खेत में कीड़े लग जाते हैं, फिर उसके लिए कीटनाशक खरीदने में किसानों का

दिवाला निकल जाता है। 'चरण सिंह पथिक' अपनी कहानी 'सर्पदंश' में दिखाते है कि ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपने इन बीजों का विज्ञापन टी.वी. में न करके नुक्कड़ नाटकों के माध्यम से गाँव-गाँव घूमकर करते हैं। कितनी बड़ी बिडम्बना है कि जहाँ एक ओर ग्लोबल होने का सपना दिखाया जाता है, वहीं ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपने बीजों के विज्ञापन के लिए लोकल स्तर पर नुक्कड़ नाटकों के माध्यम से प्रचार करवाते हैं। लेखक लिखते हैं-

> सभी गाँव वाले जानते हैं कि आधे जेठ बीतते-बीतते बीज कम्पनियाँ गाँव-गाँव नुक्कड़ नाटकों और लोक गीतों की मंडलियों के माध्यम से अपने-अपने ब्रांड का प्रचार करने टिड्डी दलों की तरह निकल पड़ती है। देशी बीज और उनसे उपजी फसल का स्वाद अब सिर्फ किस्सों में जिन्दा थे। किसान के दिमाग अब बीज कम्पनियों के ब्रांडों में कैद हो चुके थे। वो अपने खेत में कब क्या बोये- बीज कम्पनियों के विज्ञापन ही तय करते। किसान नहीं। (पथिक 44)

यह भी सच है कि आज का किसान इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के झाँसे में आ चुका है। पारम्परिक बीज अब बचे हैं नहीं। अतः मजबूरन हाईब्रीड बीजों का ही सहारा लेना पड़ रहा है। कब क्या बोया जाय इसका फैसला भी इन कम्पनियों के पास ही है। इन हाइब्रीड बीजों के लिए जिस प्रकार के रासायनिक खाद की जरूरत पड़ती है, उससे किसानों के लागत मूल्य बढ़ जाते हैं। किसान रासायनिक खादों को बीज की गुणवत्ता के आधार पर नहीं खरीद पाते हैं जिससे या तो फसल नष्ट हो जाता है या अधिक दाम में रासायनिक खाद खरीदने पर लागत मूल्य बढ़ जाता है। बाद में बाजार में उपजाये फसलों की कीमत सही नहीं मिलने पर किसानों को लागत मूल्य भी वसूलना भारी पड़ जाता है। फलस्वरूप उन्हें कर्ज का सहारा लेना पड़ता है। यह प्रक्रिया हर बार दोहराई जाने पर किसान कर्ज पर कर्ज लेता जाता है और अंत में कर्ज के भार से दब जाता है।

इन हाईब्रीड बीजों का सबसे बड़ा दुष्प्रभाव यह भी है कि आज इंसान जीतने प्रकार की बीमारियों से जूझ रहा है, इसका सबसे बड़ा कारण हाईब्रीड बीज से तैयार फसल ही है। 'राणा प्रताप सिंह' की कहानी 'करजा के खातिर' में इन बीजों के मनुष्य जाति के स्वास्थ्य पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव को दिखाते हुए कहता है –

> जो उत्पादन किसान आज हाइब्रीड बीज से ले रहा है, उसमें अच्छा स्वाद अब कहाँ? आलू, गोभी की सब्जी हो या परवल की सब का सब आज हाइब्रीड बीज से उत्पादन किया जा रहा है। हाइब्रिड बीज के पौधे जब फल-फूल से झकाझक लदते तभी कीट पतंगों का प्रकोप इन पर हो जाता है। अनबूझ किसान कई तरह के कीटनाशक का छीड़काव करके, कीट पतंगों के प्रकोप से अपनी फसल को बचाता है। इन फसलों में फंगस, जीवाणु और कीट पतंगों से लड़ने की प्रतिरोधक क्षमता नहीं के बराबर होती है। आज कीटनाशक सब्जी ही बाजार में भरी पड़ी है। कौन नहीं आज पेट, गुर्दे और हृदय की बीमारी से पीड़ित है। भोजन पाचन की समस्या अलग है। (सिंह 11)

इस नये बीज के लिए अधिक रासायनिक खाद की भी जरूरत पड़ती है। थोड़ी सी भी खाद में कमी हो या मौसम अनुकूल न हुआ तो सारी फसलें बर्बाद हो जाती है और इसका खामियाजा किसान को भुगतना पड़ता है। ऊपर से बढ़ते बीजों, खादों, सिंचाई के साधनों, डीजल आदि के बढ़ते दामों में किसान की हालत खराब हो जाती है। सिचाई के साधनों में बोरिंग व्यवस्था से सिचाई करना एक प्रमुख साधन है, किन्तु इस बोरिंग के लिए डीजल की जरूरत पड़ती है। आजकल जिस तरीके से पेट्रोल और डीजल के दाम बढ़ रहे हैं किसानों के लिए बोरिंग से सिंचाई करवाना काफी महंगा पड़ रहा है। 'बीज भौजी' कहानी में जयनारायण को सूखते फसल को देखकर अपने बोरिंग की याद आती है- ''बोरिंग तो अब तैयार थी, लेकिन डीजल के पैसे ही नहीं हो पा रहे थे कि गेहूँ में पानी देता। ऊपर से यूरिया की चिंता थी। ऊधर गेहूँ की पौध डटियाती पीली पड़ने लगी थी (गौरीनाथ 88)।'' महंगा डीजल से बोरिंग या पम्प लगवाकर सिंचाई करना किसान के लिए कितना मुश्किल हो गया है, इस चिंता को दिखाते हुए कहानी में सुकेश कहता भी है- ''अरे भाई, डीजल इस बार भी ऊपर ही जा रहा है। पेट्रोल पम्प पर रोज-रोज मिलता भी नहीं। यहाँ बाजार में चोरौआ प्रति लीटर पाँच रूपए ज्यादा पर बिक रहा है। यूरिया तो प्रति बोरी साठ रूपए उछल गई है (गौरीनाथ 88)।'' बढ़ती हुई डीजल और यूरिया की कीमतों ने किसानों की रीढ़ की हड्डी ही तोड़ दी है। हर खेती में किसानों को हानि हो रही है। इसका आभास कहानी में सत्यनारायण के कथनों से ही हो जाता है- ''गेहूँ क्या, किस खेती में लाभ है? सब फसल की हालत उन्नीस-बीस ही है। बस नार-पुआल और भूस का आसरा। फिर एक अनमना कि खेती कर रहे हैं (गौरीनाथ 88)।'' दिन-रात मेहनत कर फसल उपजाने के बावजूद किसानों को पुआल और भूस के सहारे जीवन यापन करना पड़ रहा है, यही आज के किसान की त्रासदी है। कहानी में किसान का बेटा मुन्ना अन्न के लिए तरस कर मर जाता है। यह कितनी बड़ी बिडम्बना है कि जो किसान सबका पेट भरता है, उसी किसान का बेटा भूख के कारण मर जाता है। उसकी माँ को जब गाँव वाले खाना खाने के लिए कहते हैं, तब वह कहती है- ''और किसी कारण जाता तो दुःख नहीं होता। बीमारी तो बहाना थी।....जिस भात का नाम जपते वह गया उसे मैं कैसे निगलूँगी? इन दोनों को खिला दो। मैं गले के नीचे कुछ धँसा नहीं पाऊँगी (गौरीनाथ 89)।'' कहानी में किसान का बेटा मुन्ना भात के लिए तरस कर मर जाता है। यही किसान का दुर्भाग्य है कि उसका बेटा किसी बीमारी से नहीं मरा, वह मरा भी तो भूख से।

अतः हाईब्रीड बीज के खेती द्वारा खेती के सुनहले भविष्य का जो सपना देखा गया, वह वास्तव में कभी पूरा नहीं हुआ। इसके विपरीत इन बीजों द्वारा की गई खेती के फलस्वरूप किसानों का जीवन बर्बाद हो गया। जमीन की उर्वरता नष्ट हुई। किसान का लागत मूल्य बढ़ा। खेती को नुकशान हुआ। परिस्थिति आज ऐसी है कि हर तरफ से हाईब्रीड बीज का अब लोग विरोध करने लगे हैं और ऑरगेनिक खेती की चर्चा होने लगी है। किन्तु सच तो यह है कि अब हमारे पास पारम्परिक बीज बचे नहीं है। हाँ इन बीजों में

रासायनिक खाद के स्थान पर वहीं पारम्परिक देशी खाद द्वारा खेती की शुरूआत की जा रही है, किन्तु ऐसे खेती फॉर्मिंग खेती ही हो सकती है, बढ़ती जनसंख्या की भूख ऑर्गेनिक खेती से मिटाई नहीं जा सकती। आज कल तो बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ भी ऑर्गेनिक खेती की बात करने लगी है। यह दावा किया जाने लगा है कि इन कम्पनियों के चावल, दाल, गेंहूँ आदि ऑर्गेनिक फॉर्मिंग द्वारा उगाया गया है। इन कम्पनियों के ऑर्गेनिक फॉर्मिंग में कितनी सच्चाई है यह तो वही जाने।

4.6.2. कर्ज और आत्महत्याः

आज किसान को महंगे बीज, सिंचाई, रासायनिक खाद आदि के लिए साहुकार या सरकारी बैंकों से कर्जा लेना पड़ रहा है। उसके पास दूसरा कोई उपाय भी नहीं है। वह तो इस आशा में कर्ज लेता है कि इस बार फसल अच्छी होगी और वह उसे बाजार में बेचकर कर्ज उतारेगा और जो बचेगा उससे अपने परिवार का भरण-पोषण करेगा। किन्तु, हर बार उसका सपना, सपना ही रह जाता है और वह कर्ज के बोझ तले दबता चला जाता है। वह एक कर्ज को दूर करने के लिए दूसरा कर्ज लेता है, फिर कर्ज के दलदल में फँसकर अंततः वह आत्महत्या का रास्ता चुनता है। 'राणा प्रताप सिंह' की कहानी 'करजा के खातिर' में ऐसे ही किसान के जीवन को दिखाया गया है। कहानी में पहले तो रोझन सरकारी झाँसा में आकर पम्पसेट और बोरिंग मशीन के लिए कर्ज लेता है और फिर उस कर्ज को दूर करने के लिए परधान की बात मानकर गन्ना क्रेशर खरीदने के लिए दूसरा कर्ज लेता है। उसका बेटा इस बात से नाराज होकर उसे छोड़कर शहर भी चला जाता है। सरकारी अफसर से गालियाँ सुनकर वह अपना खेत रेहन पर रखकर गन्ना क्रेशर खरीदता है, जिसपर आगे चलकर परधान कब्जा कर लेता है। रोझन अपने ही गन्ना क्रेशर पर मजदूर बन जाता है। रोझन का बेटा भदई सरकारी झाँसा को समझता भी है, किन्तु रोझन उसके चक्कर में फँस जाता है। किसान एक ओर जहाँ खेती में हुए नुकशान से परेशान रहता है, वहीं उसका खून चूसने के लिए परधान से लेकर साहुकार तक ताक में रहते हैं। लेखक दिखाते हैं-

> भदई सोचते जा रहा था कि गाँव का ग्राम विकास अधिकारी लाभ का झाँसा देकर एक पम्प सैट और मुफ्त में सरकारी छूट पर बोरिंग देने का लालच देकर कर्जा का बोझ सिर पर लाद दिया। उसी ने बताया कि हमारा गाँव अम्बेडकर गाँव है। सरकारी अनुदान का लाभ ले लो। (सिंह 10)

यह आज की सच्चाई है कि किसान महंगे खाद और बीज लगाकर फसल उपजाता है और बाद में उसे लागत मूल्य भी नहीं मिलता है, जबकि उसी अनाज को सरकार विदेशों से ज्यादा दाम देकर मंगवाता है। कहानी में रोझन सोचता है –

> दिन-रात खेत-खलिहान में खटते रहते फिर किसान को चैन कहाँ। खेती में जो लगाओ वह खेत ही खा जा रहा है। खाद, बीज, दवा-पानी, गुड़ाई, निराई और जोताई इतने महंगे हो गये है कि खेत की पैदावर बेचकर भी उससे उऋण नहीं हो पाया जा रहा है। सरकार भी अपने किसानों से सस्ते दामों पर अनाज खरीदकर

> गोदाम भरना चाहती है। वहीं अनाज जब विदेश से मंगवाना पड़ता है तो कितने महँगे दामों में मंगाती है। वह दाम अपने किसानों को क्यों नहीं देती है? (सिंह 10)

रोझन एक कर्ज से मुक्ति के लिए दूसरा कर्ज लेता रहा और देखते ही देखते वह खुद के गन्ना क्रेशर मशीन पर ही मजदूर बनकर रह गया। उसको तो पता ही नहीं था कि वास्तव में उसका गन्ना क्रेशर मशीन उसका है ही नहीं। वह तो उस मशीन का एक मजदूर है। परधान की चाल में फँसकर उसका खेत-खलिहान सब निलाम हो गया। - ''देखते-देखते उसके सामने ही सब कुछ उजड़ गया। खेत-खलिहान घर सब निलाम कर दिये। रोझन देखता रह गया। हाथ से रोटी-रोजी सब छीन गई (सिंह 16)।'' किसानों द्वारा कर्ज न चुका पाने की स्थिति में बैंको के अफसर भी जुल्म ढ़ाते हैं और किसानों के जमीन तक की कुर्की कर दी जाती है। किसानों को कर्ज चुकाने के लिए मोहलत तक नहीं दिया जाता है। जहाँ करोड़ों के घोटाले करने वाले आजाद होकर बड़ी शान से घुमते- फिरते है, वहीं महज 10-20 हजार कर्ज न चुका पाने वाले किसानों के साथ अत्याचार ही नहीं किया जाता, बल्कि उसकी जमीन तक निलाम कर दिया जाता है। 'कैलाश बनवासी' की कहानी 'झुका हुआ गाँव' में भी पूरा का पूरा गाँव कर्ज में डूबा हुआ है। कर्ज न चुका पाने के कारण कई किसान गाँव छोड़कर शहर को पलायन कर जाते हैं। किसानों द्वारा कर्ज न चुका पाने का कारण उस गाँव का अकाल है। किसानों को खेती छोड़कर मजदूरी के लिए दूसरे शहर की ओर पलायन करना पड़ता है। उस गाँव में बैंक का अफसर और तहसीलदार कर्ज की उगाही के लिए आते हैं। जबकि वह गाँव पिछले तीन सालों से अकाल ग्रस्त है, किन्तु सरकारी अधिकारी को तो बस किसी तरह अपना कर्जा उगाही करना है। गाँव पहुँचने पर वे देखते हैं-

> पता चला, इनमें से आधे से भी ज्यादा लोग अपने गाँव में नहीं है। ये कमाने-खाने दूसरी जगहों में चले गये है- पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, दिल्ली.....। कईयों का पूरा परिवार पलायन कर गया है। इस क्षेत्र में अकाल का यह तीसरा बरस है। (बनवासी 17)

यह हमारे देश की सरकार है जो बड़े-बड़े पूँजीपतियों के हजार करोड़ रूपये को माँफ करती है और अन्न उपजाने के लिए किसानों द्वारा लिये गये 5-10 हजार रूपये के ऋण की उगाही सख्ती से करती है। कहानी में नवयुवक सरकार की पोल खोलते हुए कहता है –

> बड़ी-बड़ी बात तो सरकार करती है। यहाँ अकाल का तीसरा साल है और कर्जा माफ करने के बदले वसूलने भेज दिया। मैं पूछता हूँ, सरकार क्या खाली मजदूर-किसानों से कर्जा वसूलना जानती है। और जो रोज दिन पेपर में छपता है बड़े- बड़े उद्योगपतियों और धन्ना सेठों के करोड़ों रूपए सरकारी कर्जे के बारे में या बिजली बिल के बारे में, उसका क्या। वे तो करोड़ो डकार के बैठे हैं, और सरकार उनका कर्जा माफ कर रही है। वाह! और गरीब मजदूर किसानों से वसूल रही है। आप लोग उनसे क्यों नहीं वसूलते। (बनवासी 21)

कर्ज को न चुका पाने के कारण आज किसान आत्महत्याएँ कर रहा हैं। किसान के मरने पर भी कर्ज मॉफी नहीं होता है, कर्ज के लिए किसान की बीबी या बच्चों पर जुल्म ढ़ाया जाता है। आत्महत्या की सच्चाई बताते हुए एक अधिकारी तहसीलदार से कहता है –''वो ये कि कर्ज से परेशान होकर कोई आत्महत्या मत कर ले...। इधर ऐसे केसेज बहुत बढ़ गये है। कर्ज नहीं पटा सकने के कारण किसान सुसाइड कर रहे हैं...आपको पता है न। आन्ध्रा, कर्नाटक, आसाम और इवेन इन महाराष्ट्र..(बनवासी 22)।'' किसान की आत्महत्या से सरकार या किसी भी अधिकारी को कोई सरोकार नहीं है। रोज किसान आत्महत्या कर रहा है और सरकार चुप्पी साधे बैठी है। चुनाव के समय हर सरकार द्वारा किसानों के कर्ज मांफी की चुनावी घोषणा की जाती है, किन्तु शासन संभालते ही सभी को साँप सूँघ जाता है। 'चरण सिंह पथिक' की कहानी 'सर्पदंस' में भी एक ऐसे ही कर्ज के भार से दबे किसान की गाथा बताई गई है, जो कर्ज के भार से दबता जाता है। हर बार फसल अच्छी होने पर कर्ज चुकाने की सोचता है, किन्तु ऐसा नहीं हो पाता है और अंततः वह आत्महत्या कर लेता है। कहानी में किसान ग्यारस्या को खेती में नुकशान हो रहा है, दूसरी ओर उसपर कर्ज का भार बढ़ता जा रहा है। उसका परिवार भी है, ट्रेक्टर का लोन है, बच्चों की पढ़ाई है, किन्तु तीन साल से हो रहे सूखे ने उसकी कमर तोड़ दी है। लेखक लिखते हैं- ''ट्रेक्टर के लोन की मासिक किश्त। बच्चे की तीन साल कोचिंग फीस का कर्ज। दुनियादारी के बाकी सारे खर्च थे ही। ऊपर से तीन साल से सूखे की वजह से परती फसल। खेत की उपज खेत खा जाते और भैंसों का दूध भैंस पी जाती (पथिक 39)।'' इतना होने पर भी ग्यारस्या आज का किसान है। वह अपने बेटे को डॉक्टर बनाना चाहता है, इसलिए वह उसके कोचिंग के लिए कर्ज लेता है। उसकी आँखों में भी अपने बेटे के डॉक्टर बनने का सपना नाचने लगता है।–

> उसकी आँखों में भी अमृत के डॉक्टर बन जाने का सपना हरे-हरे, लाल-लाल नोटों की शक्ल में तैरने लगा था। अमृत कोटा गया। मगर हर बार मैरिट में एक-दो प्रतिशत से पिछड़ता रहा। हर साल लाखों लड़के नये आ जाते। तीन साल में पाँच-छह लाख का कर्ज बाप के माथे पर मंढवाकर वह हताशा में विक्षिप्त जैसा लौटा। (पथिक 42)

ग्यारस्या ने कर्ज लेकर ट्रेक्टर खरीदा, कर्ज लेकर भूसा-अनाज खरीदता, बेटी की शादी की चिंता करता, इन सब चीजों ने उसे टी.बी. का मरीज बना दिया। फिर भी उसे आशा थी कि ग्वार की खेती करके अच्छी रकम कमाएगा और सारा कर्जा चुकाएगा। इस बार ग्वार की कीमत ज्यादा चढ़ा हुआ था, इसलिए उसने पूरे दस बीघे में ग्वार की खेती की। महंगे बीज, खाद, कीटनाशक का प्रयोग किया। उस पर कर्ज का भार बढ़ता जा रहा था। लेखक दिखाते हैं-

> ग्यारस्या ने पूरे दस बीघे में ग्वार बोई। पूरे आषाढ़ छोटे- छोटे अंतरालों में बरसात के होने से कुछ दिनों में खेतों में ग्वार हरिया गई थी। निंदाई का काम शुरू हो चुका था। निंदाई का खर्च ही पूरे आठ हजार बैठा। हिसाब देखकर ग्यारस्या की पीठ चट-

> चट करने लगी। बीज और डीजल का खर्च तो अलग से था। अभी तो खाद पर महाभारत होगा। ब्लैक में बिकेगा। खर्चे की भरमार। हर किसान को हर वक्त ज्वर सी चढ़ी रहती। कार्तिक में फसल कटने और बिकने के बाद चुकता करेंगे हिसाब। (पथिक 45)

किन्तु, मुसलाधार बारिस ने ग्यारस्या के सपनों पर पानी फेर दिया। बीस दिन तक खेत पानी में डूबा रहा, फसल पूरी तरह गल चुका था। कीटनाशक घास खाकर उसकी भैंसों ने भी बच्चे गिरा दिए थे। ग्यारस्या इसे नहीं झेल पाया और वही कीटनाशक खाकर आत्महत्या कर लिया। कहानी में लेखक दिखाते हैं-''सरपंच ने उसे सीधा किया। मुँह झागों से भरा हुआ था। झिल्लगी खाट के नीचे कीटनाशक की एक खाली शीशी लुढ़की हुई थी। सारी शरीर ऐंठकर नीला पड़ चुका था (पथिक 46)।'' ऐसा लगता है रासायनिक खादों का प्रयोग खेतों पर कम और किसानों की आत्महत्या के लिए अधिक प्रयोग में लाया जा रहा है। जाँच करने आये अधिकारी ने साफ देखा था कि यह आत्महत्या का केस है, किन्तु सुबह अखबारों में ग्यारस्या की आत्महत्या को सर्पदंश से हुआ मौत बताया गया था। यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि सरकार खुद को बचाना चाहती है। किसानों की मौत पर भी राजनीति होती है। तभी ग्यारस्या के आत्महत्या की घटना को भी सर्पदंश बताकर अखबारों की सुर्खियों में लाया जाता है। रमाकांत श्रीवास्तव की कहानी 'हो सकता है' में किसान आन्दोलन के नौजवान नेता की मौत और बाद में उसकी मूर्ति तक के गायब करवा देने जैसा घटना और किसानों की आत्महत्या के पीछे छीपी राजनीति की पोल खोलने की कोशिश की गई है। कहानी में किसान की आत्महत्या होने पर जब उसके लाश का पोस्ट मॉरटम किया जाता है तो डॉ. परेशान हो जाता है। रिपोर्ट में लिखा था –

> मृतक की अधखुली आँखों में धान के लहलहाते खेत के सपने थे जो क्रम से किसी वीडियो की तरह निरंतर जारी थे। ऐसी घटना इसके पहले कभी देखी सुनी नहीं गई थी। चिकित्सा शास्त्र में शायद इसका कोई उत्तर नहीं था। ऐसा क्यों हुआ कि आदमी तो मर गया था पर उसका कोई सपना नहीं मरा था। (श्रीवास्तव 200)

किसानों की आत्महत्या के पीछे जो कर्ज का बोझ रहता है, इसकी तरफ किसी का ध्यान नहीं जाता है। चैनल्स वाले मरने वाले किसानों के बेटों से कहता है कि – ''आपके पिता ने बैंक का कर्जा न पटा पाने के कारण आत्महत्या की (श्रीवास्तव 200)।'' यह इस सच्चाई को बताता है कि देश में हजारों करोड़ कर्ज लेने वालों पर बैंक चुप्पी साधे रहता है और महज पाँच-दस हजार के लिए किसानों पर दबाव बनाया जाता है। वह चैनल्स वालों से कहता है- ''अगर मेरे पिता को भी विजय मालवीय की तरह दस हजार करोड़ का बैंक लोन पटाये वगैर विदेश भाग जाने की हैसियत और सुविधा होती तो वे भी आत्महत्या नहीं करते (श्रीवास्तव 200)।'' सरकार को डर है कि किसानों के सपने कहीं विद्रोह का रूप न अख्तियार कर ले, इसलिए वह सपने देखने पर प्रतिबंध लगा देती है, क्योंकि इससे समाज

में संघर्ष पैदा होगा और इसी डर से वह बहुमत से इस कानून को पास करवा लेती है, लेकिन किसानों का विद्रोह उमर पड़ता है। जगह – जगह किसानों की सभाएँ होने लगती है। धारा 144 के बावजूद कई सभाएँ होती है। पुलिस द्वारा लाठी चार्ज होता है। नौवजवान की मूर्ति इस आन्दोलन में प्रेरणा का काम करती है। यह उस नौवजवान की मूर्ति थी, जिसने किसानों के जमीन के अधिग्रहण के विरुद्ध विद्रोह किया था और जिसे राजद्रोह माना गया और वह नौजवान पुलिस की गोली से शहीद हो गया था। आज उसकी मूर्ति किसान आन्दोलन के लिए चेतना का काम कर रही थी। अतः सरकार द्वारा रातों-रात उस मूर्ति को गायब करवा दिया जाता है। लेकिन आन्दोलन में मूर्ति वाला नौवजवान पंक्ति में खड़ा था, मूर्ति मानो सजीव हो गई थी। उस व्यक्ति ने पत्थर उठाकर मारा भी था। लेखक कहता है – ''इंस्पेक्टर भय से कांप रहा था। उसकी गर्दन से उतर कर पसीना एड़ी तक आ गया था। ए. सी. पी. कुछ कह पाता उससे पहले ही वह आदमी भीड़ में शामिल हो गया था (श्रीवास्तव 205)।'' कहानी यह बताती है कि आन्दोलन में चेतना महत्वपूर्ण होती है। किसानों की हत्या बेकार नहीं जाएगी। 'बीज-भौजी' कहानी में भी सुकेश को खेती में भारी नुकशान उठाना पड़ता है। वह भी कर्जे में डूबा हुआ था। वह गेंहूँ में छिड़काव करने वाली दवा पीकर आत्महत्या कर लेता है। पुलिस आत्महत्या के पीछे छिपे किसान की लाचारी की तलाश न कर, सुकेश की मौत को मॉडर करार देती है और किसान के गरीब परिवार को परेशान करती है। पुलिस सुकेश के शरीर का पोस्ट मॉर्टम करना चाहती है। पुलिस से लेकर सरकारी तंत्र तक इस प्रयास में रहते हैं कि किसानों की आत्महत्याओं को साधारण मौत या किसी दुर्घटना का नाम दे दिया जाय या फिर इसे आपसी झँगरे में हुए मॉडर करार दे दिया जाय़। पर सुकेश की ही तरह कई किसानों की मौत के पीछे छिपे कारणों की तलाश तक नहीं की जाती है। हर फाइल दबी की दबी रह जाती है।

जमींदारी प्रथा भले समाप्त हो गई हो, किन्तु आज भी गाँव में साहुकारों द्वारा किसानों का शोषण समाप्त नहीं हुआ है। ये साहुकार आज भी गरीब किसानों की नासमझी का फायदा उठाकर उनकी जमीन पर कब्जा जमाता है। 'सुभाष चंद्र कुशवाहा' की कहानी 'फांस' में ऐसे ही किसान की त्रासदी को दिखाया गया है जहाँ किसान अपने ही साहुकार की चाल में फंस जाता है और फिर कर्ज पर कर्ज लेने के कारण वह बर्बाद हो जाता है। इसी कर्ज के कारण अंत में उसे अपनी जमीन से भी हाथ धोना पड़ता है। कहानी में किसान खेदन साहुकार विनोद राय के जाल में फंस जाता है और वह कर्ज और मुक्ति की फांस में फसां तड़पता रहता है। विनोद राय से लिए कर्ज को चुकाने के लिए वह विनोद राय के ही कहने पर गन्ने की खेती करता है। उसके बच्चे भूख से तड़पते रहते हैं। उसे आशा थी कि गन्ने का मोल अच्छा मिलेगा, जिससे वह फसल बेचकर कर्ज चुका सकता है, किन्तु भाव न मिलने के कारण उसे वहीं गन्ना कम कीमत पर विनोद राय को ही बेचना पड़ता है। जबकि घर में अनाज न होने से उसके बच्चे भूख से तड़पते रहते हैं- ''खेदन के बच्चे भूख के तपे-तपाए साए थे। भूख सताती तो रोते, कुलबुलाते, घर के हंडिया-बर्तन को टकटोरते और कभी –

कभी भूख मिटाने के वास्ते मछलियों और घोंघो के शिकार के उपक्रम में बाहर निकल जाते (कुशवाहा 118)।'' खेदन के पास पन्द्रह कट्ठे खेती योग्य जमीन थी, जमीन उपजाऊ थी जिससे दो-तीन फसले निकल आती थी, फिर भी परिवार का खर्च, कपड़ा-लत्ता, खाद-पानी के लिए मजदूरी करनी पड़ती या कर्ज लेना पड़ता था। खेदन ने पहले ही मंगरी की शादी में कर्ज लिया था जो सूद के साथ बाइस हजार तक जा पहुँचा था, दूसरी ओर विनोद राय की नजर उसकी जमीन पर थी- ''विनोद राय जानते थे कि जोर-जबरदस्ती का जमाना रहा नहीं। इसलिए वे चाहते थे कि कर्ज की विकरालता से दबकर खेदन स्वयं अपनी जमीन उन्हें सौंप दे। वे उस जमीन पर राइस मिल लगाना चाह रहे थे (कुशवाहा 122)।'' विनोद राय के कहने पर ही खेदन ने पूरे खेत पर गन्ना बो दिया था। विनोद राय ने आश्वासन दिया था कि गन्ने की खेती के लिए पानी, खाद, यूरिया आदि की व्यवस्था वे कर देंगे। गन्ने की कटाई होने पर मिल मालिकों के हड़ताल के कारण बहुत कम दाम में खेदन का गन्ना विनोद राय खरीद लेता है और खेदन यह गुजारिश भी करता है कि गन्ना के मोल में उसका कर्जा उतार दिया जाय। वह कहता है- ''नुकसान हो या फायदा, आप माफी दे दीजिए सरकार। जिनगी भर आपकी गुलामी की है, खेदन गिड़गिड़ाया था। विनोद बाबू पसीजे थे। उन्होंने आश्वासन दिया था और खेदन का गन्ना लदवा लिया था (कुशवाहा 126)।'' खेत के खाली होते ही खेदन ने गेंहूँ की बुआई की। फसल पकने तक बच्चे भूख से बिलखते रहे। खेदन को लगा चलो अच्छे दिन आयेंगे। अब कम से कम कर्जा तो नहीं रहा, किन्तु अगले ही पल उसके नाम की वसूली आती है जिसमें बोरिंग और पम्पसेट के नाम पर उसके नाम दस हजार का कर्ज लिखा था, जो अब बढ़कर उन्नीस हजार हो चुका था। जिस पम्प और बोरिंग को विनोद राय ने लगवाया था, वह वास्तव में खेदन के नाम से लिए कर्ज से लगवाया गया था। विनोद राय ने खेदन के साथ धोखा किया था। लेखक दिखाते हैं-

> खेदन खड़े-खड़े काँप रहा था, जैसे पाँवों में बल न हो। आँखों के आगे अंधियारा लग रहा था। लगता था, वह जमीन पर गिर पड़ेगा। लगभग दो सौ कुंतल गन्ने को आधी-तीसरी दर पर बाबू साहब को सौंप वह निश्चित था कि मरने के बाद बेटों के सिर कर्ज न चढ़ेगा। (कुशवाहा 132)

अपने ऊपर कर्ज का दबाव देख वह बेसुध पड़ा था। उसका सब कुछ उजड़ चुका था। साहुकार ने उसके साथ धोखा किया था।

यही कारण है कि किसानों की नई पीढ़ी का खेती से मोह भंग हो रहा है। किसानों की नई पीढ़ी नौकरी करना ज्यादा पसंद कर रहा है। किसानों की नई पीढ़ी यह देख रही है कि इतनी मेहनत करके भी उन्हें दो जून ठीक से भोजन तक नशीब नहीं हो पाता है, ऊपर से कर्ज का बोझ बढ़ता ही जाता है। इसीलिए यह नई पीढ़ी का रूझान खेती की ओर नहीं रह गया है। यह पीढ़ी पढ़ाई - लिखाई कर नौकरी करना चाह रहा है। 'ओम प्रकाश कृत्यांश' की कहानी 'प्रेत-छाया' में नई पीढ़ी के किसानों को खेती से हुए मोहभंग को दिखाया गया है, वहीं कहानी में खेती में होने वाले नुकशान और कर्ज अदा न कर पाने के

कारण किसान महतों की त्रासदी को भी चित्रित किया गया है। महतो ने अपने दोनों भाईयों को पढ़ा-लिखा कर नौकरी वाला बना दिया। किन्तु जब कर्जे को चुकाने और खेत को बचाने की बात आती है तब दोनों भाई उसकी मदद करने से मुकर जाता है। वहीं खेती करके महतो मुश्किल से दो वक्त की रोटी ही जुगाड़ पाता है। खेती में होने वाले नुकशान को बताते हुए महतो कहता है-

> अरे हम का कहें ईहाँ की हालत। अब खेती किसानी में कउनो दम नहीं रहा। हम तो कहेंगे कि ई देश में यदि कोई बेचारा है, तो वह किसान ही है। पहले के बुढ़वन की बात बिल्कुल झूठ साबित हो रही है। वे तो कहा करते थे कि- उत्तम खेती मध्यम बान (व्यवसाय) नौकरी-चाकरी भीख समान, पर अब बात उलट गई है। (कृत्यांश 117)

यह बात बिल्कुल सच है कि आज व्यापार ही सबसे आगे है। खेती का संबंध भी अब व्यापार से हो गया है। पूँजीवादी व्यवस्था में किसान नौकरी की ओर पलायन कर रहा है। खेती का काम अब घाटे का काम हो गया है। कहानी में राजधानी महतो खेती की वर्तमान दशा पर विचार करते हुए कहता है- ''भाई का कहें, खेती-किसानी का हाल। ई जो लगातार दो – तीन साल से सूखाड़ पड़ रहा है, किसानों को बे-मऊअत मार दे रहा है। इस बार का सूखाड़ तो लगता है जर-जनावर को भी मार देगा। (कृत्यांश 117)।'' बेचारा किसान अच्छी फसल की आशा में कर्ज लेकर खेती करता है और खेती में नुकशान होने पर कर्ज का भार बढ़ता जाता है। कर्ज चुकाने का जरिया उनका फसल ही है, किन्तु हर बार अच्छी फसल की आश में वह कर्ज पर कर्ज लेता जाता है, अंत में या तो उसे अपना खेत बेचकर कर्ज चुकाना पड़ता है या फिर आत्महत्या की राह चुननी पड़ती है। राजधानी महतो अपने कर्ज को लेकर परेशान है। वह अपने भाईयों से भी मदद की गुहार करता है। किन्तु कोई भी तैयार नहीं होता है। महतो कहता है- ''यहीं अपने गांव का बकरजीशा बैंक करजा चुकाने के फेरा में, अपन कई कट्टा खेत बेच दिया। अब तो दूसरे घर मर-मजूरी करके खा रहा है (कृत्यांश 117)।'' कर्ज के कारण एक किसान मजदूर बन जाता है। राजधानी महतो के सर पर भी बैंक का कर्ज है। वह अपनी पत्नी का भी इलाज नहीं करवा पाता है। इलाज के अभाव में उसकी पत्नी भी गुजर जाती है।

4.6.3. आधुनिक खेती और मजदूर बनते किसानः

शहरों के आधुनिकीकरण ने गाँव को भी अपने में समेट लिया है। वैश्वीकरण की मार शहर में तो हैं ही अब उसके निशाने पर सबसे ज्यादा गाँव है। आधुनिकता की ललक ही है कि गाँव से लोग किसानी छोड़-छोड़ कर मजदूरी के लिए शहर को पलायन कर रहे हैं। एक तो अब गाँव में काम रखा नहीं है और दूसरी ओर शहर जाकर मजदूर बनना गाँव में दिन-रात मेहनत कर भूखे सोने से अच्छा है। 'ठंडी गदूली' कहानी में 'चरण सिंह पथिक' गाँव से शहर की ओर जाते किसान के बेटे के मजदूर बनने की त्रासदी को दिखाते हैं। गाँव में खेती

के समय भी मजदूरों का मिलना मुश्किल हो चुका है। गाँव से अब किसानों की नई पीढ़ी मजदूरी के लिए शहर को पलायन कर रही है। कहानी में पटेल कहता है- ''गाँव में तो जिसे देखो, वह दिल्ली, जयपुर, मुम्बई, आगरा या किसी शहर को जाता दिखता है। काम के वक्त मजदूर तक मिलना मुश्किल हो जाता है (पथिक 17)।'' किसानी समाज में गाय, बैलों का होना सुख सम्पदा की निशानी होती है, किन्तु कहानी में गाय पालना मानो झमेला लेना हो गया है। गाय पालना मतलब उसके चारा, पानी की व्यवस्था करना भारी लग रहा है। बैल की तो अब जरूरत ही नहीं पड़ती है। यह आधुनिक खेती है, बैल का स्थान बड़े-बड़े ट्रैक्टरों ने ले लिया है। कहानी में भी जगन्या पाले हुए गाय को गाँव के बाहर छोड़ आता है। वह कहता है –

> अब गाय का टंटा कौन मोल ले। चारा खिलाओ। पानी पिलाओ। लेना-देना कुछ नहीं। अब बखत नहीं रहा गाय रखने का। पहले बैलों की जरूरत होती थी। अब दूध के लिए भैंस है। जुताई-बुआई और माल ढ़ोने के लिए ट्रैक्टर-ट्राली है। सो गाँव में मेंढ़े (सीमा) बाहर सुनी छोड़ के आया हूँ। घर में रोज कच-कच होती थी। (पथिक 18)

गाँव अब पहले सा गाँव नहीं रह गया है। खेती लायक खेत भी विकास के नाम पर कम्पनियों को दिया जा रहा है। खेती के आधुनिकीकरण ने गाँव के लोकल आमदनी को नष्ट कर दिया। मजदूरी अब बची नहीं है। कहानी में पातीराम, घासीराम को शहर चलने के लिए मनाते हुए कहता है – ''देख घासी, गाँव में मजदूरी बची ही कहाँ है। आधी से ज्यादा मजदूरी या पूरी की पूरी तो मशीनें निगल गई। जो बची है, उनके पैसे भी छह महीने बाद देते हैं लोग। वो भी बार-बार माँगने पर (पथिक 21)।'' शहर की ओर पलायन का बहुत बड़ा कारण खेती योग्य जमीन का अभाव भी है। वही पातीराम कहता है- ''मैं तो सिर्फ यह कह रहा था कि हमारे पास खेती लायक खेत नहीं। इतने वोट नहीं कि गाँव पर राज करें। मजदूरी बची नहीं तो जाएँ कहाँ (पथिक 21)।'' वह जानता है कि जो किसान दिन-रात मेहनत कर फसल उपजाता है, उसे भी दो जून भरपेट खाना नशीब नहीं होता है। ऊपर से हर दिन महँगाई की मार झेलनी पड़ती है। खेती में अब फायदा कहाँ? पातीराम कहता है- ''पूछना अपने पटेल से, खेती में इतनी लागत लगाकर बचता क्या है। वह महँगाई में सबका दिवाला निकला हुआ है। ये गाँव के जो बड़े-बड़े जोता बनते हैं, वे अंदर से खोखले हो चुके है (पथिक 22)।'' मशीनों ने गाँव में न केवल खेती मजदूर, बल्कि हर तरह के हाथों के कारीगरों का धंधा चौपट कर रखा है। गाँव में काम न पाकर ये कारीगर महानगर की झुग्गी-झोपड़ियों में जाकर जीवन यापन करने को बाध्य हो जाते हैं। 'वह अब भी नंगा है' कहानी में भी 'चरण सिंह पथिक' लिखते हैं –''पुश्तैनी धंधे वालों तथा हाथ के कारीगरों को सपने में भी मशीनें दिखाई देती और वे हड़बड़ाकर पसीने-पसीने हो उठते। हर धंधे का सीजन मशीन लूट रही थी ठेकेदारों और सेठों की तिजोरियों में बेहिसाब पूँजी जमा होती

जा रही थी (पथिक 30)।'' हर प्रकार की खेती में नुकशान का सामना करने के कारण किसान आत्महत्या कर रहे हैं। आज केवल किसान ही नहीं मर रहा, उस किसानी के भरोसे जीवन यापन करने वाला हर कारीगर मर रहा है। कहानी में लल्लू कहता है- ''कह रहे थे लोग कि कपास ज्यादा पैदा नहीं हुआ। बोने वाले किसान भी ऐसा सुना आत्महत्या करके मर रहे हैं (पथिक 30)।'' यह सच है कि किसान अकेले नहीं मरता है। किसान के साथ गाँव का हर धंधा जुड़ा हुआ है, अगर किसान ही नहीं रहा तो गाँव का बाजार किस काम का। मशीन ने अगर किसानों से आमदनी छीनी है तो इसने अन्य कारीगरों की भी नौकरियों को बर्बाद किया है। कहानी में लल्लू जो रूई धूनने का काम करता है। उसकी कारीगरी पर भी संकट मंडराने लगा है। अब उसे ज्यादा कीमत पर रूइ खरीदकर लाना पड़ता है। गाँव में रूई धूनने की मशीन लग गई है। जिससे उसे काम की आफत आ गई है। वह आगे कहता भी है – ''आज किसान मर रहा है। कल को लल्लू मरेगा...और फिर करीम..स..बका नंबर आने वाला है (पथिक 33)।'' 'छछिया भर छाछ' कहानी में 'महेश कटारे' ने मशीनीकरण के प्रभाव को दिखाया है कि किसप्रकार अब बैल का स्थान ट्रेक्टर ने ले लिया है और अब बैल के टुन-टुन की घंटी के स्थान पर ट्रेक्टर पर लगे ट्रांजिस्टर की आवाजे सुनाई देने लगी है। लेखक कहानी में दिखाते हैं –

> खेतों में बैलों की घंटियों से टुन-टुन की जगह ट्रैक्टर की भटर – भटर है। हफ्तों क्या पखवारों का काम दिन-रात में निपटता है। कभी शौकिन किसान जुए से ट्रांजिस्टर बाँध जुताई करते थे अब कम्पनियों ने ट्रेक्टर में ही टेप फिट कर बेचना शुरू कर दिया है। (कटारे 116)

वैश्वीकरण के उपरान्त बाजार का नया रूप सामने आया है। यह बाजार नया बाजार है, जहाँ लाभ ही सब कुछ है। बाजार के विकास के साथ नये-नये प्रोडक्ट का विकास हुआ। आज फसल बाजार में बिचौलियों एवं बड़े व्यापारियों ने अपना कब्जा जमा लिया है। कृषि कानून का विरोध करते हमारे किसानों को देखा जा सकता है। अफसोस तो इस बात का है कि इस बाजार में भी किसानों को अपने लागत मूल्यों के बराबर भी फसलों का दाम नहीं मिल रहा है और उसे कम कीमत पर फसलें बेचने के लिए विवश होना पड़ रहा है। 'आखिर कब तक?' कहानी में किसान सिरचन कहता है-

> अरे मत पूछो। बाजार की हालत है कि कहते नहीं बनता। हमलोग जैसे बड़े व्यापारियों के खेत हों, वैसे ही हमसे व्यवहार करते हैं। भले ही देश खेती पर निर्भर है फिर भी बाजार में हमलोगों की कोई कदर नहीं है। फसल उगाने से क्या फायदा जब उसकी लागत ही नहीं मिल पा रही है। कैसे अपना पेट-परिवार चलेगा? अगली फसल की बोआई का लागत मूल्य कहाँ से आएगा? (सिंह 105)

आज बाजार में अनाज से अधिक कीमत अनाज के बाई प्रडक्ट की है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के आने से अनाज से कई प्रकार के फूड प्रडक्ट बनने लगे हैं। इसके लिए बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ बहुत कम कीमत में किसानों से आलू, दाल, मक्का जैसी चीजें खरीद लेती है और उन चीजों से तरह-तरह के चिप्स, भुजिया, कोर्न जैसे कई फूड पैकेट्स बनाकर अपनी तिजोरियाँ भर रही है, जबकि इन सबके मूल फसल उपजाने वाले किसान भूखे मर रहे हैं। लेखक लिखते हैं –

> गेंहूँ, धान, तिलहन सबसे व्यापारी कई-कई रूप में कमाई करते हैं। गन्ना किसानों की बात तो कुछ और है। उद्योगपतियों के लिए गन्ना किसी हीरा-मोती से कम नहीं है। चीनी तो बनाते ही हैं, इसके साथ शीरा, फ्रेसमुड, गैस होल, कागज, बिजली, शराब तक बना लेते हैं फिर गन्ना आज गुह के भाव बिक रहा है। (सिंह 107)

किसानों के प्रति सरकार का रवैया हमेशा उदासिन रहा है। चाहे कोई भी सरकार रही हो, वह हमेशा पूँजीपतियों के अनुसार अपनी नीतियाँ बनाती रही है। अभी भी जो कृषि बिल सरकार द्वारा लाई गई थी जिसे किसानों के विरोध के कारण सरकार को बिल वापस लेना पड़ा, वह पूरी तरह से पूँजीपतियों के हित को ध्यान में रखकर बनाई गई बिल थी। तभी देश के किसान पिछले कई महीनों से दिल्ली की सड़कों पर हड़ताल पर डटे रहे तब जाकर एक साल बाद सरकार को झूकना पड़ा और बिल वापस लेना पड़ा। ऐसी ही परिस्थितियों का चित्रण करते हुए कहानी में सिरचन की पत्नी कहती है-

> अपने-अपने हिसाब से वोटरों को पुचकार कर वोट ले लेते। इसमें कौन खेतीहर किसान की बात सोचता। हम लोग भले गरीब रहें, इनको इससे क्या? वे तो अपना वाला काम कर रहे हैं। रिलायंस, टाटा भलें धनी बने हुए है। इनका भी उत्पाद लागत मूल्य से कम मूल्य पर बिकता तो मैं देखती इनका सम्राज्य। (सिंह 106)

जहाँ किसानों को बाजार में उनकी फसलों का लागत मूल्य तक नहीं मिलता है, वहीं टाटा, रिलायंस जैसी कम्पनियाँ इन्हीं फसलों से बाई प्रडक्ट बनाकर अकूत मुनाफा कमाती है। उन्हें कभी अपने बाई प्रडक्ट को लागत मूल्य से कम में नहीं बेचना पड़ता होगा। किन्तु किसानों की इस समस्या की ओर सरकार का ध्यान जाता ही नहीं है। उसे तो हमेशा अपने पूँजीपति पार्टनरों को बचाने की चिंता लगी रहती है।

किसान को बाजार में अनाज की लागत मूल्य भी न मिलने पर वह कर्ज में डूबता जाता है, क्योंकि वह कर्ज लेकर ही खेती करता है और आशा करता है कि फसल को बाजार में बेचकर वह मुनाफा कमायेगा और कर्ज अदा करेगा, किन्तु बाजार पर न तो किसानों का नियंत्रण है और न सरकार का। बाजार तो व्यापारियों के नियंत्रण में है, इसीलिए कहानी में सिरचन को लागत मूल्य के बराबर भी अपने गेंहूँ का मूल्य नहीं मिल पाता है। वह अपने ग्राहक को कहता भी है-

> हजार रूपए तो बहुत कम है। इसपर तो फसल के लागत मूल्य के हिसाब से जोताई, पनिवट और खाद के दाम भी नहीं बैठते। गुड़ाई-निराई, बीज, कीटनाशक के दाम धरे के धरे रह जाएँगे। चार-पाँच महीना खेतवादी जाना, मजूरा सब इसी में न है। बताओ इस रेट में बेचकर मैं क्या पाऊँगा। (सिंह 110)

बाजार में व्यापारी और बिचौलियों द्वारा उन अनाजों को पुनः खरीदकर गाँवों में बेचते हैं जिस अनाज को सरकार द्वारा गरीबों को देने के लिए कहा जाता है। इसीलिए जब किसान अपने नये फसल को बेचने जाते हैं तो उन्हें अपनी फसल का उचित मूल्य नहीं मिल पाता है, क्योंकि वहाँ बिचौलियों द्वारा कम कीमत पर फसल पहले से बेची जा रही होती है। कहानी में भी सिरचन को अपनी फसल विवश होकर कम कीमत पर बेचना पड़ता है। उस फसल को बेचते हुए सिरचन के गले का थूक सुख गया था। लेखक दिखाते हैं-

> गेंहूँ तौल हो जाने के बाद सिरचन के गले का थूक सूख गया। हाथ मलते खाली बोरा साइकिल के कैरियर में दबा लिया। गिने चुने कुछ रूपए धोती के खूँट में बाधकर आसमान की ओर देखा। जैसे कुछ अनहोनी होने वाली हो। उसी अँधकार में गाँव की पगडंडी पर साइकिल नाँध लिया। (सिंह 112)

अन्न उपजाने वाला कर्ज से लदा आत्महत्या कर रहा है और महलों में रहने वाला, इन्हीं अनाजों का व्यवसाय करने वाला सुख की जिन्दगी जी रहा है। अनाज, सब्जी सब पर व्यापारियों का कब्जा है। सरकार इनसे ही तो चलती है। चुनाव के चंदे के पैसे इन्हीं उद्योगपतियों से आता है, ऊपर से फसल के लागत चीजों पर दिन-रात महँगाई बढ़ती जी रही है, जिससे किसानों को बीज, खाद आदि के लिए कर्ज पर कर्ज लेना पड़ रहा है। सरकार कल भी किसानों के प्रति उदासिन थी, वह आज भी उदासिन है। किसानों के लिए खेती घाटे का सौदा बन चुका है। तभी किसानों की नई पीढ़ी खेती करने से अच्छा मजदूर बनना पसंद कर रहे हैं। किसानों के बच्चे दिल्ली, मुम्बई जैसै शहरों में मजदूरी करते देखे जाते हैं। लेखक कहते हैं –

> किसानों से उदासिन सरकार अपने कामों में लगी है। कभी सोचती है कि फसल लागत के हिसाब से लेवी पर किसानों को उचित दाम दें? अब तो खेतीहर किसानों से अच्छी हैसियत मजूरों की होती जा रही है। जो नौकरी कर रहे हैं। (सिंह 106)

आधुनिक तकनीक के आने से सिंचाई के साधनों का भी विकास हुआ है। गाँवों में सरकारी मदद से नहर और नालों की व्यवस्था की जा रही है। फिर भी सरकारी अनुदान एवं सरकारी कार्यों में होने वाली भ्रष्टाचार के कारण सरकारी योजनाओं का अधिकांश लाभ गरीब किसानों को नहीं मिल पाता है। वे बड़े भू-स्वामियों से विनती करते – करते या पंचायत प्रधान के पास हाजिरी देते-देते थक जाते हैं, किन्तु उनके खेतों तक नहर का पानी नहीं पहुँच पाता है और शान से खड़ी उन किसानों की फसल सिंचाई के अभाव में सुख जाती है। 'राणा प्रताप सिंह' की कहानी 'चउआई' ऐसे ही किसान की कहानी है जिसका

खेत पानी के अभाव में उजड़ जाता है। प्रधान से लेकर बड़े अफसर तक उसकी विनती जाती है, पर कागज में भले चक नाली बन जाय, यथार्थ में उसके खेतों तक चकनाली नहीं बनती है। ऐसे किसानों को आज भी इन्द्र देव के भरोसे ही रहना पड़ता है। लेखक का कहना है –

> विरझन अपने खेत की मेड़ पर उदास बैठा था। वह किसी भी उपाय से फसल की सिंचाई का जुगाड़ नहीं कर पा रहा था। कभी उदास मन से आसमान की ओर देखता तो कभी आस-पास के लहलहाते गेहूँ के खेतों को। बार-बार मेघ देवता से गेहूँ की सिचाई के लिए पानी की कामना करता और मन ही मन इन्द्र देवता को खुश करने के लिए मेघ पूजा करने के चढ़ावे को भाँखता। (सिंह 54)

विरझन कई बड़े किसानों से विनती करता कि सिंचाई की नाली उसके खेत तक आने दिया जाय, पर किसी ने उसकी विनती नहीं सुनी। वह बेचारा अदना सा मुँह लेकर रह गया। आज भी बड़े किसानों द्वारा छोटे किसानों पर किसी न किसी रूप में शोषण किया जाता है।–''दूसरे बड़े किसानों की लहलहाती फसलों के बीच सिंचाई की नाली आनी थी। सिंचाई में प्रयुक्त होने वाली नाली के अभाव में वह अपना-सा मुँह लिए उदास था (सिंह 54)।'' चकनाली का काम इतना छोटा काम है कि कोई भी अफसर इस पर इसलिए ध्यान नहीं देता क्योंकि इस काम में ऊपरी कमाई बहुत कम होती है। उन्हें इस बात से कोई मतलब नहीं कि चकनाली के अभाव में नहर का पानी कई किसानों के खेतों तक नहीं पहुँच पाता है जिससे छोटे किसान की खेती सुखी रह जाती है। विरझन की चकनाली वाली विनती पर साहेब कहते हैं- ''यह छोटा-मोटा काम हम नहीं कराते। इस मद में विकास निधि की रकम ही कितना मिलेगा कि कमीशन और काम में खर्च करके अपने लिए कुछ बचा पाएँ (सिंह 56)।'' विरझन जिस साहब के पास दूध देने जाता है, वे ही सारा काम करवाते हैं, इसलिए वह उन साहब से विनती करता है कि नाली के अभाव में उसके खेतों में सिंचाई नहीं हो पाती है और बोरिंग से खेत तक पानी आने में नाला का अभाव है। जन प्रतिनिधि से मिलने के बाद भी विरझन का काम नहीं हो पाता है और पानी के अभाव में उसका खेत सूख जाता है, जबकि कागज पर चकनाली का काम कब का हो चुका है। साहब विरझन से कहता है-

> तुम्हारे गाँव की चकनाली और चकरोड़ का काम तो कब का हो गया है। चकरोड़ और चकनाली के मद में आवंटित निधि की राशि का भुगतान तो महीनों पहले कर दिया गया। इस साल तो गेंहूँ की पैदावार खूब हुई होगी। तब गेंहूँ लाने से क्यों आना-कानी कर रहे हो। (सिंह 61)

आज विकास के नाम पर बहुत कुछ हो रहा है, किन्तु विकास केवल कागजों पर दिखाई देता है। विकास के नाम पर करोड़ों रूपयों का गबन हो जाता है, लेकिन जिन किसानों को लाभ पहुँचना चाहिए, वहाँ तक नहीं पहुँच पाता है। कागजों में तो चकनाली बन जाती है, किन्तु चकनाली के अभाव में विरझन जैसे किसानों के लहलहाते खेत सूख जाते हैं।

किसानों के फसल किसी कारणवश नष्ट होने पर सरकार द्वारा मुआवजे की व्यवस्था भी की जाती है, किन्तु हम जानते हैं कि आज भ्रष्टाचार इस कदर हावी हो गया है कि मुआवजे की रकम का भी गबन कर दिया जाता है और जो किसान अफसरों के शर्तों के अनुसार उन्हें कमीशन न दे, उस किसान या उस गाँव का नाम ही मुआवजे की तालिका से बाहर कर दिया जाता है। फलस्वरूप सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक मदद भी ठीक तरीके से भ्रष्ट व्यवस्था के कारण किसानों तक नहीं पहुँच पाता है। मुआवजे को लेकर होने वाले ऐसे ही भ्रष्टाचार की पोल खेलती है- 'हरभगवान चावला' की कहानी 'मुआवजा'। कहानी में ओला के कारण पूरे गाँव का खेत नष्ट हो जाता है और सरकार द्वारा घोषित मुआवजे के लिए गाँव वालों को कई महिने तक इंतजार करना पड़ता है और तहशीलदार को 10 प्रतिशत कमीशन देने पर ही मुआवजा मिलने की बात तय की जाती है। ओला देखकर कहानी का पात्र भागाराम को अपने कर्जे की चिन्ता सताने लगती है-

> बिजली चमकती है तो उसे बाहर ओलो से सफेद हो गई धरती नजर आती है। फसल तो खत्म हो गई – वह सोचता है। उसके शरीर में झुरझुरी उठती है। वह मन ही मन आढ़ती से लिए गए कर्ज का हिसाब लगाने लगता है। बीस हजार रूपये नगद, खाद, बीज, खल, बिनौले, गुड़, चाय आदि कुल मिलाकर चालीस हजार तो बन ही जाएंगे, ब्याज अलग। (चावला 142)

अपने सामने बोए गए फसल को मरते देख किसान की आह निकल जाती है। ओला वृष्टि के कारण भागाराम का पूरा खेत नष्ट हो जाता है। हर जगह ओलो की मोटी तह जम जाती है। कुदरत के इस कहर को न तो टेलिविजन वाले, न ही अखबार वाले ही अपनी सुर्खिया बनाते हैं। बस कुछ स्थानीय संस्करणों में छोटी सी समाचार दे दी जाती है। मुआवजे को लेकर राजनीति शुरू हो जाती है। अफसरों से 10 प्रतिशत कमीशन पर ही मुआवजे की बात बन पाती है। बीरबल कमीशन वाली बात पर कहता भी है- ''मुआवजै में जितनी रकम मिलैगी, उसका दसवाँ हिस्सा अफसरों नै देणो पड़ैगो (चावला 144)।'' अगर अफसर को 10 प्रतिशत न दे तो मुआवजा नहीं मिलेगा। कमीशन न देने पर अफसर का सख्त निर्देश था कि गाँव का नाम ओलो से हुए नुकशान की तालिका से काट दिया जाएगा। अफसर का आतंक इतना अधिक होता है कि वह पहले ही पंचायत को अग्रीम राशि देने की बात कहता है। अग्रिम राशि देने पर ही उस गाँव तक मुआवजे का वितरण तय हो पाता है।

4.6.4 वैश्वीकरण की चुनौतियाँ और आज का किसानः

आज वैश्वीकृत युग में हमारे अंदर उपभोग की संस्कृति का विकास हुआ है। इस संस्कृति की चपेट में केवल ऊच्च या मध्य वर्ग ही नहीं है, इसने गाँव के किसानों और मजदूरों के अंदर भी विलासमय जीवन जीने की लालसा को बढ़ाया है। यही कारण है कि आज किसान की दूसरी पीढ़ी किसानी छोड़कर अपनी पुश्तैनी जमीन को बेचकर विलासी जीवन जीना चाहता है। इस नई पीढ़ी को अपने इतिहास से, पुश्तैनी जमीन से कोई सरोकार नहीं रह गया है। दूसरी ओर वैश्वीकरण की मार ऐसी है कि हर कोई किसानों की

जमीन पर ही अपना ध्यान टिकाए हुए है। विकास के नाम पर किसानों की जमीने ही हड़पी जा रही है। किन्तु आज भी कुछ किसान ऐसे हैं जो जमीन को अपनी माँ समझते हैं और जीते जी अपनी माँ को किसी दूसरे के पास कभी नहीं बिकने देते। किन्तु आज समय बदल रहा है, उन्हीं किसानों की नई पीढ़ी जो बाहर काम कर रही है, जिसका अपनी पुश्तैनी जमीन से कोई वास्ता नहीं रह गया है, थोड़े से पैसे की लालच में धरती रूपी माँ को बेचने के लिए उतारू रहते हैं। 'और माँ बिक गई' कहानी एक ऐसे किसान की कहानी है जो अन्ततः अपनी जमीन को बेचे जाने से नहीं रोक पाता है। किसान के लिए उसकी जमीन ही उसकी माँ है। वह कर्ज में है, लेकिन बेटों के कहने पर भी वह जमीन बेचने के पक्ष में नहीं है। उसके लिए तो खेती से आय न हो तो भी पुरखों की जमीन-जायदाद बेचने के लिए नहीं होती है। धरती तो माँ होती है, माँ को भी कभी बेचा जा सकता है। किन्तु उनके बेटों पर तो नई संस्कृति हिलोरे मार रहा है। वह तो नई दुनिया में खोया हुआ है। उसके सामने तो जमीन बेचकर आने वाले पैसे से सुख के साधन खरीदने का नशा छाया हुआ है। लेखक दिखाते हैं-

> हरि और किशन के सपनों में पक्का शयन कक्ष था, जिसमें लगा बाथरूम भी जिसमें उनकी बीवियाँ खुशबूदार साबुन और शैम्पू से नहाए। सजे, धजे और मोटरसाइकिल पर उनके पीछे बैठकर खुशबू उड़ाती चले। खेती की जमीन बिकने पर ही उनके ये सपने साकार हो सकते थे। (भागीरथ 72)

आज गाँव की उपजाऊ जमीन पूँजीपतियों को बेची जा रही है या फिर उन जमीनों को सरकार द्वारा जबरन हड़पा जा रहा है। किसानों का देश कहलाने वाला भारतवर्ष कहीं किसानी सभ्यता को ही मिटा न दें। आज स्थिति यह है कि नदियों को गटर, वायु को जहर और आदमी को स्वकेन्द्रित बनाने वाली सभ्यता ने सब कुछ बर्बाद कर दिया है। किसानी संस्कृति की खुशबू का एहसास एक किसान ही कर सकता है। लेखक लिखते हैं-

> खेत खलिहानों में बिखरी पीढ़ियों की यादों से किसी का कोई लेना-देना नहीं रहा। सुख-सुविधाओं के मोल बिकने वालों को माटी की महक का मोल कैसे मालूम हो सकता है। खेत में फसल जब लहलहाती है, किसान का पसीना जब सोना बनकर चमकता है तब उसे कैसा लगता है, वही जान सकता है जो अपना पसीना माटी में मिलाने की सूझ-समझ रखता है। (भागीरथ 72)

किसान सोहन पर भू-माफियाओं द्वारा जान लेवा हमला भी होता है और अपने ही बेटों द्वारा कागजात पर अँगूठा लगाने का दबाब। अंततः सोहन को हार मानना पड़ता है और उसे अपनी जमीन बेचनी पड़ती है। यह आज के किसान की भयानक त्रासदी है। लेखक कहते हैं – ''एक दो दिन बाद सुना सोहन ने अँगूठा लगा दिया। माँ बिक गयी। यादें बिक गयी। इतिहास बिक गया। परिसम्पत्तियाँ बेचकर किसान, मजदूर बन गया (भागीरथ 74)।'' यह किसान के मजदूर बनने की भयावह परिस्थिति है। जमीन का बिक जाना एक इतिहास का बिक जाना है। आज भू-माफियाओं द्वारा योजनाबद्ध तरीके से नीतियाँ बनाकर

किसानों की जमीन खरीदी जा रही है और इनका साथ पूरा तंत्र दे रहा है। वहीं कुछ किसान ऐसे भी है जिनका खुद खेती से मोहभंग हो चुका है। वह खुद खेती नहीं करना चाहता और न वह यह चाहता है कि उसकी भावी पीढ़ी ही खेती करें। 'सुभाष चन्द्र कुशवाहा' की कहानी 'यही सब चलेगा' में किसान का खेती से हो रहे मोह भंग को दिखाया गया है। कहानी में चौधरी साहब एक बड़ा किसान है, किन्तु वह नहीं चाहता है कि उसकी नई पीढ़ी खेती करें। वह चाहते हैं कि उनके लड़के पढ़-लिख कर नौकरी करे। वह अपने बेटे को अफसर बनते देखना चाहता है। वह ऐसा किसान है जो पूरी तरह सम्पन्न है, फिर भी वह अपने भावी पीढ़ी के भविष्य को लेकर चिंतित है। लेखक दिखाते हैं-

> चौधरी साहब के पास जमीन-जायदाद तो थी, पर खेती-गृहस्थी से जिन्दगी की गाड़ी चलाना आसान न रहा। महंगे बीज, खाद, कीटनाशक और उस पर मौसम की मार ने किसानों की कमर तोड़ दी थी भविष्य की चिंता में गले जा रहे चौधरी साहब चाहते थे कि इकलौता बेटा गाँव से बाहर निकल जाए तो बेहतर। (कुशवाहा 136)

जब चौधरी साहब जैसे बड़े किसानों की ऐसी हालत हो गई है तो छोटे किसानों का तो क्या कहना? चौधरी साहब अपनी जमीन बेचकर स्कूल खोलना चाहते हैं तो दूसरी ओर जमीन के मोह भी उनसे छुटा नहीं जा रहा है। उसे जमीन से लगाव है। उस जमीन से उसकी कितनी ही यादें, कितनी ही संस्कृतियाँ जुड़ी हुई है। आज किसानों की स्थिति त्रिशंकु जैसी हो गई है। चौधरी साहब सोचते हैं-

> बड़का आम की डाल लपक कर झूला झूलना, जरदहवा को छील कर भूजरी बनाना, महुआ के गरदाए कोंचों की गंध को सूंघना या जमीन पर गिरे पीले-सफेद महुओं को चुन-चुन कर टोकरी में रखने जैसे दृश्य एक बार फिर मन-मस्तिष्क में उतर आए। (कुशवाहा 138)

किसानी सभ्यता में पशु का प्रमुख स्थान माना जाता है। पशु किसानों की शान है। पशुओं में बैल तो किसान की रीढ़ की हड्डी होता है। एक जोड़ा बैल किसान परिवार की सम्पत्ति होती है। बैल द्वारा न केवल खेत में जोत का काम लिया जाता है, बल्कि वह तो परिवार का एक हिस्सा होता है। किन्तु जब से खेतों में मशीनीकरण का युग आया, बैल का स्थान ट्रैक्टरों ने ले लिया। नई पीढ़ी खेती से दूर तो हुई, पशुओं से भी दूर होती चली गई। दिनेश पांचाल की कहानी 'मारकणिया' ऐसे ही किसानी संवेदना की कहानी है, जहाँ एक ओर नई पीढ़ी का खेती से अलगाव हो रहा है, वहीं वह पशुओं से भी दूर भागता नजर आ रहा है, जबकि किसानों की पुरानी पीढ़ी के लिए पशु आज भी घर का हिस्सा है। कहानी में कचरू दादा ऐसे किसान है जिसके पास इतनी खेती योग्य जमीन है कि पूरा परिवार का गुजारा चल जाता है, किन्तु उनके दोनों बेटों को खेती में कोई दिलचस्बी नहीं है। कचरू दादा की दोनों बहुएँ किसानी परिवार से होने के बावजूद वे बैलों को देखकर नाक-भौं सिकुड़ते हैं। एक बैल के मारे जाने पर दादा दूसरा बैल खरीदना चाहता है जबकि उनके बेटें

बैलों को बेचकर ट्रैक्टर खरीदने की सलाह देते हैं। बैल के महत्व को बताते हुए दादा कहता है- ''किसान के घर की आबादी उसके बारे की आबादी से ही होती है (पांचाल 15)।'' वह मकना का एक बैल खरीद कर ले आता है। बड़ी बहु न चाहते हुए भी बैल का दाना-पानी देखती है और उसे उससे लगाव भी हो जाता है, किन्तु छोटी बहु को बैल सीधे आँख नहीं सुहाती है। वह सोचती है- ''इस मरकणिये बैल को इस घर से बाहर करवा कर ही दम लूँगी (पांचाल 17)।'' बड़ी बहु कांता भी उसे समझाते हुए कहती है- ''ऐसा नहीं कहते रतन। हम किसानों के लिए बैल कमाऊ बेटों से कम नहीं होते (पांचाल)।'' आज यह अजीब बात लगती है कि किसानों की नई पीढ़ी के दिमाग में खेती बाड़ी के साथ – साथ पशुओं के प्रति भी द्वेष भर रहा है। नई पीढ़ी कुत्ता पालने में तो अपनी शान समझता है, लेकिन गाय, बैल का घर पर होना उसे जानवर पालना लगता है।

वैश्वीकरण के उपरान्त विकास का जो मॉडल तैयार हुआ है, वह किसानों के जमीन पर ही टिका हुआ है। इसीलिए हर तरह के हथकंडे अपनाकर किसान की जमीन को ही अधिगृहित करने की कोशिश की जाती है। कहीं सरकारी स्तर पर तो कहीं किसानों के आपसी द्वन्द्व उनकी जमीन को कई टुकड़ों में बाँट देती है और अन्ततः उसकी जमीन किसी न किसी पूँजीपतियों द्वारा खरीद ली जाती है। नई पीढ़ी को जमीन या खेती से कोई लगाव नहीं रह गया है, इसलिए वह अपने हिस्से की जमीन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को बेचने से तनिक भी नहीं हिचकता है। उसके सामने तो विलासी जीवन जीने का एक सपना पल रहा है, जो सपना वैश्वीकरण ने दिखाया है। आज यही कारण है कि संयुक्त परिवार के टूटने के बाद एक ही परिवार में एक-एक इंच जमीन के लिए कोर्ट – कचहरी का मामला हो जाता है। भाई द्वारा अपने ही भाई की जमीन हड़पने के लिए कई चालें चली जाती है। 'गौरीनाथ' की 'पैमाइश' कहानी में पैतृक जमीन को हड़पने के लिए एक ही परिवार के अंदर कुत्सित योजनाएँ बनने लगती है। कहानी में मणिकांत के पिता के गुजरते ही उसके चाचा ने धीरे-धीरे अपने ही भाई की जमीन को हड़पना शुरु कर दिया। इसलिए मणिकांत जमीन की पैमाइश करने के लिए गाँव आता है। लेखक दिखाते हैं-

> लेकिन पिता के गुजरने के साल-भर के भीतर जब उसके चाचा ने अवैध तरीके से जमीन कब्जाना शुरू कर दिया तो उसके कान खड़े हुए। हद तो तब हो गई जब पिछले महिने चाचा ने उसके घर के एक हिस्से में अपने माल-मवेशी बाँधना शुरू कर दिया था। (गौरीनाथ 12)

चाचा जी अपने ही भाई पर कर्ज का इल्जाम लगवा कर जमीन हड़पना चाहते हैं। मणिकांत के पूछने पर उसके चाचा जी कहते हैं-

> उन्होंने मुझे कहा था कि खेती की जमीन तो तुम्हें यूँ ही मिल जाऐंगी क्योंकि मेरे बेटों में से कोई खेती करने वाला नहीं। इन रूपयों के एवज में घर और बासडीह की

> जमीन आधा दे दूँगा। इसलिए मैंने तुम्हारे खाली दालान का उपयोग मवेशियों को बाँधकर किया था। (गौरीनाथ 13)

चूँकि आज की नई पीढ़ी खेती नहीं करना चाह रही है, इसलिए भी खेती की जमीन को उनके संबंधी बेचने में ही भलाई समझते हैं। कहानी में भी मणिकांत शहर में नौकरी करता है और उसका भाई प्रेमकांत पटना में प्रोफेसरी का काम कर रहा है। जमीनी विवाद ने अपने ही परिवार के बीच खाई बना दी थी।

'भेड़िया' कहानी में भी दिखाया गया है कि कैसे जमीन के लालच में एक भाई अपने ही दूसरे भाई की जमीन को हड़प लेता है। कहानी में किसान सुरजा से उसका ही भाई मालचंद धोखे से जमीन के कागजात में अँगूठा लगवा लेता है-

> एक दिन मालचंद उसके घर आया और बोला, सुरजा तेरे खेत के कागज निकाल। गाँव में शहर का प्रशासन शिविर लग रहा है। बड़े-बड़े अफसर गाँव में आएंगे। घर बैठे ही तेरा खातेदारी में नाम चढ़ जाएगा। मैं फारम भी ले आया हूँ। सुरजाराम ने चुपचाप उसे कागज दे दिए और उसकी बताई जगह पर फारम में अंगूठा भी लगा दिया। (केवड़िया 144)

सुरजा को अपनी जमीन हड़पे जाने की खबर तब मिलती है जब किसी के कहने पर वह खेत पहुँचकर देखता है कि उसके खेत की चारदीवारी हो रही है। उसके पूछने पर उसका भतीजा बेशर्म हँसी हँसते हुए कहता है-''चाचा, तुमने ये खेत बापू को बेच दिया है। अब हमारी इच्छा, हम इस पर कुछ भी करायें। (केवड़िया 145)।'' अपने भाई के द्वारा धोखे से जमीन हड़प लिए जाने पर जब वह इसकी शिकायत करने अपने भाई के पास जाता है तब उसका भाई रूपये की गड्डी उसके सामने फेंकते हुए कहता है- ''ये बीस हजार हैं, रख ले। जमीन का अब तुझे क्या करना है? तेरा कौन सा वारीस पीछे बैठा है, जमीन को भोगने के लिए (केवड़िया 145)।'' सुरजा जानता है कि पंच में शिकायत करके भी कुछ नहीं होगा। फिर अपनी जमीन खोकर वह नरेगा में मजदूर बन जाता है। अपनी बिमार बीवी का इलाज न करवा पाने के कारण लिछमी भी मर जाती है, वहाँ भी लिछमी की देह को डॉक्टर मेडिकल अस्पताल को बेचकर पैसा कमाने में लग जाते हैं। अंत में जिन्दगी से हारा हुआ सुरजा अनाथालय पहुँचता है, जहाँ वह कई बच्चों के बीच अपने राजू की याद में बची हुई जिन्दगी गुजारने का निर्णय करता है-

> सुरजा राम ने उन बच्चों की तरफ देखा। उसे लग रहा था कि उसका और इन बच्चों का दर्द और अकेलापन एक जैसा है। दो छोटे बच्चों ने अपनी नन्हीं हथेलियों से उसका हाथ पकड़ा और उसे अंदर ले जाने लगे। आँसुओं के साथ सुरजा राम के मन का बोझ भी बहता जा रहा था। (केवड़िया 147)

सुरजा राम वह किसान है जिसकी बदहाली का कारण उसका अपना भाई है। ऐसे न जाने कितने किसान अपने ही लोगों द्वारा लूटा जाता रहा है।

गाँवों के शहरों में परिवर्तन ने किसानों के खेतों को प्लाट में बदल कर रख दिया है। आधुनिक सभ्यता ऊँची-ऊँची इमारतों की सभ्यता है। यह सभ्यता किसानों के खेतों पर ही सजा हुआ है। शहरों के विकास ने आस-पास के खेतीहर जमीनों को बड़े-बड़े प्रोजेक्ट में बदल कर रख दिया है। जिन स्थानों में हरियाली खेत नजर आता था, अब वहाँ ऊँचे-ऊँचे मकानों वाले जंगल नजर आ रहा है। किसानों की जमीन को जबरन या साजिश के तहत हड़पा जा रहा है। ऐसी ही साजिश की पोल खोलती 'रत्न कुमार सांभरिया' की कहानी 'खेत' है। कहानी का नायक केरसिंह मोटियार ने अपने खेतों को शहर में तब्दील होते देखा है। आज उसके पास 200 वर्ग गज ही जमीन बची है, जिसमें वह सब्जियाँ लगाता है और अपनी एक झोपड़ी में रहता है। उसकी जमीन पर सबकी नजरें है। शहर के काफी लोग उसकी जमीन खरीदने के लिए आते रहते हैं। किन्तु वह किसी भी कीमत पर अपनी जमीन बेचना नहीं चाहता है। उसे इस बात पर गर्व है कि उसने अपनी जमीन बेचने नहीं दी। कहानी में वह कहता है- ''सब कुछ बेचकर भी कुछ गंवाया नहीं है, मैंने। अपने पास जो टुकड़ा है, उसका रोकड़ा, उस सगली जमीन से घना है, आज। बूढ़ा आकाश में खिले तारों की तरह खिलखिलाता उसके खेतों पर शहर बस रहा है (सांभरिया 236)।'' उसके अपने बचे खेत से इतना प्रेम है कि कुछ भी हो जाय, वह उसे बेचना नहीं चाहता है। दलाल से लेकर वकील तक की नजर उसकी जमीन पर है। वह खेतों के शहरों में हुए परिवर्तन को देखता और दुःख प्रकट करता है।– ''सड़क के दोनों किनारे मंजिल पर मंजिल बनती जाती थी। दुकानें व शापिंग सेंटर खुले थे। बूढ़ा अपना धोती-कट्टा लिए उन्हें अपलक निहारता चला जाता था। आह भरता, उसी के खेत हैं (सांभरिया 239)।'' उसके सब्जी दुकान पर दलाल द्वारा पैसे की गड्डी दिखाकर खेत खरीदना चाहता है, किन्तु बूढ़ा चाकू निकाल कर दलाल को भगा देता है, साजिश के तहत वकील बूढ़े के घर पुलिस भेजवाकर बूढ़ा से कागज पर दस्तखत करवाना चाहता है। इस पर भी बूढ़ा डरता नहीं है, वह वकील के घर जाकर उसके मुँह पर पैसे फेंक आता है।– ''बूढ़ा ने अडूंस खोली। स्टांप की चिंदी-चिंदी कर वकील पर फेंक दीं। रूपये की थैली सामने पटकी। उसने गेट पर लाठी ठकठकाई- वकील छौ ना। केरसिंह पागल कोनी, काल जो बेच दे आपणो (सांभरिया 242)।'' कहानी में भले केरसिंह अपने खेत को बेचे जाने से बचा लेता है, किन्तु हकीकत तो यह है कि आज बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और सरकार के सामने केरसिंह जैसे किसानों को रोज अपनी जमीन को बेचने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। जिस खेत की जमीन से लोगों का पेट भरता है, वह जमीन आज प्लाट बनकर लोगों के लिए आलिशान स्थान बन रहा है। आज का किसान चाह कर भी अपनी जमीन को नहीं बचा पा रहा है। चाहे वह सिंगुर के किसान की कहानी हो, नंदीग्राम की हो या भारत वर्ष के किसी भी स्थान की कहानी हो। साधारण किसान आज कॉरेपोरेट जगत के हाथों लूटने के लिए मजबूर है।

भारतवर्ष में कृषि सुधार के नाम पर हरित क्रांति ने पारम्परिक खेती के स्थान पर रासायनिक खादों एवं गाँव के खेतों में कुँओं की जगह बोरवेल लगवाकर किसानों को पूरी तरह प्रभावित किया है। विकास के नाम पर नदियों पर बाँध बनाकर हमेशा भरी रहने वाली नदी को संकीर्ण कर दिया गया, जिसका प्रभाव गाँव की सिंचाई में भी पड़ा है। गाँव के कुएँ सुखने लगे और हैंडपम्प से सिंचाई की जाने लगी। 'पराग मांदले' की कहानी 'जमीन से रिश्ता' एक ओर गाँव से किसानों के पलायन के बावजूद भीमा की अम्मा द्वारा किसी भी हाल में गाँव की मिट्टी को न छोड़ने की आत्मीयता को दर्शाता है तो वहीं रासायनिक खादों और विदेशी बीजों के प्रयोग से जमीन को होने वाले नुकशान की भी खोज करती है। हम जिस तरह से जमीन को उर्वरक बनाने के लिए रासायनिक खाद का प्रयोग करते हैं उससे मिट्टी की अपनी रोग-प्रतिरोधक क्षमता का ह्रास होता है। कहानी में भीमा का अन्ना कहता है-

> ध्यान से खुर्दबीन में देखेगा इस मिट्टी को तो एक चुटकी मिट्टी में भी तुझे लाखों जीव दिखाई देंगे। वे जीव इस मिट्टी का प्राण हैं। उनके कारण ही फसलों का पोषण होता है। इनमें बीमारी पैदा करने वाले जीवाणु भी होते हैं मगर प्रकृति में ही उन्हें नष्ट करने की व्यवस्था भी होती है, रासायनिक खाद और कीट-नाशक इस व्यवस्था को नष्ट कर रहे हैं। (मांदले 112)

जमीन से कितना अधिक फसल उपजाकर पैसा कमाने की होड़ में हम अपनी जमीन को जहर पिला रहे हैं। कीटनाशक दवाओं के अधिक छिड़काव से जमीन की आन्तरिक ताकत को नष्ट कर रहे हैं। खाद का इस्तेमाल मिट्टी के भीतर किसी ताव की कमी को दूर करने के लिए न कर उसका जमीन के लिए खाने की तरह इस्तेमाल कर रहें है जो कि खतरनाक है। भीमा अपने दोस्तों से कहता है-

> हम जो रासायनिक दवाईयाँ कीड़ों को मारने के लिए फसल पर छिड़कते हैं, उससे सिर्फ फसल के ऊपर लगने वाले कीड़े ही नहीं मरते, जमीन के भीतर रहने वाले लाखों सूक्ष्म जीव भी मर जाते हैं जो मिट्टी को जीवन्त बनाये रखते हैं। इस तरह हम एक सजीव प्रक्रिया की जगह एक कृत्रिम प्रक्रिया से फसल उगाने की कोशिश कर रहे हैं। (मांदले 114)

इस प्रक्रिया के कारण आए दिन खाद और कीटनाशकों का खर्च बढ़ता जाता है। इसके साथ ही किसानों के सिर पर कर्ज का बोझ भी बढ़ता जाता है। एक ही फसल बार-बार बोने से जमीन की उर्वरता नष्ट होने लगती है। फसल से रूपये कमाने की लालच ने हमें स्वार्थी बना दिया है। कहानी में अन्ना भीमा जी से कहता है-

> मिट्टी से फसल उपजती है और वह फसल हमारे पोषण के लिए होती है। मिट्टी से पैसा उपजाने की कोशिश करेंगे तो वह पैसा खेत और हमें-दोनों को ही ले डूबेगा। यह मिट्टी माय ही रहे हमारी, लालच में आकर इसका प्राण मत हर बेटा। (मांदले 112)

भीमा अपने दोस्तों को रासायनिक खाद के प्रयोग करने से बचने की नसीहत देता है, किन्तु उसके दोस्त उसकी बात नहीं मानते हैं। तानाजी को अपनी खेती से नुकशान होने लगता है। वह भीमा से मिलकर कहता भी है –

> तू सही कहता था भीमा। एक ही एक फसल लेने के कारण जमीन सचमुच अब बंजर होने लगी है। पहले पैसा ज्यादा नहीं मिलता था मगर साल भर पेट भरने के लिए अनाज कभी कम नहीं पड़ता था। अब तो बोने के लिए बीज भी बाहर से लेना पड़ता है और खाने के लिए अनाज भी। उस पर हजार तरह की बीमारियाँ फसलों की। किसी तरह अच्छी फसल आ भी जाये तो उसके दाम ठीक मिलेंगे, इसकी कोई गारंटी नहीं। एक दुष्चक्र में फँस गया हूँ रे मैं और इससे बाहर निकलने की कोई राह भी नहीं दिखाई देती। (मांदले 114)

यह केवल तानाजी की परेशानी नहीं है, बल्कि आज के सभी किसानों की परेशानी है। कहानी में तानाजी इस परेशानी से नहीं उबर पाते हैं और पेड़ से लटक कर आत्महत्या कर लेते हैं। तानीजी जैसे लाखों किसान खेती में हुए नुकशान को नहीं झेल पा रहे हैं और कर्ज में डूबकर आत्महत्या कर रहे हैं।

आज वैश्वीकृत बाजार में किसानों के फसलों की बिक्री के लिए मंडी की स्थापना की गई, किन्तु मंडियों में पूँजीपतियों का ही बोलबाला है। सरकार द्वारा एम.एस.पी. की व्यवस्था करने के बावजूद भी हर राज्यों में एक ही फसल की बिक्री अलग-अलग दामों पर होती है, जिससे किसानों को एक तरह का दाम कभी नहीं मिल पाता है। गेंहूँ की बिक्री जहाँ पंजाब में 1800 रूपये क्विन्टल होती है तो वहीं गेंहूँ की कीमत बिहार, यू.पी. में 1000 रूपये भी नहीं मिलता है। मंडियों पर फैले भ्रष्टाचार के कारण किसानों को अपनी फसल का उचित दाम नहीं मिल पाता है। मंडी में बैठे मंडी सचीव, अफसर, बिचौलियें, प्राइवेट एजेंट आदि के भ्रष्टाचार और राजनीतिक दाव-पेंच के कारण उन्हें अपनी फसल का उचित मूल्य नहीं मिलता है, जिससे किसानों की सारी मेहनत बेकार हो जाती है। उसे अपनी फसलों को उचित मूल्य में बेचने में मंडी के अफसरों की आवभगत करनी पड़ती है, बिना महाजन के हस्तक्षेप या बिचौलियों के उनकी फसल की बिक्री नामुमकिन हो जाती है। सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य से भी कम कीमत पर यो तो उन्हें अपनी फसल बेचनी पड़ती है या खुले में अथवा बारीस में भींगते हुए अपने फसलों को बर्बाद होते देखना पड़ता है। मंडी के इस भयानक खेल से हर किसान को गुजरना पड़ता है। 'रणविजय सिंह सत्यकेतु' की कहानी 'मंडी का महाजाल' किसानों के फसलों की बिक्री के लिए लगाई गई मंडी में फैली अव्यवस्था, राजनीति और भ्रष्टाचार की परत- दर- परत खोलती कहानी है। कहानी की शुरूआत में ही मंडी की वास्तविकता दिखाई गई है-

> बड़े काश्तकारों को चमकदार चबूतरे और ताजे टीन शेड मुहैया कराए गए हैं। किसान हंगामा न करे, इसलिए कुछ और लोगों को चबूतरे और टीन शेड अलॉट किए गए है लेकिन उनका रूप-सौष्ठव इस कदर बिगड़ा हुआ है कि खुले आसमान के

> नीचे बोरियां रखना ज्यादा सुरक्षित है। मंडी के कर्मचारियों के क्वार्टरों की तरफ को छोड़कर बाकी हिस्से की नालियां पके जुकाम से भरी नाक जैसी जाम है। चाय की पत्तियों, तंबाकू-पान की पीकों, गुटखे की पुड़ियों और आम-जामुन की गुठलियों और छिलकों के अलावा फेंकी जा सकने वाली हर तरह की चीजों से मंडी परिसर भरा-पड़ा था। (सत्यकेतु 53)

उस मंडी में आए सभी किसानों की अलग व्यथा है। किसी को साहुकार का कर्ज चुकाना है तो किसी को ट्रेक्टर की राशि अदा करनी है, किसी को बच्चे के लिए साईकल खरीदना है आदि-आदि। सभी को यही उम्मीद है कि उसकी फसल उचित मूल्य पर बिक जाय। उन्हें चिंता है कि अगर बारिस में गेंहूँ भींग गया तो उसकी फसल नहीं बिकेंगी या उसकी बहुत कम कीमत आंकी जाऐंगी। कहानी में दिखाया गया है-

> बारिश होने के पहले मंडी पहुँचे किसानों के माथे पर यह जानकर चिंता की लकीरें उभर आई कि अब उनके गेंहूँ का दाम भी भीगे गेहूँ के बराबर लगाया जाएगा। खरीद एजेंशियों के कहने पर ही बिचौलियों ने सब गेहूं बराबर की बात फैलायी ताकि किसानों में गुटबंदी हो जाए और वे फायदा उठा सके। (सत्यकेतु 53)

किसान कई दिनों तक दिन-रात अपनी फसल की रखवाली करते मंडी में बिताने लगे, किन्तु उनकी फसलों की खरीद नहीं हो रही थी। जबकि बिचौलियों की बात मानने वाले किसानों की ही फसले खरीदी जा रही थी। लेखक कहानी में दिखाते हैं-

> जबकि मंडी में गेहूं की खरीद रोज हो रही थी लेकिन उन्हीं किसानों के गेहूं खरीदे जा रहे थे जो बिचौलियों की बात मानकर प्राइवेट एजेंसियों के रेट स्वीकार कर रहे थे। या फिर उन किसानों के गेहूं धर्मकांटे पर चढ़ रहे थे जिनकी ऊपर से सिफारिश हो रही थी। (सत्यकेतु 58)

सरकारी एजेंसी वाले, प्राइवेट एजेंसी वाले, मंडी सचीव, इंस्पेक्टर सभी की मिली-भगत के बीच मंडी में अंधेरगर्दी चल रही थी। सभी किसानों का ही नुकसान कर अपनी जेब भरने में माहिर थे। किसान हितकारी सभा का दबंग नेता भी भाषण देकर जा चुका था और अफसरों से सांठ-गाँठ कर चुका था। किसानों को अपनी फसल की चिंता के साथ-साथ महाजनों के कर्ज, मजदूरों की बाकी दिहाड़ी, दुकानदारों का बकाया, घरवालों के कपड़े-लत्ते, बच्चों की पढ़ाई, बीमारी, पूजा-पाठ आदि की चिंता हो रही थी, क्योंकि यह सब फसल की बिक्री पर ही निर्भर था। किसान अंसार मियाँ पर 20 हजार का कर्ज था तो किसान अवधपाल पर 50 हजार। किसान कमलेश को यह आशा थी कि फसल बिक जाय तो वह ट्रेक्टर का किश्त भर पाऐगा, पिता का इलाज करा पाऐगा, किन्तु मंडी पहुँचते ही बारिश में उसकी फसल भींग जाती है। वह उसे धूप में सुखा भी लेता है, किन्तु उसकी फसल की कीमत नहीं मिल पाती है और दिल का दौरा पड़ने से वह बोरियों के ढ़ेर में ही मारा जाता है। बिचौलियों को किसानों के दर्द से कोई सरोकार नहीं। कहानी में देखते हैं- ''बिचौलियों की पूरी कोशिश है कि किसानों को कम से कम कीमत पर गेहूं बेचने पड़े ताकि

खरीद एजेंशियों से ज्यादा से ज्यादा कमीशन हासिल कर सकें। साथ ही जल्दी गेहूं बिकवाने का लालच देकर कुछ किसानों से भी सौदेबाजी कर रहे हैं (सत्यकेतु 57)।'' किसान अवधपाल को यह उम्मीद है कि उसकी फसल बिक जाएगी तो वह महाजन का उधारी लौटाकर और अपनी लागत निकाल कर घर के खर्चे निकल जाऐंगे। वह अपने महाजन से हाथा-पाई करके मंडी पहुँचा था, चूंकि महाजन ने बही खाते में दर्ज पाँच रूपये सैकड़े पर लिए गए कर्ज को बड़ी सफाई से 10 रूपये सैकड़े में बदल दिया था। पूरे मंड़ी में बिचौलियों का ही राज था। वे फसल की तौल रोकने से लेकर बोरियों में बंद गेहूं की गुणवत्ता के खिलाफ दुष्प्रचार कर रहे थे। अवधपाल कई सपने संजोकर मंडी तक पहुँचा था, कमलेश की मौत ने उसे और हिला दिया था। किसी ने पानी का पाईप अवधपाल के फसलों की तरफ मोड़कर उसकी पूरी फसल को भींगा दिया था। कहानी में देखते हैं-

> अवधपाल वहीं धम्म से गिरा और असहाय बच्चे की तरह बुक्का फाड़कर रोने लगा। अपने आंसुओं की धार के बीच वह बांच रहा था अपनी बेबसी की करुण कथा। उसे साफ दिखाई दे रहा था पत्नी की कातरता और बच्चों की मायूसी पर अट्टाहास करता जग्गू महाजन का चेहरा। (सत्यकेतु 58)

आज का किसान इसीतरह अपनी फसल का उचित मूल्य न मिलने और मंडी व्यवस्था में भ्रष्टाचार के कारण शोषित हो रहे हैं और कुछ न कर पाने की स्थिति में आत्महत्या की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने आज किसानों की जमीन तक अपनी पहुँच बना ली है। आज विकास के लिए खेतीहर जमीन का अधिग्रहण किया जा रहा है। चाहे पेट्रोल पंप लगवाना हो, या मोबाईल टावर, हर जगह साजिश के तहत किसानों की जमीन का अधिग्रहण किया जाता है और इस काम में हर क्षेत्र के अफसर से लेकर जन प्रतिनिधि मंडल तक शामिल होता है। मोबाइल टावर और बड़े – बड़े पावर वाले लाईट के कारण भी खेती का नुकशान होता है, किन्तु इसकी ओर किसी का ध्यान नहीं जाता है। 'मदन मोहन' की कहानी 'जहरीली रोशनियों के बीच' ऐसे ही किसान की कहानी है, जिसकी जमीन को उसी क्षेत्र के विधायक द्वारा पेट्रोल पम्प लगवाने के लिए हड़प लिया जाता है। सुगना देवी की ही तरह कई किसानों के जमीन को मोबाइल टावर लगवाने के लिए खरीद लिया जाता है। किसानों की जमीन पर आज इन कम्पनियों की बुरी नजर है। लेखक दिखाते हैं-

> कम्पनियों ने इसे गंभीरता से लिया। फिर क्या था, उन्होंने पुल के इस पार गाँव से लगी पक्की सड़कों के किनारे अपने टॉवर बना डाले। इसके लिए उन्होंने गरीब-जरूरतमंद किसानों की जमीने औने-पौने में खरीद लीं। बेचारे किसानों की पैसों की जरूरत पूरी हो गयी, वे खुश थे। कम लागत की जमीनें पाकर कम्पनियाँ भी खुश थीं, पर उन्होंने अपनी खुशी जाहिर नहीं होने दी। (मोहन 39)

कहानी में भी सुगना देवी की जमीन को विधायक द्वारा ही हड़प लिया जाता है, किन्तु सुगना देवी हार नहीं मानती है और अपनी जमीन को बचाने के लिए विरोध करती है और वहीं मौत को गले भी लगा लेती है। सुगना देवी के लिए दो बीघे जमीन का ही आसरा था, उसी के भरोसे वह बच्चों का लालन – पालन करती थी, उसका पति बाहर कमाने गया था। उसकी जमीन को हड़पने की साजिश में गाँव का महाजन और मुंशी भी शामिल था। मुंशी सुगना के पास जाकर कहता है- ''खेत तू रेहन पर रख दे, त सब कामे आसान हो जाई.... रेहनदार केलसिसवा के करजवो भर देगा....पक्की कोठरिया और बेटी के गौना सब पूरन। समझ रही है न? (मोहन 41)।'' सुगना मुंशी की चाल में आ जाती है और मुंशी के भरोसे ही अपना खेत रेहन दे देती है। देखते ही देखते वह खेत बाद में विधायक की पत्नी के नाम हो जाता है। दरोगा से शिकायत करने पर भी दरोगा विधायक का ही साथ देता है। वह सुगना से कहता है- ''देखो, पंप तो सरकार की मजूरी के बाद ही बैठ रहा है। तुम्हारे पास खेत का कागज भी नहीं। पंप विधायक जी की धर्मपत्नी के नाम बन रहा है। मैं इससे कुछ नहीं कर पाऊँगा। तुम कोर्ट – कचहरी जाना चाहो, तो जा सकते हो (मोहन 45)।'' वह अपने खेत को बचाने के लिए सबसे विनती करती है। वह प्रधान के पांव पड़ती है, रोती है, बिलखती है। अंत में अपने खेत पर ही जाकर टिक जाती है। वह अन्न-जल सब छोड़ देती है। लोगों के समझाने पर वह कहती है- ''नहीं जाइब आपन खेत छोड़िके। भूखब मरब यहीं , लेकिन जाइब नहीं। अऊर पंचो, सुन ल, टंकिया बनी, त हमरे लहास पर बनी। जाव काका, जाव काकी, जाव भइया डंका पीट देव। हमरे बान के, गाँव-जवार में (मोहन 45)।'' देखते ही देखते सुगना के खेत में बालू, पत्थर, ईट गिरने लगते हैं। चारों ओर बड़े-बड़े बिजली के खंभे लगा दिए जाते हैं और उन खंभों में अधिक पावर वाले बड़े- बड़े लाईट। जिनकी रोशनी से घनघोर रात में भी उजाला ही रहता है। पूरा इलाका सोडियम की लाईट से चमकने लगता है। इसके दुष्प्रभाव से वे अंजान है। लेखक दिखाते हैं – ''किन्तु रोशनियों की जहरीली ऊष्मा से आस पास के खेतों की रबी की कच्ची-फसलें झुलसने लगी थीं। किसानों के दिल ऐंठकर रह गये थे। पर वे चुप थे, क्योंकि विकास के कार्य में वे कोई रोड़ा बनना नहीं चाहते थे (मोहन 44)।'' विकास की आँधी ने गाँव के किसानों को बर्बाद कर दिया। एक ओर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का दबाव तो दूसरी ओर अपने ही लोगों द्वारा शोषण की मार झेलते हैं। कहानी में सोडियम की लाईट से फसलों को नुकशान हो रहा है, किन्तु किसी की हिम्मत नहीं कि वह विधायक के विरोध में जाए।

टी.वी. चौनलों और दिखावे की संस्कृति की ललक से गाँव का साधारण किसान दूर ही है। वह भी टी.वी. में दिखने वाले शानो-शौकत की जिन्दगी जीना चाहता है, वह सब कुछ पाना चाहता है जो किसी फिल्म के हीरों को प्राप्त है। 'महेश कटारे' की कहानी 'इकाई-दहाई' का राम लखन एक सम्पन्न् किसान है, किन्तु वैश्वीकरण की चकाचौंध में वह भी फँसा हुआ है। वह बहुत कुछ पाकर ऐशो-आराम वाली जिन्दगी चाहता है और इसी कुंठा में

वह खोया-खोया सा रहता है। हालाकि एक सम्पन्न किसान की तरह उसके पास किसी चीज की कमी नहीं है। कहानी में लेखक दिखाते हैं –

> तीस एकड़ पर दो ट्यूबवेल ठुके हैं। द्वार पर ट्रेक्टर खड़ा है। पिता से विरासत में मिली दो नाली ग्रीनर बंदूक है जो राम लखन के जन्म की खुशहाली की साल आठ सौ में आई थी और आज अट्ठावन हजार की है। गो कि तब कारतूस चार आने में आता था और अब पिच्यानवे रूपय में मिलता है। कुल मिलाकर अन्य पिछड़ा वर्ग की विशिष्टता के साथ सम्मानजनक स्थान पाये हुए किसान हैं, राम लखन। (कटारे 131)

वह हिसाब लगाता है कि अगर उसके पास अरब रूपये हो गये तो उसके ब्याज से ही वह ऐश की जिन्दगी जी सकता है। उसे अब खेत, खलिहान, गोबर से चिढ़ हो जाती है। उसे बहुत कुछ चाहिए। लेखक लिखते हैं-

> राम लखन अगली पीढ़ी के लिए अपने पिता की भाँति सिर्फ हल-बैल, खेत-खलिहान छोड़कर नहीं मरना चाहता। उसे बहुत चाहिए।...सब कुछ बहुत। खेती बस पेट भरती है करोड़पति, अरबपति, खरबपति नहीं बना सकती । वे दूसरे तरीके है जिनसे लंबी छलांग लगती है। (कटारे 135)

राम लखन आज का किसान है जिसपर वैश्वीकरण की संस्कृति हावी है। इस संस्कृति की लहर हर वर्ग तक पहुँची है। आज सबके हाथों में मोबाईल है। सभी बहुत कुछ पाना चाहते हैं। राम लखन भी ब्रांड वाली चीजें खरीदना चाहता है। सुंदर दिखना चाहता है। वह अपनी पत्नी से कहता है-

> अरे पता लगाऐंगे कि सबसे अच्छी चीजें कहाँ मिलती है। कार खरीदना है...काम चलाने लायक अभी कोई भी उठा लेंगे, बाद में बढ़िया भी देखेंगे। फिलहाल के लिए कोठी भी तलाशनी है। कपड़े, कंगन, साबुन, तेल, क्रीम, पाउडर....जो भी तुम्हें लेना हो। (कटारे 138)

अंत में वह बड़ा बनने और पैसे की चिन्ता में इतना डूब जाता है कि लोग उसे पागल समझने लगते हैं। उसका दिमाग इकाई-दहाई के संग-संग घटता-बढ़ता है। वह कभी कार खरीदने की बात करता है तो कभी नई कोठी खरीदकर नई दुल्हन लाने की बात कहता है। सीधी सी बात यही है कि आज वैश्वीकरण की चकाचौंध वाली संस्कृति की छाप कुछ किसानों पर स्पष्ट देखी जा सकती है।

4.7. निष्कर्षः-

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि वैश्वीकरण के उपरान्त किसानों के जीवन में जिसप्रकार दबाही का भूचाल आया, 21वीं सदी के दूसरे दशक की कहानी में इसकी अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। इतिहास गवाह है कि जब-जब शोषण तंत्र मजबूत हुआ है, देश में किसानों ने आन्दोलन का रूख अपनाया है। अंग्रेजी शासन से लेकर स्वतंत्रता के बाद

तक का इतिहास किसान आन्दोलनों से भरा हुआ है। वैश्वीकरण के दौर में भी भारत में बड़े-बड़े किसान आन्दोलन हुए हैं। जहाँ अंग्रेजी शासन काल में किसान आन्दोलन मुख्यतः भू-सुधार नियम और भू-राजस्व के विरोध में हुआ, वहीं वैश्वीकरण के दौर में किसानों का शोषण, उपज का उचित दाम न मिलना, किसानों पर बढ़ता कर्ज, बीज एवं रासायनिक खादों का बढ़ता दाम आदि प्रमुख मुद्दे रहे हैं। अभी फिलहाल ही केन्द्र सरकार द्वारा लाए गए नए कृषि बिल के विरोध में पूरे देश के किसान आन्दोलनरत हुए थे । यह बड़े दुख की बात है कि जो किसान हमारा पेट भरता है, उसी किसान को अपने उपज का उचित दाम न मिलने पर वह कर्ज में डूबता जाता है और अन्ततः उसकी परिणति आत्महत्या पर जाकर रूकती है। पिछले 20 सालों में पूरे भारतवर्ष में लाखों किसानों ने आत्महत्याएँ की है। किसान आन्दोलनों का राजनीतिक सरोकार न होने के कारण हर बार किसानों की समस्याओं को नजरअंदाज कर दिया गया। किशन पटनायक का सही कहना है कि- ''राजनीतिक संदर्भ में वह सोच नहीं पाता है कि किसान देश का सबसे बड़ा समूह है और वह चाहेगा तो अपनी दृष्टि और अपने हितों के अनुसार पूरी व्यवस्था को परिवर्तित कर सकता है (पटनायक 84)।'' पंजाब हो, तमिलनाडू हो, कर्नाटक हो या महाराष्ट्र हर बार किसानों ने लोहा लिया है। इस बार भी कृषि बिल के विरोध में मुख्य भूमिका में पंजाब के किसान ही थे और उन्हें पूरे देश से समर्थन भी मिला।

जब भी किसानों ने आन्दोलन का रास्ता अपनाया है, इसे तोड़ने या कमजोर करने का प्रयास हमेशा सरकार और पूँजीपतियों द्वारा किया जाता रहा है। पहला तरीका आतंक का होता है। पुलिस द्वारा दमनात्मक कार्यवाही की जाती है, डंडे और आँसू गैस के गोले दागे जाते हैं। धड़-पकड़ होती है, इस पर भी आन्दोलन अगर बढ़ता है तो फिर दूसरा तरीका अपनाते हुए कुछ किसान नेताओं को खरीद लिया जाता है। इस पर भी बात नहीं बनने पर किसान के एक नये तबके को खुश करने का प्रयास किया जाता है। किसानों को भी कई कैटेगरी में बाँट कर आन्दोलन को कमजोर करने की कोशिश की जाती है। आज का समय तो और खतरनाक है। किसान आन्दोलन को राजनीतिक रंग दे दिया जाता है। एक पार्टी के मानने वाले किसान चाह कर भी अन्य किसानों का पक्ष नहीं ले पाता है। यहाँ तक कि मीडिया और बुद्धिजीवियों का वर्ग भी राजनीतिक खेमों में बँट जाता है। एक ओर सत्ता पक्ष का मजबूत वर्ग है तो दूसरी ओर साधारण किसान। जरूरत तो इस बात की है कि किसान के हितों के बारे में राजनीतिक रूप से न सोचकर मानवीय रूप में देखने की जरूरत है। कृषि का निजीकरण देश के लिए कितना फायदेमंद होगा यह तो समय ही बतायेगा।

संदर्भ ग्रंथ

1. शशिधर, रामाज्ञा. *किसान आन्दोलन की साहित्यिक जमीन.* अंतिका प्रकाशन, 2012.
2. सुनील, संपादित. *किसान आन्दोलनः दशा और दिशा.* राजकमल प्रकाशन, 2006.
3. गौरीनाथ. 'बीज-भोजी'. *बीज-भोजी* अंतिका प्रकाशन, 2017.
4. गौरीनाथ. 'पैमाइश'. *बीज-भोजी.* अंतिका प्रकाशन, 2017.
5. पथिक, चरण सिंह. 'सर्पदंश'. *मैं बीड़ी पीकर झूँठ नी बोलता.* कलमकार मंच, 2019.
6. पथिक, चरण सिंह. 'ठंडी गदूली'. *मैं बीड़ी पीकर झूँठ नी बोलता.* कलमकार मंच, 2019.
7. पथिक, चरण सिंह. 'वह अब भी नंगा है'. *मैं बीड़ी पीकर झूँठ नी बोलता.* कलमकार मंच, 2019.
8. कटारे, महेश. 'छछिया भर छाछ'. *देहात.* शिवना प्रकाशन, 2019.
9. कटारे, महेश. 'इकाई-दहाई'. *देहात.* शिवना प्रकाशन, 2019.
10. सिंह, राणा प्रताप. 'करजा के खातिर'. *करजा के खातिर.* अंतिका प्रकाशन, 2017.
11. सिंह, राणा प्रताप. 'आखिर कब तक'. *करजा के खातिर.* अंतिका प्रकाशन, 2017.
12. सिंह, राणा प्रताप. 'चउआई'. *करजा के खातिर.* अंतिका प्रकाशन, 2017.
13. बनवासी, कैलास. 'झूका हुआ गाँव'. *पीले कागज की उजली इबारत.* अंतिका प्रकाशन, 2008.
14. कुशवाहा, सुभाष चन्द्र. 'फांस'. *लाला हरपाल के जूते.* पेंगुइन बुक्स इंडिया, 2015.
15. कुशवाहा, सुभाष चन्द्र. 'यही सब चलेगा'. *लाला हरपाल के जूते.* पेंगुइन बुक्स इंडिया, 2015.
16. सांभरिया, रत्न कुमार. 'खेत'. *दलित समाज की कहानियाँ.* अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, 2014.

पत्रिकाएँ

1. कृत्यांश, ओमप्रकाश. 'प्रेतछाया'. *कथादेश,* मई-2012.
2. चावला, हरभगवान. 'मुआवजा'. *कथादेश,* मई-2012.
3. भागीरथ. *'और माँ बिक गई'. मधुमती,* मार्च-अप्रैल, 2012.
4. केवड़िया, शरद. 'भेड़िया'. *मधुमती,* मार्च-अप्रैल, 2012.

5. मांदले, पराग. 'जमीन से रिश्ता'. *कथादेश,* मई-2012.
6. सत्यकेतु, रण विजय सिंह. 'मंडी का महाजाल'. *लमही,* अप्रैल-जून, 2015.
7. मोहन, मदन. 'जहरीली रोशनियों के बीच'. *कथादेश,* मई-2012.
8. श्रीवास्तव, रमाकांत. 'हो सकता है'. *पहल,* अंक-105, नवम्बर-2016.
9. पांचाल, दिनेश. 'मरकणिया'. *वागर्थ,* मार्च- 2020.

पंचम अध्याय

वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में आदिवासी विमर्श की चिंता

पंचम अध्याय

वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में आदिवासी विमर्श की चिंता

भूमिकाः

आदिवासी समाज को हर युग में अत्याचार और शोषण का शिकार होना पड़ा है। आर्यों के आगमन से लेकर अंग्रेजों के आने तक ही नहीं, भारत की आजादी के बाद भी ये शोषण के शिकार होते आए हैं। असमानता, लैंगिक भेदभाव, नस्लीय और धार्मिक उत्पीड़न एवं जनसंहार, आदिवासी समाज को जितना झेलना पड़ा है, उतना आज तक के इतिहास में किसी समाज को नहीं झेलना पड़ा। इस अध्याय में वैश्वीकरण के कारण आदिवासी समाज में आए परिवर्तन उनकी चुनौतियों के साथ ही साथ हिन्दी कहानियों में आदिवासी जीवन की दास्ताँ की अभिव्यक्ति किस रूप में हुई है, इसे देखने की कोशिश की गई है।

5.1. आदिवासी कौन?

आदिवासी शब्द के नामकरण पर ध्यान दे तो यह शब्द आदि और वासी के योग से बना है जिसका अर्थ है- मूल निवासी। किन्तु आज के इस 21वीं सदी के दौर में आदिवासी समाज की सभ्यता, संस्कृति, पहचान एवं अस्मिता को मिटाने की साजिश योजनाबद्ध तरीके से हो रही है। ये आदिवासी आखिर है कौन? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए डॉ. विनायक तुमराम कहते हैं-

> आदिवासी, प्रकृति पर निर्भर रहने वाला मानव समूह है। वह, जिस पर्यावरण में रहता है, उसके परिवर्तन का प्रभाव थोड़ी – बहुत मात्रा में उसकी आन्तरिक संरचना पर है। जंगलों के पशु-पक्षी, फल-फूल, नदी-सरोवर का चिर- सान्निध्य उसे प्राप्त हुआ है। गिरि कुहरों और वन-जंगलों में उसका स्वत्व, मुक्त होकर खिला है। (तुमराम 25)

इसके नामकरण में आदिवासी के स्थान पर वनवासी कहा जाना भी साजिश का एक हथियार है ताकि आदिवासी यह भूल जाए कि वह मूल निवासी है। रमणिका गुप्ता अपनी पुस्तक 'आदिवासी कौन?' के सम्पादकीय में लिखती है-

> आदिवासी यानी मूल निवासी यानी भारत का मूल बाशिन्दा यानी इस धरती का पुत्र, धरती और प्रकृति के विकास के साथ ही पैदा हुआ, पनपा, बढ़ा और जवान हुआ। वह प्रकृति का सहयात्री और सहजीवी, सहनशीलता की सीमा तक सहन करने की कुव्वत रखता है पर अन्याय के विरोध में डटकर खड़ा भी हो जाता है। (गुप्ता 5)

जरूरत तो इस बात की है कि आदिवासी को आदिवासी नाम से ही पुकारा जाय। इन्हें वनजीवी कहकर वनों से अधिकार छीन कर इसके अस्तित्व को मिटाने की साजिश का

भंडाफोड़ करना जरूरी हो गया है। चाल यही है कि आदिवासी जो मूल निवासी है, वह मूल निवासी न कहलाए और आर्य जो बाहर से आए वहीं अपने को इस मूल्क का मूल निवासी साबित कर सके। अतः आदिवासी को अनुसूचित जाति न कहकर आदिवासी के नाम से ही पुकारा जाना चाहिए। रत्नाकर भेंगरा और सी. आर. बिजोय जोर देकर कहते हैं- ''आदिवासी शब्द आदिवासी की भावनाओं के अनुरूप है। उन्हें अनुसूचित जनजाति कहने का एक ही अर्थ है- उन्हें समाप्त करना। अभी तक उन्हें गिरिजन, वनवासी, दास, दस्यु तथा जंगली आदि कहा जाता रहा है (बिजोय 36)।'' आदिवासी आर्य नहीं है, किन्तु आजकल आर्यों के देवी देवता पूजने के कारण लोग इसे हिन्दू संस्कृति के अंदर रखने की साजिश रच रहे हैं, किन्तु आदिवासी आर्येतर है। डॉ. रामदयाल मुंडा 'आदिवासी कौन?' पुस्तक में अपने निबंध 'भारतीय संस्कृति को आदिवासियों की देन' में आदिवासी शब्द को व्याख्यायित करते हुए लिखते हैं-

> इस निबंध में आदिवासी से हमारा तात्पर्य उन आर्येतर जातियों से है, जिन्हें संस्कृत साहित्य में असुर, निषाद, दस्यु, वानर और राक्षस प्रभृत नामों से सम्बोधित किया गया है। आधुनिक भारत में मोटे तौर पर द्रविड़ और मुंडा भाषा-भाषी जनजातियों को हम इसके अंतर्गत रख सकते हैं। (मुंडा 92)

यह वह जाति है जिसे हर युग में छला गया है। जंगलों पर प्रकृति की गोद में, प्रकृति पर निर्भर इस जाति पर कई जुल्म ढाये गये, फिर भी अपने अस्तित्व को बचाते हुए यह जाति पीढ़ी दर पीढ़ी अपनी संस्कृति को बचाकर जीवित रहते आये हैं। इस संदर्भ में विनायक तुमराम 'आदिवासी कौन?' पुस्तक में ठीक ही कहते हैं-

> आज आदिवासी शब्द के उच्चारण से ही हमारे सम्मुख खड़ा हो जाता है- प्रत्येक सदी से छला-सताया, नंगा किया और सोची समझी साजिश के तहत वन-जंगलों में जबरन भगाया जाता रहा एक असंगठित मनुष्य। वह मनुष्य, जो अपनी स्वतंत्र परम्परा सहित, सहस्र सालों से गाँवों-देहातों से दूर घने जंगलों में रहने वाला संदर्भहीन मनुष्य है- जो एक विशेष पर्यावरण में अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों की जान की कीमत पर सँजोये, प्रकृतिनिष्ठ, प्रकृति-निर्भर, कमर पर बित्ते भर चिन्दी लपेटे, पीठ पर आयुध लेकर, भक्ष्य की खोज में शिकारी बना, मारा-मारा भटक रहा है। (तुमराम 26)

अतः आदिवासी वह जमात है जिसकी पहचान को मिटाने का प्रयास योजनाबद्ध तरीके से किया जा रहा है। भारतीय संविधान में भी इन्हें आदिवासी न कहकर अनुसूचित जनजाति कहा गया है। इसकी पहचान छीनकर इसे वनवासी घोषित कर उसके मूल निवासी की बात को मिटा देना चाहता है। विविध भाषाओं में इसे एक विशेष पर्यावरण में रहने वाला, समान जीवन-शैली अपनाने वाला, समान सांस्कृतिक पहचान वाला मानव समूह है।

5.2. आदिवासी विमर्शः

आदिवासी विमर्श भारत के मूल निवासी के अस्तित्व और अधिकारों की रक्षा का विमर्श है। यह उस जाति का विमर्श है जिसका इतिहास सबसे पुराना है, जिसे आर्यों ने हजारों वर्षों तक छला है। जिसके जंगलों पर अधिकार कर उसे मूल निवास से खदेड़ा गया है। यह उस जाति के अस्मिता का विमर्श है जिसे आज भी विस्थापित होकर जीवन जीना पड़ रहा है। आदिवासी विमर्श को समझने के लिए आदिवासी दर्शन और साहित्य से परिचित होना आवश्यक है। 'हिस्ट्री ऑफ फिलोसफी' में कहा गया है कि दर्शन विश्व तथा जीवन को उनकी समग्रता में समझने का एक प्रयास है। इसी मूल बिन्दू को समझने के लिए भारतीय दर्शन अध्यात्म की ओर देखता है तो पाश्चात्य दर्शन विज्ञान की ओर। जब हम आदिवासी दर्शन की बात करते हैं तो हम पाते हैं कि आदिवासी दर्शन प्रकृतिवादी है। उसके दर्शन में सजीव, निर्जीव, छोटा, बड़ा, सब एक समान है। यह समतावादी दर्शन है। यहाँ न तो लैंगिक भेद है न नस्लीय। यहाँ न कोई स्वामी है न दास। यहाँ प्रकृति ही सर्वोच्च सत्ता है। वंदना टेटे कहती है- ''सृष्टि सर्वोच्च नियामक सत्ता है। सम्पूर्ण सजीव और निर्जीव जगत तथा प्रकृति सबका अस्तित्व एक समान है। मनुष्य का धरती, प्रकृति और सृष्टि के साथ सहजीवी संबंध है। (टेटे 16)।'' इन आदिवासियों के जीवन में चित्रकला, संगीतकला, कढ़ाई, नृत्य, गायन आदि कलाओं की भरमार है। इनका अपना लोक साहित्य है। लोक कथा, लोक गीत एवं लोकोक्ति की भरमार है। इन्हें आदिवासियों ने मौखिक परम्परा के अंतर्गत हजारों वर्षों से बचाकर रखा है। इनकी लोकभाषा, उसकी शब्द-सम्पत्ति, उनका अर्थ वैभव ही आदिवासी साहित्य की शक्ति है। इसे लक्ष्य कर सत्येन्द्र सिंह लिखते हैं- ''आज आदिवासी विमर्श का एक अहम मुद्दा है- आदिवासी संस्कृति के प्रति जागरूकता पैदा करना साथ ही उनके इतिहास की पुनः नए सिरे से खोज करना (सिंह 13)।'' इन सब पर जब-जब बाहरी आक्रमण हुआ है, आदिवासियों ने विरोध किया। कुछ आदिम जनजातियों ने आत्मसम्मान के लिए लड़ाई लड़ी तो कुछ ने अपनी संस्कृति को विदेशी आक्रमण से बचाने के लिए। आज आदिवासी अपने ऊपर होने वाले शोषण एवं विषमता के विरूद्ध आवाज उठा रहे हैं। अपने जल,जंगल और जमीन को बचाने के लिए आवाज उठा रहे हैं। अतः आदिवासी विमर्श आदिवासियों के हक की आवाज का विमर्श है। अपनी सभ्यता और संस्कृति को बचाने का विमर्श है। आदिवासी सभ्यता और संस्कृति पर जोर देते हुए रमणिका गुप्ता लिखती है- ''इसलिए इस समय जरूरत है कि आदिवासी समाज में उसका प्रबुद्ध वर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग, साहित्यकार और समृद्ध वर्ग अपने समाज को एकीकृत करके अपनी अस्मिता, अपने नाम और अपनी संस्कृति को बचाए (गुप्ता 7)।'' हर वर्ग के साहित्यकार को इसके लिए आगे आने की जरूरत है।

5.3. आदिवासी साहित्यः

आदिवासी साहित्य आदिवासी समाज पर आधारित वह साहित्य है जो आदिवासी समाज के इतिहास एवं शोषण की दास्ताँ को, आदिवासी दर्शन के अनुरूप अभिव्यक्त करता है। आदिवासी साहित्य को कहीं नेटिव अमेरिकन लिटरेचर तो कहीं कलर्ड लिटरेचर, स्लेव लिटरेचर, ब्लैक लिटरेचर, एबोरिजिनल लिटरेचर या ट्राइबल लिटरेचर आदि नामों से नस्लीय भेद के आधार पर जाना जाता है। आदिवासी साहित्य पर विचार करने पर तीन तरह के मतों का सामना करना पड़ता है – 1. आदिवासियों पर लिखा साहित्य आदिवासी साहित्य है। 2. आदिवासियों द्वारा लिखा गया साहित्य आदिवासी साहित्य है। 3. आदिवासी दर्शन के तत्व वाला साहित्य आदिवासी साहित्य है। इन अवधारणाओं पर एकमत होना आसान बात नहीं है। जहाँ रमणिका गुप्ता, संजीव, बजरंग तिवारी आदि गैर आदिवासी द्वारा लिखित उत्कृष्ट साहित्य उपलब्ध है, वहीं स्वानुभूतिपूर्ण आदिवासी लेखकों द्वारा लिखा गया साहित्य भी बेजोड़ हैं। वहीं कुछ लेखक ऐसे भी है जो आदिवासी दर्शन को आधार बनाकर साहित्य रचना कर रहे हैं। अतः कुमार कमलेश के शब्दों में कहें तो ''आदिवासी साहित्य सिर्फ किसी व्यक्ति विशेष की रचना ही नहीं, अपितु आदिवासियों के सामाजिक और सामुदायिक अनुभवजनित साहित्य है (कमलेश 104)।'' यह भारत के हर दिशा में फैले कई जनजातियों और उसकी अपनी बोली में रचित या वाचिक साहित्य है। यह अलग बात है कि आज हिन्दी में गैर आदिवासियों द्वारा आदिवासियों के बारे में रचित साहित्य को भी आदिवासी साहित्य के अंतर्गत स्थान देने लगे हैं। उनकी अपनी बोली में रचित साहित्य के हिन्दी अनुवाद को भी आदिवासी साहित्य की श्रेणी में रखने लगे हैं।

आज आदिवासी साहित्य लगभग 90 भाषाओं में लिखा जा रहा है। इससे आदिवासी संस्कृति के साथ ही साथ हिन्दी भी समृद्ध हुई है। आज आदिवासी अपनी समस्याओं को हिन्दी भाषा में भी अभिव्यक्त कर रहा है। इनका साहित्य इनके जीवन का साहित्य है। रमणिका गुप्ता लिखती है-

> आदिवासी साहित्य जीवन का साहित्य है। वह प्रकृति का सहयोगी-सहअस्तित्व का अभ्यस्त, ऊँच-नीच, भेदभाव व छल-कपट से दूर है। वह जमाखोरी या सम्पत्ति जुटाने की भावना से मुक्त है। वह अन्याय का विरोधी और सामाजिक न्याय का पक्षधर है। उसके साहित्य में इन्हीं सबकी अभिव्यक्ति है। जीवन की समस्याएँ और प्रकृति से लगाव उसके साहित्य का आधार है। (गुप्ता 5)

आज आदिवासियों की भाषा और संस्कृति पर हमला कर उसे असभ्य और जंगली साबित करने की कोशिश की जा रही है। उसकी भाषाएँ मिटती जा रही है और यह सब योजनाबद्ध तरीके से हो रहा है, क्योंकि मुख्यधारा को यह पता है कि ''आदिमों की लोकभाषा, उसकी शब्द-सम्पत्ति और अर्थ-वैभव, आदिवासी- साहित्य के शक्ति श्रोत है (तुमराम 29)।'' आज अगर कोई अपनी मातृभाषा से अलग है तो वह आदिवासी समाज ही है। उसे अपनी भाषा में न तो शिक्षा ही मिल रही है और न उसकी भाषा को कोई पहचान

ही मिल पा रही है। आधुनिक सभ्यता का विकास होते ही प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर आदिवासियों की भाषा पर संकट के बादल मँडराने लगा। 21वीं सदी तक अनेक आदिवासी भाषाएँ खत्म हो गई। पिछली कई सदी से आदिवासी पहचान, इतिहास, जीवन-दर्शन, संस्कृति, भाषा पर हो रहे हमले को झेल रहा है। आठ्वी अनुसूचि में शामिल होने के बावजूद संथाली और बोड़ो भाषाओं का एक भी विभाग किसी भी विश्वविद्यालय में आज तक नहीं खुला। अर्थात् राजनीतिक दृष्टिकोण से अधिकार मिलने के बावजूद सामाजिक स्तर पर वह आज भी संकट ग्रस्त ही है। ऐसी परिस्थितियों का ही विरोध करते हुए वाहरू सोनवणे कहते हैं-

> पढ़ा-लिखा आदिवासी, साहित्य में नायक की अपनी भूमिका खोजने लगा है। साहित्य में आदिवासियों का जो प्रतिबिम्ब उभरा है, क्या वह आदिवासियों के साथ न्याय करता है। इसप्रकार की दृष्टि रखे हुए नई पीढ़ी का पढ़ा-लिखा आदिवासी नौजवान अपनी अस्मिता खोजते हुए अपने हाथ में लेखनी लेकर खुद ही लिखने लगा है और अपने दर्द और विद्रोह को लिपिबद्ध कर रहा है। (सोनवणे 23)

अतः आदिवासी विमर्श के अंतर्गत जिस आदिवासी अस्मिता की लड़ाई को हम उसके साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त पाते हैं, वास्तव में आदिवासी अस्मिता का यह आन्दोलन अंग्रेजी काल में ही शुरू हो चुका था। इतिहास में कई विद्रोह आदिवासी के नाम से दर्ज है। इसलिए रमणिका गुप्ता आदिवासी लेखन के संबंध में ठीक ही कहती है– ''आदिवासी लेखन, जीवन का लेखन है, कल्पना और मनोरंजन का किस्सा नहीं। उनकी कलम बिरसा के ऊलगुलान पर, झारखंड के जंगलों में अंग्रेजों के खिलाफ हुए संथाल कोल विद्रोह पर, सिद्धुकानू को दी गई फाँसी पर सतत् चल रही है (गुप्ता 7)।'' इनके साहित्य लेखन के पीछे इनके लोक साहित्य की समृद्ध परम्परा है। पाँच हजार वर्षों का वृहद इतिहास है। लोक गीतों और लोक कथाओं की महान परम्परा है। रमणिका गुप्ता आगे कहती हैं- ''पाँच हजार वर्षों का विशद इतिहास है उनके पास। लोकगीतों-लोककथाओं-लिजिन्द्रियों-वीरगाथाओं-पर्वों-त्योहोरों के गीतों और अनुष्ठानों की महान परम्परा है, जिसमें उनकी ही नहीं बल्कि पृथ्वी का इतिहास भी छिपा है (गुप्ता 7)।''

नई सदी में आदिवासी चेतना कलम की शक्ति से परिचित हो चुका है। नये-नये विचारों और क्रांतियों से परिचित हो चुका है। उसमें अब भेदभाव एवं अन्याय बोध जग चुका है और यह सब आदिवासी साहित्य में अभिव्यक्त हो रहा है। लोक गीत, लोग गाथा, वीर गाथा, पर्व और त्योहारों का गीत ही नहीं, हर संघर्ष के इतिहास का भंडार निहित है। आदिवासी साहित्य का सपना अन्य साहित्य की तरह नहीं है। इस साहित्य का उद्देश्य और मूल शक्ति कुछ और ही है। यह जीवनवादी साहित्य है। हजारों बोलियों में किसी भी जनजाति द्वारा लिखा गया साहित्य इसकी सीमा में आता है। इस साहित्य का मूल्यांकन पारम्परिक साहित्यिक प्रतिमानों के आधार पर नहीं किया जा सकता है। डॉ. विनायक तुमराम कहते हैं- ''इस साहित्य का सपना है कि आदिम समूहों में वर्ग रहित, जाति रहित

समाज व्यवस्था रची जाए, जो जीवनमूल्य आदिवासियों के थे ही नहीं, ये साहित्य उसे कभी नहीं स्वीकारेगा (तुमराम 25)।'' अतः आदिवासी विमर्श के अंतर्गत अब आदिवासी लेखक अपने प्रति बरती गई उपेक्षा के खिलाफ लिख रहे हैं। आज भी पूर्वोत्तर राज्यों के लोग जब भारत के अन्य प्रांतों में शिक्षा या काम की तलाश में जाते हैं तो उन्हें बर्मी या चीनी समझा जाता है। अपने ही देश में उन्हें बाहरी होने का तगमा दिया जाता है। लोग उन्हें शक की निगाह से देखते हैं और उन पर फब्तियाँ कसते हैं। इन आरोपों के लिए आज आदिवासी लेखक अपने साहित्य में आदिवासी पहचान ढूँढ़ रहे हैं। पूर्वोत्तर का साहित्य का आधार ही इस पहचान की लड़ाई का रहा है। आज नव शिक्षित आदिवासी युवक के मन में अपने ऊपर हुए शोषण के खिलाफ दुख और आक्रोश है। आदिवासी साहित्य मंच की मदद से ये सारे आदिवासी युवक इकट्ठे हो पा रहे हैं और अपनी आवाज बुलन्द कर पा रहे हैं। इस ओर दृष्ट डालते हुए विनायक तुमराम कहते हैं-

> आर्यों के आक्रमण से वन-जंगलों में पलायन को मजबूर और अत्यधिक भय से पीड़ित आदिम समूह के जीवन की चिरवेदना, नई पीढ़ी के आदिवासी युवकों के संवेदनशील मन को घायल कर रही है। जिस समाज में हम पैदा हुए, बड़े हुए, पढ़-लिखकर आगे बढ़े, उस समाज के हिस्से में आई, इस दुरावस्था को देखकर यह पीढ़ी दुखी है, बेचैन है। (तुमराम 22)

नई पीढ़ी की बेचैनी का यह आलम है कि भारतवर्ष के हर कोने से आदिवासी लेखक अब अपनी संवेदना को व्यक्त करने लगे हैं। विभिन्न साहित्य सम्मेलनों में वे अपनी उपस्थिति दर्ज करने लगे हैं। वे यह बता देना चाहते हैं कि अब वे चेतनशील हो चुके हैं।

5.4. जल, जंगल, जमीन और विस्थापनः

आदिवासी समाज भारतवर्ष का मूल निवासी रहा है। जल, जंगल और जमीन ही उनका एकमात्र सहारा रहा है। प्राचीन काल से ही उपजाऊ जमीन और जंगल की तलाश में उनकी कबिलाई जिन्दगी विस्थापित होती रही है, किन्तु अब विस्थापन उनकी मर्जी से न होकर जबरन हो रहा है। विकास के नाम पर जितने अधिक परियोजनाओं का कार्यान्वयन हो रहा है, आदिवासी अपने प्राकृतिक संसाधनों, अपने गाँव, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति से विस्थापित हो रहे हैं। रमणिका गुप्ता लिखती है- ''इस विस्थापन में सरकारी हस्तक्षेप व नीतियों के साथ-साथ, तथाकथित मुख्यधारा के समाज द्वारा उनके संसाधनों पर कब्जा करके उन्हें बेदखल कर देना भी उनके विस्थापन एवं पलायन का मुख्य कारण रहा है (गुप्ता 7)।'' भारत की आजादी के बाद जिसप्रकार उद्योगों के विकास के लिए योजनाएँ बनी, सिंचाई, ऊर्जा, खनीज, भारी उद्योगों में जो प्रगति आई इसकी कीमत आदिवासियों को अपनी जमीन से विस्थापित होकर चुकानी पड़ी है। इन विकासों में मनुष्य के मूलभूत अधिकारों तक की प्रवाह नहीं की गई। विकास आवश्यक है, किन्तु विकास में संतुलन भी होना चाहिए। विकास से विस्थापित हुए आदिवासियों के पुनर्निवास की वैसी व्यवस्था नहीं की गई जैसी होनी चाहिए थी। इस अंधाधूँध विकास को ही लक्ष्य

कर रमणिका गुप्ता लिखती है- ''राष्ट्रहीत के नाम पर बेशुमार लोगों की जमीनें अधिग्रहीत कर उन्हें न केवल विस्थापित किया गया बल्कि उनके संदर्भ में, संविधान में प्रदत्त मूलभूत अधिकारों का भी उल्लंघन किया गया (गुप्ता 7)।'' आदिवासी विमर्श आदिवासियों के अपने इसी संविधान प्रदत्त अधिकारों को पाने का विमर्श है।

वैश्वीकरण के बाद सन् 1998 में सरकार द्वारा भूमि अधिग्रहण संशोधन विधेयक, फारेस्ट बिल आदि लाया गया ताकि आदिवासियों की जमीन को आसानी से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को दिया जा सके। हर वह कानून जिससे आदिवासियों के भूमि अधिग्रहण में समस्या होती थी उसे संशोधित कर दिया गया। उदारीकरण की नीति के कारण सरकार को बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए सस्ते दामों में जमीन मुहैया कराना आवश्यक था, अतः आदिवासियों के जंगल और जमीन पर ही उनकी नजर सबसे पहले गई। सरकार द्वारा यह आश्वासन दिया गया था कि जमीन अधिग्रहण के बदले हर परिवार को नौकरी दिया जाएगा, किन्तु इस प्रावधान पर कोई विचार नहीं किया गया। रमणिका गुप्ता लिखती है-

> सरकार की इस नीति के कारण 1951 और 1995 की अवधि में झारखंड में 50 हजार एकड़ भूमि पर 15 लाख लोग विस्थापित हुए है, जिनमें 41.27 प्रतिशत आदिवासी है। ये बात ध्यान देने योग्य है कि रक्षा परियोजनाओं में विस्थापित हुए आदिवासियों की संख्या 89.7 प्रतिशत है और मार्के की बात यह है कि इन परियोजनाओं में विस्थापितों को नौकरी देने का कोई प्रावधान नहीं है। (गुप्ता 8)

सरकार और पूंजीपतियों को जब से यह पता लगा है कि आदिवासी जिस जंगल और जमीन पर रहते हैं उसके गर्भ में खनिज संपदा की भरमार है, उन जंगलों का दोहन शुरू कर दिया गया। इसके लिए विभिन्न कानून बनाकर या जबरन आदिवासियों को जंगलों से खदेड़ा जाने लगा। आदिवासियों के जीवन का आधार जंगल है, किन्तु कई कानून द्वारा उनके जंगल जाने पर रोक लगा दिया गया। नेशनल पार्क और सेंक्चुरी के नाम पर अब आदिवासियों के जंगल में घूसने पर जेल जाने का प्रावधान है। वे अपनी जीविका के मुख्य साधन से वंचित हो गए। उनके लिए जीवन यापन करना दुभर हो गया। सरकार और पूँजीपतियों के मिलीभगत ने जंगल का व्यवसायीकरण कर जंगल को मुनाफे की वस्तु बना दिया। रमणिका गुप्ता कहती है- ''अपने ही देश की सरकार द्वारा जंगल वासियों को उसके परम्परागत वन-अधिकारों से लगातार वंचित ही नहीं किया जाता रहा बल्कि जंगल का व्यवसायीकरण होने के कारण, उनके जंगलों को बर्बरतापूर्वक उजाड़ा भी जाने लगा था (गुप्ता 10)।'' जंगल और जमीन पर सरकार और पूँजीपतियों के अधिकार होने पर आदिवासियों को मजदूरी के लिए देश के कई शहरों में पलायन करना पड़ा। वे जहाँ भी गए, वहीं बस गये। झारखंड, बस्तर, बिहार के आदिवासियों को टाटा कम्पनी के कारण विस्थापित होकर बंगाल, असम, कर्नाटक, अंडमान-निकोबार, पंजाब आदि प्रांतों में मजदूरी के लिए जाना पड़ा। सत्येन्द्र सिंह बताते हैं-

> सन् 1991-95 के दौरान सिर्फ झारखंड में 50 हजार एकड़ जमीनों के अधिग्रहण के कारण 15 लाख लोगों को विस्थापित होना पड़ा। इन विस्थापितों में 41.27 प्रतिशत आदिवासी थे। रक्षा परियोजनाओं के कारण विस्थापित हुए लोगों में आदिवासियों की संख्या 89.7 प्रतिशत है। इसी तरह जल संसाधन परियोजनाओं के कारण विस्थापित हुए आदिवासियों की संख्या 75. 2 प्रतिशत है। (सिंह 27)

आदिवासियों के उपर्युक्त आंकड़ों पर दृष्टि डाले तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किस तरह जमीनों के अधिग्रहण के कारण आदिवासियों को विस्थापित होना पड़ रहा है और उन्हें दूसरे शहरों में जाकर मजदूरी के लिए विवश होना पड़ रहा है। उन शहरों में जाकर वहाँ के चाय बगानों, पत्थर खादानों, ईट-भट्टी आदि में ये आदिवासी बंधुआ मजदूर बनकर काम कर रहे हैं। जहाँ इनके नाम की न तो जमीन ही है न इनके अपने कुछ अधिकार। पूरे देश में आज सबसे सस्ते मजदूर आदिवासी ही है। रमणिका गुप्ता इसपर प्रकाश डालते हुए लिखती है-

> आदिवासी और जनजातीय लोग, जिनकी आबादी सात करोड़ से ऊपर है, क्रूर पूँजीवादी और अर्द्ध सामंती शोषण के शिकार है। जमीनें उनके हाथ से निकल गई है, जंगल के अधिकार छीन गए है और वे ठेकेदारों तथा भू-स्वामियों के लिए सस्ती और बंधुआ मजदूरी के श्रोत बनकर रह गए है। (गुप्ता 16)

जिन जंगलों पर आदिवासी हजारों सालों से रहते आ रहे हैं, अब उनसे जमीनी अधिकार के नाम पर जमीन के कागजात माँगे जा रहे हैं। कागजात न दे पाने पर जबरन उन्हें जमीन से बेदखल किया जा रहा है। गाँव के गाँव उजाड़ दिए जाते हैं। जंगल और जानवरों के बचाने के नाम पर लगभग 75 राष्ट्रीय पार्कों और 421 वन्य जीव अभरण्य के निर्माण के कारण लाखों आदिवासियों को अपनी ही जमीन से विस्थापित होना पड़ा है। इस समस्या पर प्रकाश डालते हुए वाहरू सोनवणे 'आदिवासी कौन' पुस्तक में लिखते हैं-

> सरकार और ठेकेदारों द्वारा जंगल नष्ट किए जाने के कारण जंगलों, घाटियों में रहने वाले आदिवासियों का जीवन विश्रृंखलित हो चुका है। फल-फूल हैं नहीं, औषधियाँ भी नहीं। कंद नहीं, मूल नहीं, शिकार नहीं, जीवन का आधार नष्ट होने के कारण आदिवासियों को गाँव छोड़कर शहर की ओर दौड़ लगानी पड़ रही है। (सोनवणे 19)

यह सच है कि आदिवासियों का जीवन जंगल के कंद मूल, फल, औषधियों और जानवरों के शिकार पर ही निर्भर है और अब उनके जंगल में प्रवेश पर ही रोक लगा दी गई है। एक प्रकार से योजनाबद्ध तरीके से आदिवासियों को उखाड़ फेंकने की कोशिश की जा रही है। न जंगल पर उनका अधिकार रहेगा, न ये जीवित रहेंगे। यही कारण है कि उन्हें विस्थापित जीवन जीने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। मैथ्यू अरीपरमपिल अपने आलेख में जो 'आदिवासी कौन?' पुस्तक में संकलित है, लिखते हैं- ''विधि के दांव-पेंच से जंगल पर राज्य एकाधिकार की निरंतर वृद्धि कर, वनों का अधिकांश क्षेत्र रिजर्व बना दिया गया और सदा

से बसे सैकड़ों आदिवासी गाँव कानून के नाम पर उखाड़कर फेंक दिए गए। (अरिपरमपिल 102)।'' ये भोले आदिवासी कानूनी दांव-पेंच क्या जाने? अतः उन्हे सरकारी आदेश के अनुसार झूकना पड़ता है। दूसरी ओर सरकार द्वारा जल विद्युत के उत्पादन के लिए बड़े-बड़े बाँधों के निर्माण के कारण आदिवासियों का पूरा का पूरा गाँव जलमग्न हो जाता है और मजबूरन उन्हें अपना गाँव छोड़ना पड़ता है। सरदार सरोवर, कोएल कारो बाँध, नर्मदा घाटी विकास प्राधिकरण आदि के कारण लाखों आदिवासी विस्थापित हुए। कोयला खादानों में विशेषतः मशीनीकृत ओपन कास्ट खनन प्रणाली के चलते कई खेत उजड़ गए, जंगल कट गए। इस ओर दृष्टि डालते हुए रत्नाकर भेंगरा और सी. आर. विजोय लिखते हैं-

> भारत की 90 प्रतिशत कोयला खानें, 72 प्रतिशत वन और अन्य प्राकृतिक संसाधन और 80 प्रतिशत अन्य खनिज पदार्थ आदिवासी भूमि पर पाये जाते हैं। 3000 से भी ज्यादा जल विद्युत बाँध भी इन्हीं के क्षेत्र में बनाये गए है। इसलिए स्पष्ट है कि भारतीय औद्योगिकीकरण और शहरीकरण के मूल संसाधन मुख्यतया आदिवासी क्षेत्र से ही आते हैं। (बिजोय 35)

इन विस्थापित आदिवासियों को अन्ततः पूँजीपतियों द्वारा स्थापित इन्हीं कारखानों या खननों में मजदूरी का काम करना पड़ता है। जंगल का स्वामी उसी जंगल में गुलाम बन जाता है। विकास की गति ने आदिवासियों के जीवन की गति मोड़ दी और आज इन्हीं आदिवासी को जंगली, गवाँर का विशेषण लगाकर उन्हें हाशिए में ढकेल दिया जाता है। मैथ्यू अरीपरमपिल इनकी दशा पर विचार करते हुए दिखाते हैं-

> आदिवासियों की, जो अब तक अभाव ग्रस्तता की हद से भी गिर चुके थे, सस्ता मजदूर का रोल ग्रहण करना पड़ा। जिस जंगल के वे स्वामी थे, उसी जंगल में अपनी ही जमीन पर रेज़ा और कुली बनकर खटने पर मजबूर होना पड़ा। (अरिपरमपिल 104)

अतः विकास के नाम पर एक प्रकार से अंधाधूँध विकास हुआ। विकास के साथ-साथ एक वर्ग के हितों की हमेशा अनदेखा की गई। सरकार और पूँजीपतियों की मिलीभगत ने विकास के नाम पर आदिवासी समुदाय से उसका सब कुछ छीन लिया। हम जानते हैं कि विकास समय की माँग है, किन्तु विकास की दिशा किसी जाति के अस्तित्व के विनाश पर खड़ा नहीं होना चाहिए। औद्योगीकरण और विकासशील परियोजनाओं के कारण करोड़ों आदिवासी विस्थापित हो गए और उन्हें किसप्रकार अन्य शहरों में जाकर मजदूर की जिन्दगी बितानी पड़ रही है, यह किसी से छिपी बात नहीं है। हम अपने पश्चिम बंगाल में ही लाखों आदिवासी मजदूरों को चाय बगानों में बहुत ही कम पैसे में खटते देख रहे हैं। विकास की एकपक्षीय नीति ने आदिवासियों के साथ अन्याय किया है। सत्येन्द्र सिंह सच कहते हैं-

> दरअसल विकास सर्वजन हिताय और सर्वजन सुखाय होना चाहिए था, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। विकास अवश्य हुआ, लेकिन कतिपय पूँजीपतियों और मलाईदार तबकों

> का, वह भी असंख्य सर्वहारा वर्ग के विनाश की कीमत पर, दुर्भाग्य से विकास रूपी इस सरकारी विनाश लीला के भुक्तभोगी अधिकांश आदिवासी ही थे। (सिंह 26)

विकास से उत्पन्न आदिवासी विस्थापन का दंश वर्षों से झेलता आ रहा है, किन्तु आज का आदिवासी नव युवा वर्ग इसी अत्याचार के खिलाफ़ आवाज़ उठा रहा है। साहित्य के माध्यम से अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ रहा है। यही आदिवासी विमर्श का ध्येय है।

5.5. 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में आदिवासी चिंतनः

यूँ तो आदिवासी चिंतन को लेकर गैर-आदिवासी लेखकों द्वारा बहुल साहित्य लिखा गया है, किन्तु जब मूल आदिवासी लेखकों द्वारा लिखित आदिवासी साहित्य की बात होती है, तो हिन्दी साहित्य में बहुत कम लेखक उभर कर आये हैं। आदिवासी साहित्य एक बोली का साहित्य न होने के कारण बिखरा हुआ साहित्य है। जिन साहित्यों का अनुवाद हिन्दी में हो पाया है, या फिर हिन्दी में मूल रूप से लिखने वाले लेखक ही इस दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। आदिवासी साहित्य के नाम पर पत्रिकाओं में विशेषांक भी निकले हैं, जिनमें गैर – आदिवासी लेखकों की ही भरमार है। इन साहित्यों का मूल्य हम नकार नहीं सकते हैं। पर गैर –आदिवासी लेखकों की मूल दृष्टि में अंतर अवश्य रहता है। इसीलिए 'वंदना टेटे' कहती है- ''मूल रूप से आदिवासी साहित्य वही है जो आदिवासी भाषाओं में लिखा जा रहा है और निर्विवाद रूप से मूल आदिवासी भाषाओं के लेखक ही इसके प्रथम लेखक रहेंगे (टेटे 5)।'' अगर आदिवासी लेखकों की बात करें तो लेखकों की पीढ़ी को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम पीढ़ी के अंतर्गत प्यारा केरकेट्टा, एलिस एक्का, रघुनाथ मुर्मू, लको बोदरा, बलदेव मुंडा, आयता उराँव आदि का नाम लिया जा सकता है। ये लेखक मूल रूप से हिन्दी में न लिखकर अपनी – अपनी आदिवासी भाषाओं में लेखन करते थे। दूसरी पीढ़ी में तेमसुला आओ, रोज केरकेट्टा, रामदयाल मुंडा, वाल्टर भेंगरा, पीटर पौल एक्का, कृष्ण चंद्र टुडू, शिशिर टुडू, मंगल सिंह मुंडा आदि प्रमुख कहानीकार है। वहीं तीसरी पीढ़ी में एक ओर फ्रांसिस्का कुजूर और सिकरा दास तिर्की है तो वहीं नये कहानिकार के रूप में रूपलाल बेदिया, ज्योति लकड़ा, कृष्ण मोहन सिंह मुंडा, गंगा सहाय मीणा, राजेन्द्र मुंडा, सुंदर मनोज हेम्ब्रम और जनार्दन गोंड जैसे लेखक है। ये लेखक आज अपनी रचनाओं के माध्यम से आदिवासी चेतना को हवा दे रहे हैं। आदिवासी समाज की एक –एक रीति-रिवाजों का परिचय देते हुए वैश्वीकरण के उपरान्त उनके जीवन में आने वाली चुनौतियों एवं संघर्ष की गाथा की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। अतः 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानियों में वर्णित आदिवासी चिंतन को निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर समझा जा सकता है।

5.5.1. वैश्वीकरण और जल, जंगल, जमीन का सवालः

वैश्वीकरण के उपरान्त भारत के सुदूर गाँवों तक कम्पनियों की पहुँच हो चुकी है। हमारा बाजार कम्पनी के उत्पादों से भरा हुआ हैं। इन कम्पनियों के आने से भारत के लघु

उद्योगों को भारी नुकशान हुआ है। गाँव-देहातों में छोटे-छोटे कारीगरों के व्यवसाय में भी समस्या आई है। कुटिर उद्योगों में लगे लाखों लोगों को अपनी जीविका से हाथ धोना पड़ा है। आदिवासी समाज में जो लोग छोटे-मोटे कारीगर थे, इस नए बाजार में जहाँ कम्पनी के उत्पाद उपलब्ध हैं, इनके उत्पादों पर हमला हुआ है। मनीष बैध ने कहानी 'अगन मानुष' में एक आदिवासी लोहार के दर्द को दिखाया है। तेकसिंह आदिवासी है। उसकी जीविका का साधन गाँव में उसके लोहे की भट्टी है, जहाँ एक समय लोगे के बने सामानों की इतनी माँग थी कि घर परिवार मिलकर काम करने पर भी काम पूरा नहीं पड़ता था। किन्तु अब बाजार में कम्पनी द्वारा बनाए गए वे सारे औजार मौजुद है। अब उसकी भट्टी में कोई नहीं आता। यह जानते हुए कि भट्टी में बना लोहा बाजार के लोहे से ज्यादा मजबूत है, फिर भी बाजार की चकाचौंध में उसके बने औजारों को कोई नहीं पूछता। वह कहता है- ''पास के कस्बे में सब कुछ मिल जाता है। एक सरीखे करीनेदार औजार। लोग उन्हें ही खरीदते हैं। कम्पनी की चमचमाती कुल्हाड़ियाँ, दरातियाँ, हल की फाल और कुदालियाँ कस्बे के चौक की दुकानों में लटकी हुई हम पर हँसती है (बैध 217)।'' जिन इलाकों में सौ-सौ भट्टियाँ हुआ करती थी, घर-घर लोहा गलता था, वहाँ आज तेजसिंह की आखिरी भट्टी है और तेजसिंह ही आखिरी आगरिया है। उसकी नई पीढ़ी औजार बनाना सीखना नहीं चाहती है। उसका पूरा परिवार उसे छोड़कर शहर जा चुका है। उसे दुख है कि उसके बाद यह कला भी खत्म हो जाएगी। वह कहता है-

> गाँव में ऐसा कोई लड़का नहीं है जो भट्टी चला सके। मैं इस सफर का आखिरी मुसाफिर हूँ। कई बार मन रोता है। परेशान हो जाता हूँ कि पीढ़ियों का ज्ञान और उसकी सीख मैं अपने देह के साथ ही कब्र की मिट्टी में मिला दूँगा। ऊपर जाकर अग्यासुर को क्या जवाब दूँगा। अब क्या दुनिया में कम्पनी का लोहा ही रह जाएगा। वह लोहा और आग जिससे हमारी देह बनी है। (बैध 219)

लेखक उस दर्द को भी बयाँ करता है कि एक ओर जहाँ आदिवासियों की कला खत्म हो रही है, वहीं इनके जल, जंगल और जमीन पर कम्पनी वालों का कब्जा होता जा रहा है। आदिवासी से जमीन छीनकर उसे अपनी ही जमीन में जाने से रोका जा रहा है। मुकदमा चलाया जाता है। वह इस सच्चाई को जानता है, इसलिए कहानी में कहता भी है-

> आजादी के पहले अंग्रेजों के समय से वे यह पत्थर आसानी से लाते रहे लेकिन अब यह जंगल सरकार का यानी फारेस्ट का हो गया है। अब साहब लोग पत्थर लाना तो दूर उधर फटकने तक नहीं देते। फारेस्ट बाबू मना करता है। केस लगाने और जेल भेजने की धमकी देता है। मालिक का मालिक कौन? हमसे हमारी ही जमीन छीन ली गई। अब यह धरती, इसका लोहा हमारा नहीं रहा। (बैध 217)

तेजसिंह जानता है पत्थरों वाले युग में उसके पूर्वजो ने ही धरती की कोख से लोहे को पहचाना था, मानव सभ्यता को लोहे की सौगात दी थी। आज उसकी धरती, उसके लोहे पर उसका हक नहीं रहा।

औद्योगिकरण की प्रक्रिया ने किसप्रकार आदिवासी जीवन को प्रभावित किया है, रोज केरकेट्टा की कहानी 'बिरुवार गमछा' में इसे देख सकते हैं। आज आदिवासी गाँव में कपास से सूत काटकर बनाये गए बेहद कलात्मक कपड़ों को कम्पनी के उत्पादों ने इतिहास की चीज बना दिया है। लेकिन, लेखिका ने यह दिखाया है कि सूरत जैसे शहर में बिरुवार गमछा ही आदिवासियों की पहचान बन जाता है। वे एक दूसरे को पहचानकर, संगठित होकर दंगे की स्थिति में खुद को बचा पाते हैं। करधा, लुंडरी आदिवासी के पूर्वजों की पहचान रही है, किन्तु कल-कारखानों ने आदिवासियों के कपड़ा बुनने की पुश्तैनी धंधा को बर्बाद कर दिया। यही कारण है कि कहानी में जिस गणेश के दादा घूरन बड़ाईक स्वयं कपड़ा बुनते थे, आज गणेश बड़ाईक सूरत के कपड़ा मिल में नौकरी कर रहा है। लेखिका कहती है-

> चीक बड़ाईक, कुम्हारों और लोहराओं की कारीगरी को मिल और कारखाने निगल गए। जब किसानी ही नहीं रही तो कहाँ का सहयोग, किसका भाईचारा! खेतों की जगह बड़े- बड़े फॉर्म बन गए। अरे फॉर्म तो सूअर मुरगी और कुत्तों तक के बन गए हैं। सो चाकरी के लिए किसी की भी शरण में जाने के लिए लोग तैयार हो गए हैं। (केरकेट्टा 135)

एक ओर कल-कारखानों ने आदिवासियों की जीविका को नष्ट कर दिया तो दूसरी ओर जंगलों में आदिवासियों के प्रवेश पर रोक लगाकर जंगल से प्राप्त होने वाले जड़ी-बुटियों, घास, पत्तल, छाल से बने रंग आदि चीजों से भी आदिवासी महरूम हो गए। जंगलों पर अब बाहरी लोगों का दबदबा बढ़ गया है। लेखिका दिखाती है-

> अब भी चलानी सूत तो मिल जाता है। पर सेर्हुवा (छाल से बना रंग) नहीं मिलता। जंगल ही नहीं है। वहाँ तो हम चीक बड़ाईकों के दुश्मन आ गए। मुआ दुश्मनों ने काम करने वालों को बसा दिया। ये लोग करघे का कपड़ा छूकर भी नहीं देखते। (केरकेट्टा 134)

यही कारण है आदिवासी युवकों को अपना पेशा, अपना गाँव छोड़कर दूसरे शहरों में मजदूरी करने जाना पड़ रहा है। वहाँ विस्थापित होकर कई कष्टों को झेलकर जीवन यापन करना पड़ रहा है। ये लोग भी शहर जाकर वैसे ही बन जाते हैं। उन्हें भी वहाँ के कपड़ों की लत लग जाती है, फिर वापस आने पर अपने कपड़े ही इन्हें चुभने लगता है। रोज केरकेट्टा की कहानी 'बड़ा आदमी' में चामु कहता है- ''करेया नहीं पहनूँगा काका, बहुत खखोरता(गड़ता) है।'' गमछा को तो उसने जकम बुढ़िया के ऊपर फेंक दिया था और बोला था- ''लो बुढ़िया, तुम ओढ़ना, मैं क्या तुम्हारी तरह सड़ रहा हूँ, जो ऐसा ओढ़ूँगा, मुझको पैसा दो, मैं रंग चादर खरीदूँगा (केरकेट्टा 88)।'' जब से बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ आई है, उसकी पहली नजर आदिवासियों की जमीन पर ही रही है। अब तो गाँव भी शहर बनने लगे हैं। गाँवों में भी बड़े—बड़े शॉपिंग मॉल बनने शुरु हो गए है और इसकी कीमत

आदिवासियों को अपनी जमीन गवाँकर चुकानी पड़ रही है। ये कम्पनियाँ पहले तो आदिवासियों से उनकी जमीन हड़पते हैं और फिर अपने ही मॉल में इन्हीं आदिवासियों को चौकीदार या सेल्समैन के रूप में काम पर रखते हैं। पंकज मित्र की कहानी 'मंगरा मॉल' में आदिवासी के जमीन को हड़पने और वहाँ मॉल बनाने की घटना को दिखाया गया है। मंगरा की जमीन को एक आदिवासी की ही मदद से हड़प लिया जाता है। मंगरा के बेटा विरोध करता है, किन्तु उसे गायब करवा दिया जाता है। वह इलाका आदिवासी बहुल है, इसलिए आदिवासी कस्टमर को आकर्षित करने के लिए मॉल का नाम भी जमीन के मालिक मंगरा के नाम पर मंगरा मॉल रखा जाता है। जिसके नाम पर मॉल बना वह स्वयं मॉदल बजाकर विरोध प्रकट करता है। मंगरा के जमीन को हड़पकर उसे बेघर कर दिया जाता है। समय के साथ लोग मंगरा को भूलने लग जाते हैं और मॉल की चकाचौंध में खो जाते हैं। मॉल के सामने खड़ी पत्थर की मूरत उसी मंगरा की है जिसकी आत्मा मानो आज भी प्रतिशोध लेना चाहती है। यह दुःख की बात है कि एक ओर जहाँ मंगरा जैसे आदिवासी की जमीन को हड़प कर बड़े-बड़े मॉल बन रहे हैं, वहीं कई आदिवासी गाँवों में आज भी बिजली नहीं पहुँच पाई है। बिजली की रोशनी की चमक के लिए कई गाँव आज भी तरस रहे हैं। आधुनिक सुख-सुविधाओं की छाया तक वहाँ नहीं पहुँची है। संजीव बख्शी की कहानी 'अहा! बिजली' एक ऐसे आदिवासी गाँव की कहानी है, जो गाँव बिजली की सुविधा से वंचित है। 10 साल पहले ही उस गाँव में बिजली का प्रकरण पास हो चुका था और जंगल के झाड़ की कटाई कर बिजली की लाइन बिछाने के लिए सर्वे तक हो चुका था, किन्तु 10 साल बाद भी उस गाँव तक बिजली नहीं पहुँच पाई। लोग मिट्टी का तेल जलाकर ही गुजारा करते हैं। मिट्टी के तेल खरीदने की भी कईयों की औकात नहीं है। लेखक बताते हैं-

> कभी यह कि लालटेन में माटी तेल का हफ्ते का खर्च बढ़ जाएगा। यह टालता रहा और गाँव में मुखिया का लालटेन ही रोजाना साफ होता और जलाया जाता। सब के सब अंधेरे के इस कदर अभ्यस्त हो गए है कि अंधेरी रात को भी उबड़- खाबड़ रास्ते से अपने घर हो या खेत, सीधे पहुँच जाते हैं। (बख्शी 222-223)

यह गाँव जंगलों से घिरा हुआ है जहाँ पचास परिवार रहते हैं, किन्तु ताज्जुब तो इस बात का है कि यह गाँव न तो राजस्व विभाग में आता है और न ही वन विभाग में। गनिमत तो यह है कि वर्षों से रह रहे उन आदिवासियों के पास जमीन का पट्टा तक नहीं है। इसका फायदा राजनेता उठाते हैं और हर साल एक मोटी रकम वसूल कर ले जाते हैं। 10 साल बाद लाईनमेन के यह कहने पर कि गाँव के लिए बिजली की लाईन मंजूर हो चुकी है, किन्तु झाड़-झंखार की सफाई के लिए फिर से कोई खर्चा नहीं आने वाला है, गाँव के लोग खुद जंगलों को साफ करने लग जाते हैं। जंगलों की सफाई का मुकदमा गाँव वालों पर लग जाता है। गाँव के भोले आदिवासी को अपनी गलती का ऐहसास भी नहीं हो पाता है। वे कहते भी हैं-

> हमारा जंगल है हमने काटा है। क्या हमें उजला जीवन जीने का हक नहीं है? क्या बिजली केवल शहरी लोगों के लिए है? केवल शहरी ही सिनेमा देख सकते हैं अपने ही शहर में और हमें सिनेमा देखना हो हम पहाड़ उतरे फिर दस किलोमीटर पैदल जाएं? (बख्शी 225)

यह वैश्वीकरण का दूसरा पहलू है जो यह बताता है कि देश का एक हिस्सा चकाचौंध की जिन्दगी जीता है तो दूसरी ओर दूसरा हिस्सा भी है जो आज भी अंधेरे में जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। जंगल की सफाई के जुल्म में पूरे गाँव वालों को जेल भेज दिया जाता है। लेखक दिखाते हैं- ''जेल में प्रवेश के पहले सबकी हाजिरी ली गई और एक-एक करके सबको जेल के भीतर भेजा गया। जेल प्रवेश करते ही सबने जेल का नजारा तो देखते ही रह गए। जेल में बिजली ही बिजली। इतनी कि सबकी आँखें चुँधिया गई। अहा! बिजली, अहा! बिजली (बख्शी 227)।'' जिस बिजली की आश में उनके जीवन के कई साल गुजर गए। उस बिजली की चकाचौंध को जेल में देखकर वे दंग रह गए। आदिवासी जीवन में जल, जमीन और जंगल की अहम भूमिका होती है। जंगल ही जीवन है, किन्तु पूँजीपति और सरकार द्वारा जिसप्रकार जंगलों का दोहन किया गया और आदिवासी को जंगलों से खदेड़ा गया, उसकी पीड़ा हरेराम मीणा ने 'जंगल में आतंक' कहानी के माध्यम से दिखाया है। कहानी स्वपन पर आधारित है, किन्तु प्रतीकात्मक रूप से जंगलों को काट कर नष्ट किया जा रहा है और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को सौंपा जा रहा है, इसका पर्दाफास करते हुए लेखक ने दिखाया है-

> जो अरण्य अब से पूर्व प्राकृतिक सम्पदा हुआ करता था, अब उसे राष्ट्रीय सम्पत्ति घोषित किया जा चुका है। राष्ट्र के विकास के वास्ते उसे खंड-खंड कर बहुराष्ट्रीय निगमों को सौंपा जा रहा है। मनुष्य की आयु से लम्बी अवधि के पट्टे उन्हें जारी कर दिए गए है। (मीणा 28)

कहानी में ही जंगलों के आग से एक आदिवासी कबिले के उजड़ने की बात कही गई है। वह दावानल मानव निर्मित था जिसने उस छोटे से आदिवासी कबिलाई को पुश्तैनी जंगल से बेदखल होने को मजबूर कर दिया। उस उजड़ते आदिवासी कबिले की चिंता को व्यक्त करते हुए लेखक बताते हैं- ''उस कबिले का अतीत बहुत प्राचीन था, किन्तु वर्तमान वक्त के पन्नों पर इतना-सा ही दर्ज हुआ। और यह किसी को पता नहीं था उसका भविष्य समय की कोख के किसी कोने में पल भी रहा था अथवा नहीं? (मीणा 29)।'' आदिवासी कबिले का एक युवक उस आग को लगातार बुझाने की कोशिश करता है ताकि इतिहास में उसका नाम आग लगाने या डर कर भागने वालों की तालिका में न होकर आग बुझाने वालों की तालिका में दर्ज हो। वह अपने समूह की रक्षा में सुरक्षा दलों द्वारा शहीद हो जाता है, किन्तु राष्ट्रीय मीडिया में यह खबर आती है- ''सुरक्षा बलों के साथ हुई मुठभेड़ में

एक खूँखार आतंकी मारा गया (मीणा 33)।'' जो आदिवासी समाज जंगल का मालिक था आज उसे आतंकी कहा जा रहा है। जंगल का विनाश करने वाला खुद यह घोषणा करता है – ''आखिर हमने जंगल के आतंक पर पूरी तरीके से काबू पा लिया है (मीणा 33)।'' हाँसदा सौभेन्द्र शेखर की कहानी 'आदिवासी नहीं नाचेंगे' में भी आदिवासियों के जमीन को दिकुओं द्वारा हड़पे जाने, अपनी ही जमीन से कोयला लेने पर कोयला चोर कहलाने जैसी विडम्बना को दिखाया गया है। आदिवासी विरोध तो करते हैं, किन्तु विरोध को कुचल दिया जाता है। आदिवासियों के खेत-खलिहान खदानों में बदल चुका है। कम्पनी द्वारा उनकी जमीने काबिज कर ली गई है। लेखक कहते हैं-

> अगर कोयला व्यापारियों ने हमारी जमीन का एक हिस्सा लिया था तो दूसरे हिस्से पत्थर के व्यापारियों द्वारा ले लिये गये थे, सभी दिकू थे- मारवाड़ी, सिंधी, मंडल, भगत, मुस्लिम। उन्होंने हमारी जमीन को अपनी भारी मशीनों द्वारा पूरा खोद डाला था। वे हमारी जमीन से खोदे पत्थरों को दूरस्थ स्थानों तक बेचते- दिल्ली, नोएडा, पंजाब। (शेखर 173)

इधर अपनी जमीनों को खोकर संथालों के बच्चे कोयला चोरी के लिए विवश होते जा रहे हैं। लेखक उन बच्चों के बारे में कहते हैं- ''हमारे बच्चे शायद ही स्कूल जाते हैं। लेकिन वे- वे स्कूल जायें या नहीं- चौकस रहते हैं, दिन-रात, कोयला चुराने के और उन्हें बेचने के बारे में (शेखर 176)।'' विडम्बना तो यह है कि जिस सरकार और पूँजीपति द्वारा आदिवासियों की जमीन छीनकर उन्हें विस्थापित किया गया, यही आदिवासी उनके हर कार्यक्रम में नाचते हुए देखे जाते हैं। कहानी में लेखक प्रश्न करते हैं- ''और कैसे आदिवासी नृत्य कर सकते हैं और खुश हो सकते हैं? जब तक हमें हमारा घर और जमीन वापस नहीं दी जायेगी, हम नहीं गाएँगे और नहीं नाचेंगे..(शेखर 187)।'' देश में विकास परियोजनाओं के नाम पर जब आदिवासियों की जमीन को हड़पा गया, उन पर जुल्म किया गया, वहीं आदिवासियों ने इस जुल्म के खिलाफ आन्दोलन का रास्ता भी चुना, किन्तु हर बार सरकार की बर्बर पुलिस द्वारा आन्दोलन को दबा दिया गया। इन सबका ही नतीजा है कि आज भी देश के कई प्रांतों में माओवाद और नक्सलवाद की आग देखने को मिलती रहती है। नक्सलवादी आन्दोलन इन्हीं आदिवासियों द्वारा अपनी जमीन को बचाने का आन्दोलन है। पंकज मित्र ने अपनी कहानी 'सेन्दरा' के माध्यम से आदिवासियों पर होने वाले जुल्म, बाँधों के निर्माण और खनन उद्योगों के कारण आदिवासियों के विस्थापन की त्रासदी के साथ-साथ आदिवासी विद्रोह और पुलिस द्वारा चाल चलकर इन विद्रोह के समर्थक नेताओं को मार डालने जैसे कुचक्र का भेद खोला है। कहानी का मुख्य पात्र सोमरा है जो आन्दोलनकारी है और पुलिस ने उसे अपनी हिफाजत में ले रखा है। कहानी यह बयाँ करती है कि सोमरा जैसा सीधा-साधा आदीवासी कैसे आन्दोलनकारी बन जाता है। विकास के

नाम पर कैसे उसके गाँव को बर्बाद किया जाता है, जिसका प्रतिकार करते हुए उसके बाबा एतवा ने अपने प्राण गवाँ दिए थे। लेखक बताते हैं-

> एतवा रात में भी उठकर देखता- घर्र-घर्र करती विशालकाय क्रेने, ट्रक, हजारों-हजार मनुष्य दिन-रात काम करते रहते। सरकारी कारगुन लोहे की जंजीर खींच-खींचकर निशान लगाते रहते। इन निशानों के जखीरो में गुम हो गया था एतवा मुंडा का घर-खेत सब। (मित्र 61)

विकास योजनाओं का विरोध करने पर पुलिस द्वारा इन आदिवासियों पर शारीरिक अत्याचार किया जाता है। कहानी में सोमरा को भी बुरी तरह पीटा जाता है। उसकी बीवी को पुलिसवाले उठाकर ले जाते हैं और झूठे केस में फँसाकर उसका बलात्कार कर पेड़ से टाँग देते हैं। सोमरा की गलती यही थी कि कुछ लोग उसके पास आये थे यह कहने कि-

> यही है हमारा आबुआ राज। यही है हमारे भाई –बन्धु। बहुत बड़ी खाई है हमारे और उनके बीच। हमारे नई पहाड़ जंगल बेच डाले बड़ी कम्पनियों को, हजारों करोड़ डकार गए। हम तुम रोज मरते हैं। तब तक खून बहेगा जब तक भूखा सोएगा कोई। हमारे मरांगबुरू पर भी नजर है उनकी। (मित्र 73)

पूँजीपतियों को सोमरा विद्रोही लगा। उन्होंने पुलिस की मदद ली और प्लानिंग के तहत जेल में हमला कर उसे मरवा डाला। खबर यह फैला दी गई कि सोमरा मुंडा अपने साथियों की सहायता से फरार होना चाहता था। पुलिस की इस चाल की पोल खोलते हुए रामटहल गोप कहता है-

> बूझे सर! इ दोनों को मराया है इ दोनो बुढ़वन तो बहुत दिन से जेल में था जंगल से लकड़ी चोराया था। गरीब आदमी का जमानत कौन लेता तो बरसो से था। जंगलवाला वर्दी पहनाया कौन मालूम नहीं। आर सोमरा मुंडा का तो मुड़िये गायब है। चीन्हिये कैसे चीन्हिएगा। (मित्र 73)

पुलिस द्वारा जेल ब्रेक का झूठा नाटक कर सोमरा को तो मरवाया ही गया, साथ ही दो निर्दोष आदिवासी बूढ़ों को भी विरोधियों का वर्दी पहनाकर मार दिया गया ताकि जेल ब्रेक की घटना सत्य साबित हो सके। ऐसे ही पूँजीपतियों के विरोध करने वालों को माओवादी कहकर उसपर नाना प्रकार के जुल्म ढाये जाते रहे हैं। कमलेश की कहानी 'पत्थलगड़ी' में आदिवासियों के जंगल पर पुलिस की मदद से अधिग्रहण करने और इसका विरोध करने वाले साधारण आदिवासी बिसराम बेदिया को पुलिस द्वारा मार दिए जाने की सच्चाई को दिखाया है। आज जहाँ विकास के नाम पर जंगलों का सफाया हो रहा है, वहीं जंगलों की रक्षा के लिए बिसराम बेदिया जैसे लोगों की भी कमी नहीं है जो अपनी जान की परवाह किए बिना इस अत्याचार का विरोध करते हैं। बिसराम बेदिया के पिता ने उससे यह कहा था- ''आदिवासी तभी तक है जब तक जंगल है, पेड़ है, पहाड़ है और नदियाँ

है। वह कहता था कि जो लोग आदिवासियों को लड़कर नहीं हरा सके वे लोग जंगल और पेड़ काटकर, पहाड़ों को खोदकर और नदियों को सुखाकर उन्हें मारना चाहते हैं (कमलेश139)।'' बिसराम जानता है कि कम्पनी वाले नदियों में बाँध बनाकर उसे सुखा रहे हैं, जंगलों को खनीज के लिए खोद रहे हैं। पेड़ों को काटकर रास्ता बना रहे हैं। उसके पिता आलसाराम ने भी सुवर्णरेखा नदी पर बन रहे बाँध का विरोध किया था, जिसके कारण उसे अपनी जान गवाँनी पड़ी। वह आदिवासियों से कहता था- ''सुबरनरेखा हम आदिवासियों की माँ है। इसको मत रोको। आदिवासी उसकी बात सुनते थे। वे उसके पास देवता को पूजा देने आते तो कहता- देवता को पूजा मत दो, लेकिन सुबरनरेखा को बचाओ (कमलेश141)।'' बिसराम भी अपने बाप की ही तरह विरोध करता है। वह पत्थर पर लिखकर ऐलान करता है कि कम्पनी वाले बाहर जाओ। वह आदिवासियों को समझाता है। उसका बेटा सोगराम को चिंता है कि कहीं उसके दादा की तरह उसके बाप को भी विरोध करने के जुल्म में मरवा न दे। किन्तु बिसराम हर यात्री से कहता है-

> जमीन हमारी, पेड़ हमारे, जंगल हमारे बाप – दादों को। फिर ये कम्पनी वाले उन्हें काटने और खोदने वाले कौन? ये सारे जलप्रपात हम आदिवासियों के हैं। सरकार ने इन पर कब्जा कर लिया है। वह इन सबसे पैसा कमा रही है और हम भूखे मर रहे हैं। (कमलेश142)

विरोध के लिए बिसराम अकेले निकल पड़ता है। वह पत्थर जमा कर पत्थरगड़ी तैयार करता है। पुलिस के अत्याचार से वह मर जाता है। उसे माओवादी कह दिया जाता है। उसके बेटे को भी मार कर लहुलुहान कर दिया जाता है। अंत में वह भी छेनी, हथौड़ा लेकर निकल पड़ता है। गेतला भगत के पूछने पर वह कहता है- ''पत्थलगड़ी करनी है चाचा। जमीन हमारी, जंगल हमारे, नदी और पहाड़ हमारे और हमें ही बेदखल किया जा रहा है। पत्थरों पर लिखना है- कम्पनीवालों बाहर जाओ। फिर इन्हें जंगलों के कोने-कोने में लगाना है (कमलेश 152)।'' सोगराम की नई पीढ़ी इन कम्पनीवालों के सामने हार नहीं मानता है और विरोध करता है, यही आदिवासियों की ताकत है। जंगलों को बचाने के लिए लाखों आदिवासियों ने अपनी आहुति दी है। यह लड़ाई आज तक जारी है, भले इस लड़ाई को माओवादी या नक्सलवादी कहकर दबाया जाता रहा है।

आदिवासी समाज प्रभावशाली सामाजिक मूल्यों पर आधारित विचारधारा का समाज है। इस समाज में जल, जंगल, जमीन और मनुष्य की चिंता प्रमुख है। प्राकृतिक सम्पदाएँ प्रकृति की देन है, आदिवासियों के अनुसार इसे खरीदा या बेचा नहीं जा सकता है। यही कारण है कि कभी भी आदिवासी समाज में निजी सम्पत्ति की अवधारणा नहीं थी। इनमें सहयोग, सहभागिता तथा समानता समाज के प्रमुख आधार थे। वैश्वीकरण के उपरान्त भ्रष्टाचार, अनैतिकता, शोषण जैसे बाहरी मूल्यों ने आदिवासी समाज में अपनी जगह बना ली। अतः यह देखा जा रहा है कि आदिवासी के जल, जंगल और जमीन पर दूसरों की नजर तो है ही खुद आदिवाली समाज में भी थोड़े से जमीन के लिए आपस में

मरने- मारने की परम्परा का विकास हो रहा है। गैर – आदिवासियों का दुष्प्रभाव अब आदिवासी संस्कृति पर भी पड़ने लगा है। 'एक बित्ता जमीन' कहानी में 'कृष्ण चंद्र् टुडू' ने दिखाया है कि कैसे थोड़े से जमीन के लिए सरला के घर वाले सरला को जान से मारने पर तुल गये। लोगों की मार और लात को झेलती सरला पीपल के पेड़ तले बेहोश हो जाती है। उनके अपने ही लोग बेहोश सरला को पानी में फेंककर चले जाते हैं। सरला डॉ. बाबू से कहती है-

> डॉ. बाबू, आपने मेरी जान क्यों बचाई? मर जाने दिया होता मुझे। मैं गोतिया जनों की दुश्मन हूँ न, उनकी आँखों की किरकिरी हूँ न, मेरे मरने से उनको खुशी होती। उनको मेरे हिस्से की जमीन मिल जाएगी। एक बित्ता जमीन की खातिर ही उन्होंने मेरी यह दुर्दशा की है। (टुडू 48)

हम देख पा रहे हैं कि किसप्रकार वैश्वीकरण की सभ्यता ने आदिवासियों के संयुक्त परिवार के ढ़ाँचे को भी धरासायी कर दिया है। जिस आदिवासी परिवार की विशेषता उसके समूह में रहना था, उस समाज में भी अब जमीनी विवाद घर करने लगा है और जमीनी विवाद के लिए एक भरा पूरा परिवार टूटने लगा है। पुरानी पीढ़ी इस परिवार को बचाना चाहती है, किन्तु नया समाज इसके टूटने के दर्द को महसूस नहीं कर पा रहा है। फ्रांसिसका कुजूर की कहानी 'मूसल' में ऐसे ही जमीन के बँटवारे को लेकर संयुक्त परिवार के टूटने की पीड़ा को दिखाने की कोशिश की गई है। कहानी में निर्मला अपने संयुक्त परिवार को बचा नहीं पाती है। उसकी सास ने उसे समझाया था- 'बेटी! तुम्हारे ससुर के गुजरने के बाद मैं इस नाव को डूबने से बचा रही हूँ। तुम परिवार को बिखरने से बचा लेना (कुजूर 112)।'' किन्तु निर्मला उसे बचा नहीं पाती है। लेखिका लिखती है-

> दूसरे दिन पंचों ने बँटवारा कर दिया। घर, खेत-खलिहान सबके सात हिस्से कर दिए गए। वर्षों से चली आ रही संयुक्त परिवार की संस्कृति बिखर गई। आँसुओं से भरी आँखों के सामने निर्मला को सास-ससुर की धुँधली दिखाई देने लगी, मानो वे उससे कुछ पूछ रहे हों! (कुजूर 112)

आदिवासियों के जमीन को गैर-कानूनी तरीके से बड़े- बड़े पूँजीपतियों द्वारा अधिग्रहण किया जा रहा है। जो आदिवासी पढ़-लिख कर नौकरी करने लग जाते हैं, वे फिर अपने जल, जंगल और जमीन से कट जाते हैं। 'रोज केरकेट्टा' की कहानी 'फिक्सड डिपोजिट' ऐसे ही आदिवासी की कहानी है । कहानी में एक ओर लेखक का परिवार है जो पढ़ – लिख कर नौकरी कर रहा है, वहीं दूसरी ओर उसके रिश्ते का भाई मनोहर है जो अपने गाँव में ही खेती कर गुजारा करता है। शहरी बनने वाले आदिवासियों को अपने जमीन का कुछ भी ज्ञान तक नहीं है। न वे अपनी संस्कृति से ही परिचित है। लेखक बताते हैं-''जमीन के बारे में इतना ही ज्ञान था कि वह खेत उसका है, यह टांड उसका है और हमारी जमीन वह है। यह

सब बिना जाने ही हम ग्रेजुएट हो गए और छोटे-छोटे शहरों में बाबू बन गये। (केरकेट्टा 82)।'' आज लेखक जैसे आदिवासी शहर में बस कर अपने लोगों से कट से गये हैं। उन्हें अपनी ही जातियों पर हो रहे अत्याचारों का विरोध करने की चेतना भी नहीं है। ये भी सभ्य समाज के नागरिक बन गये हैं। लेखक दिखाते हैं-

> मनोहर दा और उनका गाँव, उनके बच्चे, लोग, उनके खेत, जंगल हमारे लिए बेमानी हो गए। हम उन्हें भूल गए। माँ-पिताजी प्रसन्न थे कि उनके दोनों बेटों को नौकरी मिल गई। वे दोनों अपने पैरों पर खड़े हो गए थे। आनंद ही आनंद था उनके जिम्मे। मनोहर दा के यहाँ से अभी भी दो किलो अरवा चावल आता था, लेकिन माँ-पिताजी के लिए यह महत्वपूर्ण बात नहीं रह गई थी। (केरकेट्टा 82)

कल-कारखानों के लिए मनोहर दा के गाँव को खाली करने का आदेश आ चुका था। किसी को चिन्ता नहीं थी कि सारे गाँव वाले विस्थापित होकर कहाँ जायेंगे? गाँव वाले को मुआवजे के लिए राँची बुलाया गया था। लेखक लिखते है-

> अचानक एक दिन सर्वे के लिए लोग आए और दिनभर नाप-जोख कर खूँटा गाड़कर चले गए। टोपी पहने इंजीनियरो, ओवरसियरों और चेनमैनों का दल इधर-उधर नापता रहा। उन्होंने मनोहर दा के आँगन को, हराधन लोहरा के बारी को और नीचे से पूरे गाँव को खंभों के घेरों के अंदर कर दिया था। शाम को जाते-जाते उन्होंने घोषणा कर दी थी, - एक वर्ष के अंदर गाँव खाली कर देना। भीड़ में किसी की हिम्मत नहीं हुई पूछने की, कि खाली करके वे कहाँ जाएँगे? (केरकेट्टा 83)

जमीन के अधिग्रहन ने मनोहर दा सहित पूरे गाँव वालों को बेघर कर दिया था। सरकार ने पुनर्वास के नाम पर इंदिरा आवास दिया था। पूरा गाँव इंदिरा आवास में सिमट कर रह गया।

5.5.2. शोषण की पीड़ा और विस्थापित आदिवासी समाजः

शोषण की पीड़ा सबसे अधिक आदिवासी समाज को ही झेलना पड़ा है। गरीबी से बचने के लिए इन आदिवासी लोगों को कई शहरों में जाकर मजदूरी करनी पड़ती है। इन मजदूरों में स्त्रियों की संख्या भी कम नहीं होती है। कई शहरों के एजेंट आदिवासी बहुल इलाके में जाकर नौकरी का झांसा देकर आदिवासी लड़कियों को शहरों में ले जाते हैं और बेच देते हैं। हर साल हजारों आदिवासी लड़कियों की खोज तक नहीं हो पाती है। कई तो शहरों में जाकर नौकरानियाँ बन जाती है, तो कई वैश्यालयों तक पहुँच जाती है। ये लड़कियाँ फिर कभी अपने घर वापस नहीं जा पाती है। 'रूपलाल बेदिया' की 'अमावश की रात में भगजोगनी' ऐसी ही कहानी है जिसमें गाँव में एजेंटों के माध्यम से आदिवासी लड़कियों को झांसा देकर शहर में ले जाने और उसे बेच देने जैसी घटनाओं को दिखाया गया है। यह सच है कि कई राज्यों के एजेंट आदिवासी बहुल इलाके में घुमते रहते हैं। वे

गरीब आदिवासी लड़कियों को शादी के नाम पर बहला फुसलाकर या उसके गाँव में ही उससे शादी रचाकर राजस्थान, हरियाणा जैसे राज्यों में ले जाकर बेच देते हैं। कहानी में भी एजेंट द्वारा गाँव में जाकर लड़की से विवाह किया जाता है, लड़की के घरवालों को कुछ पैसा भी दिया जाता है और बाद में उसे दूसरे राज्य ले जाकर बेच दिया जाता है। वह लड़की ऐसे घर में खरीदकर भेज दी जाती है जहाँ उसे चार भाईयों की पत्नी बनकर रहना पड़ता है। कहानी में शहर के एजेंट गाँव में जाकर लड़की के माँ –बाप को नौकरी का झांसा देते हैं- ''देखिए, हमारी योजना बहुत बड़ी है और हमने आप जैसों के लिए रोजगार के बारे में भी सोच रखा है। ठीक-ठाक काम चला तो एक-डेढ़ साल में कारखाना तैयार हो जाएगा और गरीबों को परमानेंट रोजगार मिल जाएगा (बेदिया 151)।'' गाँव के लोग भी बाहर जाकर काम करते हैं और हर साल पैसा कमाकर नई-नई साड़ियाँ लेकर आते हैं, उसे देखकर अन्य लोगों का भी मन ललचाता है। वे भी बाहर जाकर काम करना चाहते हैं। कहानी की नायिका अपने गाँव के दिनों को याद करते हुए कहती है-

> इस समय गाँव के कुछ लड़के-लड़कियाँ ईट भट्ठों में या अन्य प्रदेशों में मजदूरी करने चले जाते थे। मैं अब युवावस्था को प्राप्त हो रहीं थी। मेरा मन भी ईट भट्ठों में मजदूरी करने जाने का करता था। लड़कियाँ जब मजदूरी करके आषाढ़ में लौटती थीं तो रूपए-पैसे के अलावा नई-नई साड़ियाँ लाती थीं, जिन्हें देख मेरा मन भी ललचाता था। (बेदिया 150)

कहानी की नायिका झारखंडी पारो को भी एजेंट द्वारा उसके बाप को कुछ पैसे देकर खरीद लिया जाता है। शादी तो केवल दिखावा था। शादी के बाद उसे एक जगह ले जाया जाता है, फिर सुहाग रात के नाम पर उसके साथ कई दिनों तक बलात्कार किया जाता है, फिर एक दिन उसे एक मेले में रिवाज के नाम पर बेच दिया जाता है। उसे खरीदने वाला अपने घर ले जाकर चार भाइयों की बीवी बनाकर रखता है । झारखंड़ी पारो चार भाइयों की बीवी बनकर रह जाती है। वह कहती है- ''फिर एक-एक कर चारों ने मेरी देह को रौंदना शुरू किया- यानी मैं चार-चार मरदों की पत्नी एक साथ थी। सोचकर ही उबकाई आती थी (बेदिया 167)।'' इतना ही नहीं, वह आदिवासी लड़की के चार बच्चों को इसलिए मार दिया गया, चूँकि चारों बच्चे लड़की पैदा हुई थी। हर बार उसे यह कह दिया जाता कि उसकी बच्ची मरी पैदा हुई। वह एक अनजान जगह में फँसी रह जाती है। अपने गाँव, अपने लोगों से दूर। वह डॉ. को बताती है-

> कुछ देर बाद वह दाई अंदर आई और उस नवजात बच्ची को नहलाने के बहाने ले गई। वह बच्ची फिर कभी वापस नहीं आई। मैं बहुत रोई, चीख-पुकार मचाई, मेरे बच्चे को वापस ला देने के लिए गिड़गिड़ाई, परंतु कोई फायदा नहीं। मुझे बताया गया कि वह बच्ची मृत पैदा हुई थी। (बेदिया 169)

आदिवासी लड़कियों के दलालों द्वारा बेचे जाने की घटना आज आम हो गई है। इतने सारे कानून होने के बावजूद आदिवासी लड़कियों का शोषण समाप्त नहीं हुआ है। कहानी में पारो इस सच्चाई को बयाँ करते हुए कहती है-

> इस बीच बहुत कुछ बदल गया था। कितनी ही ऋतुएँ आई और चली गई। नहीं बदला तो दूसरे राज्यों से लड़कियों का धोखे से दलालों के द्वारा खरीदकर लाना। उन लड़कियों को किसी से बात करने नहीं दिया जाता है। यहाँ तक कि उन्हें आपस में भी मिलने-जुलने भी नहीं दिया जाता। (बेदिया170)

वैश्वीकरण के उपरान्त अधिक मात्रा में आदिवासियों को विस्थापन का दंश झेलना पड़ा है। उन्हें मजदूरी के लिए अपने गाँव को छोड़कर शहर की ओर जाना पड़ा है, बड़े-बड़े कारखानों, खदानों में आज मजदूर के रूप में सबसे अधिक आदिवासी ही लगे हुए है। आदिवासी जैसा परिश्रमी और भरोसेमंद आज की दुनिया में कोई और है भी नहीं। 'वाल्टर भेंगरा तरुण' अपनी कहानी 'संगी' में दिखाते हैं कि किसप्रकार औद्योगीकरण ने आदिवासियों को विस्थापित कर दिया। कल-कारखानों और बड़ी-बड़ी योजनाओं के नाम पर आदिवासियों की जमीन को हड़पा जा रहा है और वे विस्थापित होने को मजबूर हो रहे हैं। कहानी में फागू कहता है –

> आज बड़े-बड़े कारखानों, खदानों और बड़ी-बड़ी योजनाओं के नाम पर यहाँ के आदिवासी उखड़ने और बिखरने लगे हैं। हर रोज सैकड़ों आदिवासी यू.पी., दिल्ली, पंजाब, नागालैंड और कहाँ-कहाँ नहीं रोजी-रोटी की तलाश में जा रहे हैं। ठेकेदारों के दलाल इस रास्ते पर उनकी मदद कर रहे हैं। (तरुण 26)

कहानी में ठेकेदार द्वारा गरीब आदिवासियों को बहला-फुसलाकर शहर की ओर ले जाते हैं। रेलवे स्टेशन पर अपने आदिवासी भाईयों को ले जाते देखकर फागू की संगी इसका विरोध करती है और पुलिस को खबर कर उन मजदूरों को विस्थापित होने से बचा लेती है। फागू के कहने पर संगी दुलारी कहती है – ''ये अनपढ़ आदिवासी मजदूर हमारे भाई-बहन हैं। इनका शोषण और नहीं किया जा सकता। इन्हें लालच देकर, बहला-फुसलाकर चोरी से ले जाया जा रहा है, गैर- कानूनी ढ़ंग से। बंधुआ मजदूरों की तरह इनसे काम लेते हैं ठेकेदार (तरुण 28)।'' भारतवर्ष में कोयला खादानों की स्थापना ने एक ओर जहाँ आदिवासी को अपने जंगल और जमीन से विस्थापित किया, वहीं आदिवासी समाज के सामाजिक जीवन में भी बड़ा बदलाव घटित हुआ। वे पूरे तरीके से किसानी समाज से कटकर कोयला खादानों में मजदूर बन गए। और जब ये खादान बंद होने लगे तब ये आदिवासी जीविका विहीन हो गए। वे बंद खादानों से कोयला चोरी कर गुजारा करने के लिए विवश हो गए। अश्विनी कुमार पंकज की कहानी 'अपनी कब्र खोदने वाले' उन आदिवासी गाँव की कहानी है जिनका जीवन बंद खादानों में कोयला चोरी करके ही चलता है। वे अपनी ही जमीन से कोयला चुराकर कोयला चोर कहलाते हैं। उनपर साहुकारों से लेकर पुलिसवाले तक

अत्याचार करते हैं। खादानों में धँसकर मारे जाने पर गाँव वालों द्वारा अपने ही लोगों की पहचान छिपानी पड़ती है ताकि उन्हें किसी कानूनी फेरे में न पड़ना पड़े। इन आदिवासी समाज की स्थिति पर बात करते हुए कहानी में पार्टी सचिव कहता है-

> आखिर का करेगा गरीब आदमी। खेत-जमीन तो रहा नहीं। इधर जेतना बंद खदान है.....कोल कम्पनियाँ जिनको अबेनडेड माइंस कहती है, इहे सब कोयला परियोजनाओं से विस्थापित और प्रभावित आदिवासी- दलित कमजोर- पिछड़ा लोग का जीने का आखिरी और एकमात्र सहारा रह गया है। खदान जीवन और मौत दोनों देती है, लेकिन हर हादसे के दो-चार दिन बाद फिर से वही क्रम शुरु हो जाता है। (पंकज 4)

खदान के धँस जाने से मारे गए लोगों की शिनाख्त करने के लिए पुलिस द्वारा गाँव वालों पर जुल्म ढ़ाया जाता है। जमीन जाने के बाद ये आदिवासी खदान पर निर्भर हो जाते हैं। खदान बंद होने पर काम कर रहे आदिवासियों की जीविका को लेकर किसी को चिंता तक नहीं होती है। विस्थापित हुए कई आदिवासी परिवार पुनर्वास की उम्मीद में ही जीवन बिता देते हैं। पार्टी सचिव कहता है- ''राजमहल, परेज आदि कोयला खदानों से विस्थापित हुए दलित आदिवासियों की स्थिति तो और भी बदतर है। वे आज भी पुनर्वास की उम्मीद में हैं। उनकी जमीन के नीचे छिपा काला हीरा उनके लिए अभिशाप बन गया (पंकज 11)।'' सभ्य समाज के लोग यूँ तो आदिवासी को जंगली समझते हैं, किन्तु जब शोषण की बात आती है, इसी आदिवासी जाति का शोषण कर वह जीवित रहता है। आदिवासी लोग इतने सीधे होते हैं, कि उनकी भलमानसियत का फायदा हर रूप में मुख्य धारा के लोग उठाते हैं। 'बंदूक्या' कहानी में महाराष्ट्र के इलाके में रहने वाले पारधी आदिवासियों के ऊपर होने वाले शोषण को दिखाया गया है। सभ्य लोग पारधी आदिवासी को चोर जाति के नाम से पुकारते हैं। कहानी में मालिक पारधी आदिवासी को पहले तो अपने गन्ने की खेतों में मजदूरी का काम करने के लिए लालच देते हैं। वे पहले तो बंदूक्या को एक हजार का नोट देते हैं, गन्ना की खेती की खूब तारीफ करते हैं फिर एक दिन उसे अपने छोटे भाई की बीमारी के नाम पर अस्पताल ले जाते हैं। वहाँ उससे एक बोतल खून भी लिया जाता है। किन्तु डॉ. की बात सुनकर बंदूक्या समझ जाता है कि मालिक बंदूक्या का एक गुर्दा लेकर अपने बीमार भाई को बचाना चाहता है। वह मालिक द्वारा की गई सारी अच्छाईयों के पीछे छीपे कारण को जान जाता है। वह वहाँ से फरार हो जाता है। लेखक दिखाते हैं-

> ये बातें बंदूक्या को सुनाई पड़ी तो उसकी समझ में आया कि मंगल पाटिल उसकी इतनी मदद क्यों कर रहा है और क्यों मीठी-मीठी बातों से उसे फुसला रहा है। यह सिर्फ खून ही नहीं, इस बहाने गुर्दा भी लेना चाहता है। बंदूक्या यह सोचकर काँप गया। वह पेशाब के बहाने बाहर आया और तेजी से भाग निकला। (गायकवाड़ 73)

जो बंदूक्या पाटिल के लिए अब तक बहुत अच्छा था, उसके गुर्दा देने से मना करते ही पाटिल भड़क जाता है और गुस्से से अपने आदमियों को आदेश देता है- ''यह हरामी आज से

अपने गाँव के नजदीक रहने न पाए। इसके घर को जला दो और पीटों सालों को, चोर-उचक्के कहीं के (गायकवाड़ 74)।'' पाटिल के 20-25 लोगों ने पूरी बस्ती को आग लगा दी, बाल बच्चों को लाठियों से पीटा। घर में आग लगने से बंदूक्या का पालतू पशु के साथ सब कुछ लूट गया। पुलिस केस होने पर जमींदार के लोगों को जेल भी भेजा गया, किन्तु सुनवाई के दिन सारे पारधी आदिवासियों के बस को (जो गवाही के लिए जा रहे थे) रास्ते में ही रोककर एक किसान के मौत के झूठे इल्जाम में फँसाकर सभी को पीट-पीट कर मार डाला जाता हैं।

जंगल जो आदिवासियों का घर है, जंगल जो उनके जीने का साधन है, वह जंगल जिसका आदिवासी मालिक है, आज इस जंगल पर बड़े लोगों का हाथ है। इन दबंगों के पास आदिवासी तो बस मनोरंजन का साधन है। जनार्दन गोंड की कहानी 'भंडुआ' में आदिवासी पर होने वाले ऐसे ही शोषण की दास्ताँ को बयाँ किया गया है। कहानी में जंगल पर राजेश हराड़े जैसे लोगों का राज है। पुलिस, वन विभाग से लेकर विधायक तक उसके हाथ में है। सभी मिलकर आदिवासी का शोषण करते हैं। राजेश हराड़े के लिए आदिवासियों की जान लेना शिकार करने के सामान है। वह कहता भी है- ''ये जंगल, जमीन, जीव, नदी, पहाड़, झरना और जवान छोरियाँ, सब मेरी जागीर हैं। मैं जो चाहूँ , कर सकता हूँ (गोंड 188)।'' उसने आदिवासी चिंकू को इसलिए गोली मार दिया क्योंकि बहुत दिनों से उसने किसी को मारा नहीं था। वह कहता भी है- ''उस दिन वह गोंड़ लड़का...क्या नाम था? हाँ चिंकू, सिर्फ इसलिए मारा गया, क्योंकि डेढ़ हफ्ते से कोई मारा नहीं गया था। भय बना रहे, कमजोर न पड़े हमारे लोग...इसलिए यह सब टंटा करना पड़ता है (गोंड199)।'' आदिवासियों को वह कुछ समझता ही नहीं है। चिंकू को गोली मार कर वह कहता है-

> देखो, गोली तुम पर न चला के जंगल में चला दिया। मुझे क्या पता कि वह कहाँ जा रही है? गोली सूअर को नहीं लगी, सूअर गोली को लग गया.... मैं निर्दोष हूँ। गोली-गोली पर लिखा है मरनेवाले का नाम, इससे निकली (पिस्तोल दिखाते हुए) हर गोली में है मौत का पैगाम। ...यह है तो हम हैं, नहीं तो पानी कम है...आ....हा..हा...हा...। (आँख दिखाते हुए) भाग साला गोंड...आदिवासी। (गोंड189)

पूरे जंगल का दोहन राजेश हराड़े, वन विभाग का दरोगा जयचंद यादव और विधायक का भाई लंपट सिंह द्वारा किया जाता है। वे दारू पीकर मौज करते हैं और एक आदिवासी लड़की उसकी सेवा में लगी रहती है। दरोगा उस लड़की के मांसल उभारों को निहार रहा था। दरोगा के आँखों में वासना भर जाती है। इस पर राजेश हराड़े कहता है- ''दारोगाजी, आप भी बीना मोल की चीज के लिए कितना परेशान हो भाई। चलो, आज ही पहुँच जाएगी आपके यहाँ (गोंड190)।'' राजेश हराड़े का ऐसा कहना इस बात की ओर संकेत

करता है कि राजेश हराड़े जैसे लोगों के लिए आदिवासी लड़कियों की इज्जत मानो कुछ है ही नहीं। उनका दबदबा इतना अधिक है कि सारे आदिवासी मानो उनके गुलाम है। राजेश हराड़े द्वारा पार्वती की बड़ी बेटी रीता को नौकरी का झांसा देकर बलात्कार कर, शहर में बेच दिया जाता है, उसके बेटे चिंकू को भी गोली मार दी जाती है और अब वह पार्वती की छोटी बेटी सीमा को भी विद्यालय के मेन गेट से ही अपहरण कर ले जाते हैं और लोग मूक दर्शक बन देखते रह जाते हैं। पार्वती पुलिस के पास भी जाती है, किन्तु पुलिस स्थानीय विधायक के दबाव में थी, वह कुछ नहीं करती है, फिर वे लोग सीमा का बलात्कार कर रेलवे पुल के पास फेंक देते हैं। कहानी में देखते हैं-

> सचमुच, दो-तीन घंटे बाद रेलवे पुल के बगल में सीमा बेहोश पड़ी मिली। बलात्कार करके फेंक दिया गया था। माँ-बाप किसी तरह बेटी को घर लाए। किसी ने साथ नहीं दिया। घंटे भर में वह होश में आ गई। पार्वती ने हल्दी का काढ़ा बनाकर पिलाया। (गोंड 204)

पूरा तंत्र राजेश हराड़े के साथ है। वह इतना दबंग है कि उसे किसी का डर नहीं। वह बाद में पार्वती के घर जाकर उसे पाँच गोलियों से भून देता है। आज राजेश हजाड़े जैसे बाहरी लोगों का ही जंगलों पर राज छाया हुआ है और इन जंगलों के मूल निवासी आदिवासी उनके शोषण के शिकार हो रहे हैं। आदिवासियों के पक्ष में आवाज उठाने वाला भी कोई नहीं है।

शहर में मजदूरी के लिए पलायन करने वाले आदिवासियों के साथ जैसा शलूक किया जाता है, यह बात छिपी नहीं है। आदिवासी मजदूरों की इमानदारी और मेहनती स्वभाव होने के कारण हर जगह इनकी माँग अधिक होती है। आज ये मजदूर के रूप में देश के हर कोने में जाकर बस गये हैं और वहीं अपनी संस्कृति को जिन्दा रखने की कोशिश कर रहे हैं। 'धोखा' कहानी में भी एक आदिवासी स्त्री के मजदूर बनकर ठेकेदार के चंगुल में फँसने की व्यथा को दिखाया गया है। ठेकेदारों द्वारा आदिवासी स्त्रियों पर शारीरिक शोषण करना तो मानो आम बात है। इन आदिवासी मजदूरों के कारण ही पूँजीपतियों का सारा कारोबार चलता है। हर जगह आदिवासी मजदूर की ही माँग होती है। कहानी में सरदारजी से धंधा के बारे में पूछे जाने पर वह कहता है –

> पूछो मत साब, ऑडर तो बहुत मिल रहे हैं। उन्हें निभा पाना ही मुश्किल हो रहा है। देखिए न, सब मालिक झारखंडिए का ही डिमांड करते हैं। सच मानिए, पश्चिम बंगाल में इन लोगों का बहुत डिमांड है। कलकत्ता से दीघा और फिर हल्दिया से बिहार के मोकामा तक, इतने विशाल प्रदेश में ईट कौन बनाता है, मालूम है ये ही झारखंड के गरीब आदिवासी। (मुंडा 35)

मजदूरों के साथ-साथ काम पर ले जाने वाले ठेकेदारों की नजर हर वक्त आदिवासी महिलाओं के जिस्म पर रहती है। इन महिलाओं का शोषण भी कम नहीं होता है। कहानी में भी आदिवासी महिला मुंगली के साथ शारीरिक शोषण भी होता है और बाद में उसके

द्वारा मजदूरी कर कमाये गये पैसे को भी ठेकेदार धोखे से ले लेता है। लेखक द्वारा पूछने पर सरदार जी कहते हैं-

> साब, मैं रघुनाथ का मीडिया हूँ न, सब खबर रखता हूँ। बाकी मजदूरों को चार रूपया कम मिलता है। उनके द्वारा विरोध करने पर कह देता हूँ कि पाँच रूपया सरकार के बाढ़ पीड़ित राहत कोष में कट जाता है। यह सरकार का हुकूम है। मुंगली को किंतु बीस मिलते हैं। कभी-कभी पूजा आदि में साड़ियाँ एवं चूड़ियाँ भी दे जाता है, और एक बात है साब, वह हर रविवार को उसे अपना डेरा ले जाता है, रात बिताकर फिर ड्यूटी। (मुंडा 36)

आदिवासियों के जल, जंगल और जमीन पर पूँजीपतियों का अधिकार हो गया है और इन आदिवासियों को अपनी जीवन यापन करने के लिए अन्य राज्यों में जाकर मजदूरी करनी पड़ रही है। इन आदिवासियों के साथ हर जगह शोषण होता है। सुंदर मनोज हेम्ब्रम की कहानी 'रातवाली बंगाल की आखिरी बस' कहानी में दिकुओं द्वारा आदिवासी महिलाओं के साथ बस में ही शीरीरिक शोषण करने की कोशिश की जाती है। दुमका से हजारों आदिवासी बंगाल मजदूरी के लिए जाते हैं। उनकी आँखों में भी कई सपने छिपे होते हैं जिसे वे बंगाल जाकर खूब पैसा कमाकर खुशहाल वाली जिन्दगी जीना चाहते हैं। लेखक दिखाते हैं-

> दरअसल, गाँव से पहली बार निकले नौजवानों के लिए रात के अँधेरे में होनेवाली बंगाल की यात्रा एक जादूई सम्मोहन की तरह थी, खूब सारा पैसा और सुख पाने की असीम लालसा से भरी हुई। अपनी अतृप्त आकांक्षाओं को आँखों में पाले सब-के – सब बंगाल की यात्रा यही सपना देखते हुए शुरू करते थे कि जल्द ही वे लोग उस नई दुनिया में प्रवेश कर जाएँगे, जहाँ खुद के लिए नया रेडियो, नई घड़ी या हीरो साइकिल खरीद सकेंगे। (हेम्ब्रम 207)

सच्चाई यह है कि सभी बस की सीटें दिकू व्यापारियों के लिए आरक्षित रहती है, फिर भी हर एक आदिवासी को पैसे लेकर सीट देने का आश्वासन दिया जाता है। सीट न मिलने पर इन आदिवासियों को छत पर जाकर या खड़े-खड़े ही सारी यात्रा करनी पड़ती है। कंडेक्टर के द्वारा सीट न मिलने पर, पुलिस का डर दिखाने पर भी वे नहीं डरते हैं। थाना भी आदिवासियों के प्रति कहाँ सचेत रहते हैं। बस में कुछ दिकुओं द्वारा आदिवासी महिलाओं के बदन पर हाथ फेरा जाता है। इन दिकुओं की नजर में आदिवासी महिलाएँ काफी सस्ती होती है। वे कहते हैं- ''ये संताली औरतें बहुत सस्ती हैं....संताली में कुछ मीठी बात कह दो....एकाध बीड़ा पान खरीद दो...और एकाध किलो जलेबी देने का वायदा कर दो...फिर तो बस, जो तुम चाहोगे, वहीं होगा... (हेम्ब्रम 211)।'' इन दिकुओं द्वारा आदिवासी महिलाओं के बारे में ऐसा सोचना उनकी हेय दृष्टि का ही प्रमाण है। उसी बस मे सफर कर रहे तीन आदिवासी विद्यार्थियों ने इन दिकुओं को तो उनकी करनी का फल दे दिया, किन्तु सच्चाई यह है कि आदिवासी महिलाओं को हर समय ऐसे ही अपनी अस्मिता की लड़ाई

लड़ती रहनी पड़ती है। हाँसदा सौभेन्द्र शेखर ने भी अपनी कहानी 'प्रवास का महिना' में ऐसे ही दिकुओं द्वारा आदिवासी महिलाओं पर होने वाले शोषण की पोल खोलते हैं। कहानी में उन संथाल महिलाओं के साथ होने वाले शोषण की बात कही है जो मजदूरी के लिए बंगाल के बर्द्धमान जिले में ट्रेनों से यात्रा करते हैं। यह वह समय होता है जब पूरा गाँव खेती मजदूरी के लिए बंगाल की ओर गमन करता है। ये औरतें इतनी बेबस और भूखी होती है कि अपना पेट भरने और थोड़े से पैसे के लिए सुरक्षा बल के जवानों के साथ सोने को मजबूर होती है। कहानी में तालामई को पता है कि ट्रक से कोयला चुराने वाली संथाल स्त्रियों को भी ट्रक ड्राइबरों के साथ यही काम करना पड़ता है। लेखक इस सच्चाई को बताते हुए कहते हैं –

> उसने यह काम कोयला रोड पर कई बार किया है, जहाँ कई संथाल स्त्रियाँ और लड़कियाँ ट्रक से कोयला चुराती है। वह बहुत –सी औरतों को जानती है, जो यह काम ट्रक ड्राइवरों और अन्य आदमियों के साथ करती है। और वह जानती है कि नामाल के रास्ते में, संथाल औरतें यह काम भोजन और पैसे के लिए रेलवे स्टेशन पर भी करती है। (शेखर 49)

यह कितनी लज्जा की बात है कि जहाँ एक ओर देश वैश्वीकरण का दामन पकड़ कर विकास की ओर बढ़ रहा है, वहीं आदिवासी समुदाय की औरतों को अपना पेट भरने के लिए अपना जिस्म बेचना पड़ रहा है। तालामाई के साथ भी सुरक्षा बल के जवान संभोग करता है। लेखक लिखते हैं-

> पुलिस वाला उठा और तालामई को उठने में मदद की। उसने इस्तेमाल किया हुआ कान्डोम फेंक कर अपने कपड़े पहन लिये। फिर उसने तालामई को दो ठंडे ब्रेड पकौड़े और पचास रूपये का नोट थमाया और चला गया। उसने अपना साया और लुंगी बाँधी, पचास रूपये का नोट ब्लाउज में खोंसा, दोनों ब्रेड पकौडे खाये और अपने समूह में वापस लौट गयी। (शेखर 50)

इन जवानों के लिए तो संथाल औरतें सिर्फ इसी काम के लिए बनी है। सभ्य समाज में जिस इज्जत की बात लोग करते हैं, जिसके लिए कई कानून बने हुए है, संथाल औरतों के लिए जैसे यह सामान्य सी बात है।

5.5.3. अंधविश्वास और आदिवासी स्त्रीः

आज 21वीं सदी के दौर में भी जहाँ विकास की धीमी लहर गाँवों तक पहुँच चुकी है, वहीं आदिवासी समाज भी पढ़ – लिख कर आगे बढ़ रहा है। राजनीति में भी उनकी हिस्सेदारी बढ़ रही है। आँगनबाड़ी जैसी संस्थाओं द्वारा बच्चों और महिलाओं को हर प्रकार से शिक्षित किया जा रहा है। ऐसे समाज में भी आदिवासी स्त्रियों को आज भी गाँव में डायन कहकर मार डालने, मैला खिलाने या नंगा कर घुमाने की घटना आये दिन अखबारों की सुर्खियों में दिखाई देती है। डायन कहकर औरत पर होने वाले अत्याचार के पीछे जहाँ

अंधविश्वास होता है, वहीं कुछ लोगों द्वारा अपने स्वार्थ सिद्धी हेतु इस अंधविश्वास का फायदा भी उठाया जाता है। शेली खत्री की 'केंसर' ऐसी ही कहानी है, जहाँ लेखिका ने उन लोगों की पोल खोली है जो ग्रामीणों के अंधविश्वास का फायदा उठाते हैं। कहानी में ग्रामीणों द्वारा तीन आदिवासी महिलाओं को डायन कहकर उन्हें नंगा कर घुमाया जाता है और मार-पीट कर मरवा दिया जाता है। आदिवासी समाज को अपने इस अंधविश्वास से बाहर आना होगा। इस समाज के अंदर ऐसी चेतना का विकास होना बहुत जरूरी है, अन्यथा अपने ही लोगों की कमजोरी का फायदा दूसरे उठाते रहेंगे और आदिवासी समाज अपने अंधविश्वास के कारण शोषित होता रहेगा। समय के साथ बदलाव जरूरी है। अतः आदिवासी विमर्श के अंतर्गत यह जरूरी है कि यह समाज वैज्ञानिक तौर पर भी आधुनिक बने। कहानी में अन्य लोगों द्वारा साजिश के तहत शराब विरोधी आदिवासी महिलाओं को डायन कहकर गाँव वालों द्वारा ही मरवा दिया जाता है, क्योंकि ये औरतें अपने गाँव में शराब बंदी के लिए सभी औरतों को जागरूक कर रही थी। सभ्य समाज के पुरुषों द्वारा चाल चलकर बकरी के मरने, बैल के मरने, एक बुढ़ी औरत के मरने जैसी घटनाओं को डायन का कहर बताकर उन महिलाओं को फँसाया जाता है। उन्हें डर है कि आदिवासी समाज की औरतें यदि शराब बंदी को लेकर एकजुट हो गई तो सबका दिवाला निकल जाएगा। शराब भट्टे का मालिक नरेन्द्र सिंह कहता भी है-

> वो आंगनवाड़ी सुकमी के घर पर किसी एन जी ओ ने बैठक कर शराब बंदी के लिए महिलाओं को उकसाया है। सुनी तो हमने भी है, हमारी औरत भी गई थी। आते ही गरज रही थी कि अबकि शराब पिया तो गाँव से सारा भट्ठा गायब करेंगे। सब महिलाएँ जाकर भट्ठा तोड़ेंगे। (खत्री 211)

वे सभी आदिवासी जागरूक महिलाओं को सबक सिखाना चाहते हैं। अगरसिंह जिन्होंने कितने ही आदिवासियों और दलितों की जमीन को हड़प कर भवन बनवाये थे, अपनी मूँछों पर हाथ फेरते हुए कहता है-

> उसका आदमी, उ एतवा मुंड साला गोविन्द जी के स्कूल में दो आने का चपरासी है- चपरासी। चपरासी उस पर आदिवासी, उसकी औरत की इतनी मजाल। गाँव घर में घूम-घूम कर ऐसा दुष्प्रचार कर रही है। इसे गाँव से निकलवाना ही होगा। (खत्री 212)

विडम्बना तो यह है कि उनकी इस साजिश में आदिवासी नेता पंचम टिग्गा भी शामिल है। ऐसे आदिवासी नेता ही आदिवासी के बीच छिपे दुश्मन होते हैं। यह वही नेता है जो हर बार आदिवासी के विकास, उसकी शिक्षा एवं अंधविश्वास के विरोध की बात करता है। वह सच्चाई जानते हुए भी अपने ही आदिवासी औरत पर डायन होने का आरोप लगाता है। वह कहता है-

> आज सबूत मिल गया। यह सुकमी ही है जो गाँव का बुरा चाह रही है। गाँव के जानवरों पर मंतर मार रही है। विष फेर रही है सब तरफ। अब इतना बल आ गया

है इसको कि काम करके गायब होना सीख ली है। हमारा बैल को खा गई। उसका मुर्गा मार लिया। अब कौन बचाएगा गाँव को। (खत्री 215)

अंधविश्वास से ग्रसित आदिवासी समाज उन लोगों के चाल में आ जाते हैं और हर घटना का कारण डायन के प्रकोप को मानकर उन तीनों महिलाओं को लात, घूसों और डंडों से पीटते हैं, नंगा करते हैं, मैला खिलाते हैं। उन निर्दोष महिलाओं पर तरह- तरह के जुल्म ढ़ाये जाते हैं। लेखिका इसका वर्णन करते हुए कहती है-

दोनों के शरीर से चीर कर सारे कपड़े अलग कर दिए गए। तभी कुछ लड़के घसीटते हुए शीला को ले आए। उसके शरीर पर सिर्फ पेटीकोट बचा था। बाकी कपड़े नोंच डाले गए थे। बीच में पटकते हुए पेटीकोट की डोरी खींच दी गई। लोग पील पड़े। उनके मुँह में पहले मल डाला गया। निगलने से मना करने पर डंडे से पीटा गया। गालियाँ दी गई, नाजुक अंगों पर प्रहार किया गया। खा साली। जब तक नहीं खाएगी जीता नहीं छोड़ेंगे। फिर इसी प्रकार मूत्र पिलाया गया। अब तक तीनों बेदम हो चुकी थी। होश बाकी नहीं था। (खत्री 221)

कहानी में अन्य लोगों के साथ स्वयं आदिवासी नेता का साथ देना आदिवासी समाज की मूल चुनौती है। क्षुद्र स्वार्थ के लिए वह अपने ही समाज के औरतों का विरोधी बन जाता है। ऐसे आदिवासी नेता से आदिवासियों का कितना विकास होगा, यह तो समय ही बताएगा। आदिवासी समुदाय को ऐसे नेताओं से बचने की जरूरत है। उसके असली चेहरे को जानने की जरूरत है। साथ ही अपने अंदर की अज्ञानता को दूर करना होगा। अपने ही लोगों द्वारा डायन कहकर उसका शोषण करने की घटना का वर्णन हाँसदा सौभेन्द्र शेखर की कहानी 'बासो-झी' में भी देखने को मिलता है। किन्तु यहाँ कहानी में वृद्ध महिला को डायन कहने वाला बाहरी न होकर अपने ही बेटे और बहुँए होते हैं। अपने ही बेटे और बहुँओं द्वारा वृद्ध महिला को डायन कहकर घर से निकाल दिया जाता है। कहानी में बसंती जिसने दिन-रात मेहनत कर अपने बच्चों को पाला-पोषा, वही बच्चे विवाहित होने पर अपनी ही माँ को डायन कहकर निकाल देते हैं। छोटे बच्चे के बीमार होने पर बसंती पर जादू-टोना करने का आरोप लगाया जाता है। अपने बेटे द्वारा ही माँ को बुरी तरह पीटा जाता है। लेखक दिखाते हैं-

उनके बेटों ने उनके एक कमरे का घर तहस-नहस कर डाला था। उनके बर्तन, उनके कपड़े, उनके मिट्टी के घड़े, उनका टिन का बक्सा सबकुछ फेंक दिया गया। अपनी माँ की झोपड़ी और उसके हृदय को इतना नुकशान पहुँचा करके भी वे संतुष्ट नहीं हुए, छोटे बेटे ने बसंती को बालों से घसीट कर जमीन पर फेंक दिया। फिर उनके पेट पर एक लात मारी। बूढ़ी औरत दर्द और दुःख से चीखी। (शेखर 130)

आज जहाँ आदिवासी समाज कई क्षेत्रों में आगे बढ़ रहा है। शिक्षित हो रहे हैं, बड़े-बड़े पदों पर पहुँच रहे हैं, वहाँ आज भी समाज के अंदर अंधविश्वास के कारण स्त्रियों पर हो रहे अत्याचार समाज को शर्मसार करता है। घर से निष्काषित होकर बसंती सोरेन बाबू के घर

नौकरानी बन जाती है। उनका परिवार पढ़ा-लिखा और सभ्य है, फिर भी जब उनके मुहल्ले में मायनो का पोता बुखार से गुजर जाता है, उसका दोष अप्रत्यक्ष रूप से बसंती पर लगाया जाता है। बसंती यह सब बर्दास्त नहीं कर पाती है और वह घर छोड़कर चली जाती है।

आदिवासी समाज में आज भी कुछ कुप्रथाएँ चल रही है, जिसका खामियाजा भी स्त्री को ही भुगतना पड़ता है। आदिवासी समाज में कुप्रथा है कि स्त्रियाँ कभी भी खेत में हल नहीं चलाती। स्त्रियों का खेत में हल चलाना अशुभ माना जाता है। फलस्वरूप कुछ भी गलत होने पर स्त्री को ही डायन कहकर उस पर अत्याचार किया जाता है। शेखर मल्लिक की कहानी 'डायनमारी' में आदिवासी समाज के ऐसी ही कुप्रथा को दिखाया गया है। कहानी में गुनिया मुर्मू जिसका पति शराबी है, वह खेत का काम नहीं करता है। खेत को जोतने का समय आ चुका है। अपने बच्चों के पेट की चिन्ता कर वह स्वयं हल चलाने चली जाती है। उसे खेत जोतते गोदवा का लड़का देख लेता है और पूरे गाँव में अपशकुन की आशंका व्यक्त करता है। ओझा को भी झूठी बात फैलाने का मौका मिल जाता है और वह गुनिया को डायन कह देता है। वह ऐलान करता है- ''देवी किसी को नहीं छोड़ेगी। हैजा फैलेगा... महामारी व्यापेगी इस डीह में.... एक तो कुकुर भी भौंकने को नहीं बचेगा... बहुत बड़ा अनर्थ हुआ, अकाज हुआ है (मल्लिक 129)।'' गुनिया को इसकी सजा दी जाती है। उसे बैल की जगह हल में जोतकर डंडा मार-मारकर खेत जुतवाया जाता है। पूरा गाँव तमाशबीन होकर देखता है। लेखक दिखाते हैं-

> अजीब – सा उग्रवाद पसरा हुआ था वातावरण में, और हरेक चेहरे पर डर के साथ-साथ एक आदिम संतोष...एक तसल्ली कि डीह पर अपने कुकर्म से आफत लाने वाली औरत को दंड दिया जा रहा था और रिवाजों के अनुसार इसतरह उसके कारण पूरे डीह पर आया हुआ दोष कट रहा था....या काटा जा रहा था.....अब डीह देवी माँ के प्रकोप से बच जाएगा। (मल्लिक 125)

21वीं सदी के दौर में भी एक समाज का इस तरह अंधविश्वास एवं कुप्रथाओं से घिरा होना, उस समाज के विकास में भारी बाधा है। इसके प्रति लेखक में गहरा आक्रोश है। क्योंकि यह कोई आदिम युग की घटना नहीं थी, बल्कि आज की घटना है। उसी कहानी में ओझा के कहने पर ही एक आदिवासी ने अपने पड़ोसी बुढ़िया का ही सर काटकर थाने पहुँच गया था। प्रधान के कहने पर गुनिया को खूँटे से बाँध कर पीटा गया था। उसके कपड़े तार-तार कर दिए गए थे। किन्तु यह अच्छी बात है कि आदिवासी समाज की नई पीढ़ी इस अत्याचार का विरोध करना जानती है। कहानी में भी गुनिया की बेटी माइनो अपनी माँ पर हुए जुल्म का विरोध करती है। वह अपने बाप को ललकारती है- ''बाबा गे... आयो को छूना मत... मार दूँगी (मल्लिक 138)।'' उसकी नजर हल के तरफ भी उठी थी और उसने भविष्य का फैसला भी कर लिया था। उसे विद्यालय के मास्टरनी की बात याद आती है-

> तुमको तुम्हारी जमीन, तुम्हारे जंगल, तुम्हारी पहचान और हक, तुम्हारी आत्मा और चेतना, तुम्हारे विरोध करने की शक्ति को हासिल करने, तुम्हारे ऊपर उठने और आदमी होने की सभी सम्भावनाओं को कुचल देना चाहते हैं....ये लोग तुम्हारे बीच भी है, और जिनको तुम लोग दिकू कहते हो, वे भी....।(मल्लिक 138)

इन्हीं सब बातों से माइनो जैसी नई पीढ़ी में चेतना विकसित हो रही है। अश्विनी कुमार पंकज की कहानी 'जोजोहातु में आषाढ़ का एक दिन' में भी सलगी मुंडा द्वारा हल चलाने की घटना को लेकर उसका देवर उसे डायन कहकर मरवा देना चाहता है ताकि उसकी जमीन और खेत पर उसका कब्जा हो जाए। उसकी नजर उसके देह पर भी थी। सलगी मुंडा द्वारा खेत जोतने पर वह कहता है- ''डायन... भाई को खा गई... अब समूचे गाँव का नाश कर देना चाहती है।....अपनी ही तरह सबको उजाड़ देना चाहती है...। खनगी कहीं की..(पंकज 91)।'' किन्तु माइनो की तरह ही सलगी चुप नहीं रहती है। अपने ऊपर किए गए शोषण और डायन वाले आरोप का प्रतिकार करती है। वह अपने देवर मंगल पर पलटवार करती है और उसकी छाती पर बैठकर धड़ाधड़ कुटते हुए कहती है-

> हां रे निरबंसिया... चोट्टा...मैं हूँ डायन...हां हूँ डायन... तेरे साथ-साथ आज उन सब को खा जाऊँगी..। हरामजादा कहीं का... बड़ा मरद बनता है... अकेली औरत और बच्ची पर जोर दिखाता है...भंड़ुवा.... साला.... आज खून पी जाऊँगी.... डायन बोलता है हरामी.... ले देख... देख नामर्द... कैसी होती है डायन.... देख...देख...। (पंकज 92)

वह अकेले सबका प्रतिकार करना जानती है। अपने देवर के सामने हार नहीं मानती है। अकेले सबसे लड़ जाती है।

5.5.4. स्त्री-शोषण एवं प्रतिरोध का स्वरूपः

जहाँ तक स्त्री शोषण की बात है, आज आदिवासी समाज में दो घटनाएँ आम है। एक नौकरी के झाँसे में आकर आदिवासी स्त्रियों का शहर की ओर पलायन करना, जहाँ एजेंट के माध्यम से स्त्रियों को शहर में खरीदा एवं बेचा जाता है, उसके साथ शारीरिक एवं मानसिक शोषण होता है तो दूसरी घटना है कि आज आदिवासी शिक्षित होने लगे हैं। शहर में आदिवासी स्त्रियों पर शोषण रोकने के लिए कई एन. जी. ओ. भी कार्यरत है। आज की नव-युवा पीढ़ी इस समस्या से मुखातिब भी है। अब आदिवासी शोषण के विरूद्ध आवाज उठाना जानते हैं। अनुज लुगुन की कहानी 'हाजिरी' में लेखक ने आदिवासी जीवन की इन्हीं दो सच्चाई की अभिव्यक्ति की है। कहानी में मास्टर जी आदिवासी इलाके में पिछले 25 सालों से पढ़ा रहे हैं। उनका मानना है कि शिक्षा द्वारा ही आदिवासी अपने हक की लड़ाई लड़ सकते हैं। लेखक लिखते हैं- ''उनका मानना है कि जब तक शिक्षा का अलख नहीं जगेगा आदिवासी ठगे जाते रहेंगे। जब तक उनके अंदर शिक्षा का आत्म विश्वास नहीं होगा वे बाहरी दुनिया में अपनी बात नहीं कह सकेंगे। जमीन, जंगल सब लुट जाएगा बिना शिक्षा

के (लुगुन 118)।'' किन्तु यह भी सच है कि एक ओर जहाँ आज आदिवासी शिक्षित हो रहे हैं, वहीं शिक्षित आदिवासी अपने लोगों से ही कटने लगे हैं। वे शहर जाकर बसने लगे हैं। मास्टर जी को यही गम है कि केवल कास्ट सर्टिफिकेट के लिए ही आदिवासी गाँव आते हैं। उनकी क्लास में जोलेन मुंडा और सनियारों तोपनो का अनुपस्थित होना उसे चिंतित करता है। सनियारो दिल्ली चली गई है और जोलेन जंगल पार्टी में शामिल हो गया है। अपने ही जमीन पर आदिवासी विद्रोही बनकर मारे-मारे फिर रहे हैं। सरकार भी इन आदिवासियों का इनकाउंटर करवा रही है। अखबार में खबर पढ़कर वे विचलित हो जाते हैं -

> पहली खबर फ्रंट पेज पर थी- मुठभेड़ में तीन नक्सली ढ़ेर और दूसरी खबर थी- दिल्ली में आदिवासी लड़कियों की तस्करी का भंड़ाफोर। एक ही दिन के अखबार में ये दोनों खबरें थी। खबर पढ़ते ही उन्हें दो लोग अनायास याद आए- जोलेन मुंडा और सनियारों। (लुगुन 122)

कहानी में लेखक दो खबरों के माध्यम से आदिवासी समाज की आज की सच्चाई बयाँ कर रहे हैं। आज या तो आदिवासी स्त्रियाँ नौकरी के नाम पर तस्करी के शिकार हो जाती है या आदिवासी पुरुष किसी विद्रोही दल में शामिल हो जाते हैं। आदिवासी समाज की नई पीढ़ी का जीवन बर्बाद हो जाता है। अतः आदिवासी समाज को शिक्षा के महत्व को समझते हुए अपने समाज की नई संरचना करने की जरूरत है।

यह सच है कि आदिवासी स्त्रियाँ बहुत मेहनती और हिम्मतवाली होती है। राकेश कुमार सिंह की कहानी 'अगिनपाखी' में ऐसी आदिवासी स्त्री है जिसे तस्करी कर बेच दिया जाता है, किन्तु वह परिस्थितियों से मुकाबला करती है। हर संकट का सामना करती है। कहानी में मनबसिया एजेंट बिसुन झा के झाँसे में आकर शहर में बेंच दी जाती है। आदिवासी समाज से हर साल हजारों लड़कियाँ ऐसे एजेंट के चक्कर में आकर देह व्यापार में लिप्त हो जाती है। भागने की कोशिश करने पर एजेंटों द्वारा ही मरवा दिया जाता है। रेल यात्रा के दौरान मनबसिया अपनी आप बीती बताती है कि किस प्रकार पुलिस की निगरानी में ही देह का व्यापार चलाया जाता है। उसके साथ और नौ आदिवासी लड़कियाँ दिल्ली आई थी, जिसमें से दो तीन लड़कियों को कश्मीर भेज दिया गया। इन लड़कियाँ का कोई अता-पता तक नहीं चल पाया। मनबसिया पर कई जुल्म होता है। वह जिस घर में काम करती है उसी घर का मालिक उसे गर्भवती बना देता है। गर्भ नष्ट करने से मना करने पर जबरन उसकी शादी एक नेपाली नौकर से कर दिया जाता है जो बाद में भाग खड़ा होता है। मनबसिया के बच्चे को उसके साथ न रखकर कुत्ते के साथ रखा जाता है। उसका बच्चा चन्दा मुर्मू को साइकोफैशी की बीमारी हो जाती है। वह कुत्ते की भाषा बोलने लगता है। कहानी में लेखक दिखाते हैं- ''चन्दा को कुत्तों के साथ खाना मिलता था। कुत्तों के पिंजरे में सटकर सोता था चन्दा। कभी भटक कर घर में न उतरे अतः चन्दा के गले में भी कुत्तों की भाँति पट्टा-जंजीर डाली जाने लगी थी (सिंह 87)।'' मनबसिया हार नहीं मानती है और किसी तरह एक दिन वहाँ से भाग निकलती है। ट्रेन में भी आर. पी. एफ द्वारा घूस माँगने

पर वह शेरनी की तरह लड़ती है जबकि उसकी गोद में दो बच्चा और पेट में एक बच्चा है। एक अजीब सी ताकत है कि आज वह हर मुसिबत को झेलते हुए छोटा-मोटा व्यवसाय कर अपनी जिन्दगी चला रही है। यह आदिवासी स्त्री की ताकत और प्रतिरोध का नतीजा है।

आदिवासी समाज विस्थापित होने के बावजूद आज बदलता नजर आ रहा है। जहाँ तक स्त्री का सवाल है, आज शिक्षित आदिवासी स्त्रियों की कमी नहीं है। वह हर क्षेत्र में अपना परचम लहरा रही है। प्रतिरोध की संस्कृति का विकास आदिवासी स्त्रियों में हो रहा है। आदिवासी स्त्रियों में आने वाली चेतना को ही रोज केरकेट्टा ने अपनी कहानी 'प्रतिरोध' में दिखाई है। कहानी में लेखिका ने आदिवासी गाँव में स्त्रियों पर लगाए गए परम्परागत बंदिशों का प्रतिरोध दिखाया है। कहानी में गाँव की आदिवासी लड़कियाँ रोज ट्रेन में सफर कर दातुन-पत्ता, दोना- पत्तल आदि बेचने शहर जाती है। शहर में बच्चों के स्कूल जाकर पढ़ते देखकर उनके मन में भी चेतना जगती है। स्कूल में लड़कियों के कराटे खेलते देखकर, कबड्डी का खेल देखकर उनके अंदर भी उन्मुक्त होकर जीवन जीने की इच्छा का प्रसार होता है। अपने गाँव जाकर ये लड़कियाँ साड़ी पहनकर फुटबॉल खेलती है। वह सब कुछ भूल जाती है। जहाँ मरजी वहाँ बॉल मारती है। पूरा गाँव उन लड़कियों के खेल को देखने के लिए उमड़ पड़ता है। लेखिका लिखती है- ''बातें बूढ़े- बूढियों के कानों तक पहुँची, वे भी खेल देखने आ गए। अपने ही गाँव की बेटियों को मैदान में दौड़ते देखकर थोड़ा हँसे, प्रफुल्लित हुए। नाराज कम हुए, डाँटा बिल्कुल नहीं। वे तो हैरत में थे कि उनके गाँव की बेटियाँ ऐसा भी सोच सकती है (केरकेट्टा 33)।'' लड़कियों ने अपने हक के लिए प्रतिरोध किया और बुजुर्गों द्वारा उसे सराहा गया। यह परिवर्तन की निशानी है। कहानी में सुशिला के पिताजी का कहना सही है-

> हमलोगों ने भी ध्यान नहीं दिया, जमाना बदल गया है, हमें अपना व्यवहार बदलना पड़ेगा। ये लोग शहर जाती है, प्रतिदिन देखती है कि लड़कियाँ पढ़ती है, पढ़ाती हैं। शहर से कुछ अच्छा सीखकर आती है तो अच्छी बात है, हमारा गाँव आगे बढ़ेगा। (केरकेट्टा 34)

इन आदिवासी बहुल इलाके में स्त्रियों को जब अपना हक मिलेगा, शिक्षा का प्रसार होगा, गाँव के लोगों में समय के साथ बदलने की चेतना का विकास होगा तभी आदिवासी समुदाय का वास्तविक विकास संभव हो सकेगा। आज हर मुसिबत का सामना करते हुए आदिवासी स्त्रियाँ शिक्षा प्राप्त कर रही है। अपने गाँव से कई किलोमीटर दूर जाकर भी अब आदिवासी बच्चे पढ़ने लगे है। रोज केरकेट्टा ने अपनी कहानी 'जिद' में आदिवासी स्त्री कालेंग के शिक्षा प्राप्त करने की जिद एवं उसके जीवन संघर्ष को बताई है। कालेंग सात किलोमीटर पहाड़ी रास्ते पर चलकर स्कूल पढ़ने जाती है। बी. ए. की पढ़ाई के लिए वह संघर्ष करती है और अपने गाँव से 18 किलोमीटर दूर एक कमरा किराया लेकर सहेलियों के साथ पढ़ाई करती है। लेखिका लिखती है-

> सात किलोमीटर पैदल चलकर नीचे खंजालोया स्कूल पहुँचती। दिन भर पढ़ाई कर वापसी में भूखे पेट पहाड़ी पर चढ़ना पड़ता। कभी-कभी एक मुट्ठी चावल चबाते हुए लगभग दौड़ते हुए रास्ता तय करती। जंगल में सब एक दूसरे को आवाज देते हुए पहाड़ी चढ़ते। कोई पीछे न छूट जाए, आपस में इसका सब ख्याल रखते, क्योंकि पूरा रास्ता बंदरों, गीदड़ों, भालुओं और लुटेरों के आतंक के साए में हैं। आज भी रास्ता वैसा ही दुर्गम है। (केरकेट्टा 74)

इतना कष्ट कर शिक्षित होने के बावजूद उसे कई जगहों पर लज्जित किया जाता है। वह सर्व शिक्षा अभियान में दिहाड़ी मजदूर के रूप में काम करती है। वहाँ सवर्ण समाज के अन्य अफसर उसे कोल्हिन कहकर चिढ़ाते तो कभी उसकी शिक्षा पर मजाक उड़ाते। वह सब सहकर और झगड़कर काम करती। कभी हार नहीं मानती। वह यह सोचती- ''यदि यह अभियान सबको शिक्षित करने का है, तो वंचितों को उनका हक मिलना चाहिए। मैं अपने गाँव जैसे कई गाँवों तक स्वयं शिक्षा को पहुँचाऊँगी। अब बाकी बचे लोगों को मेरे जैसा कष्ट नहीं उठाना चाहिए (केरकेट्टा 76)।'' साहब लोग कालेंग का छह महिने का वेतन अटकाकर रख देते हैं। उसे ग्रेजुएट कालेंग कहकर पुकारे जाने पर वह पलटकर जवाब देती है- ''सर, मुझे ग्रेजुएट- ग्रेजुएट कहकर क्यों चिढ़ाते रहते हैं? मुझे विश्वविद्यालय ने सर्टिफिकेट दिया है। मैंने उसे खरीदा नहीं है (केरकेट्टा 77)।'' आदिवासी लोगों के कार्यालयों में ऐसे उपहास का पात्र बनते देखना आम बात है। आरक्षण और अपनी काबियत के कारण आदिवासी बड़े-बड़े पदों पर पहुँचे हुए है, भले सवर्ण समाज के लिए यह आँख की किरकिरी हो, लेकिन सच यह है कि समय बदल रहा है।

संविधान में आदिवासी समाज को अधिकार दिया गया है, आज वे अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ रहे हैं। नव-युवा वर्ग पढ़- लिख कर चेतनशील बन रहा है। चुनाव की राजनीति उसे समझ आने लगी है। अश्विनी पंकज की कहानी 'नदी जो बरसाती थी' में आदिवासी युवा पीढ़ी का कॉलेज के छात्र चुनाव में अग्रसर होने एवं अपना प्रतिनिधित्व दिखाने की चेतना को दिखाया गया है। कहानी में आदिवासी स्त्री अपनी जातिगत पहचान की रक्षा के लिए चुनाव में खड़ी होती है। कहानी में प्रेम के नाम पर सुकांति का शारीरिक शोषण होता है, किन्तु अफरोज द्वारा चांटा मारे जाने पर उसे अपने अस्तित्व का बोध होता है। असम में आदिवासी प्रदर्शनकारियों पर हुए बर्बर हमले की खबर से वह गुस्से से भर जाती है। उसके अंदर अपनी जाति एवं समाज की रक्षा की चेतना का विकास होता है और वह छात्रासंघ के अध्यक्ष पद के लिए चुनाव में अपना पर्चा भर देती है। उसका भाई चुनाव की राजनीति पर बात करते हुए कहता है-

> छात्र संघ के चुनाव को हल्के से नहीं लेना चाहिए। परिसीमन की आड़ में आदिवासी सीटें कम की जा रही है। संविधान में मिले आदिवासी अधिकारों को सामाजिक-राजनीतिक तौर पर संकुचित किया जा रहा है। इसलिए छात्रासंघ के चुनाव में मजबूत आदिवासी दावेदारी तथा उपस्थिति जरूरी है। (पंकज 60)

यह आदिवासी समाज का वह युवा पीढ़ी है जिसे अपने अधिकार की पहचान है और वह अपने अधिकारों के लिए लड़ना जानता है।

5.5.5 अंतर्विरोध की अभिव्यक्तिः

एक ओर जहाँ आदिवासी विमर्श के अंतर्गत आदिवासी अपने हक की बात कर रहे हैं, वहीं आदिवासी समाज के अंदर भी अंतर्विरोध देखा जाने लगा है। आदिवासी समाज पढ़- लिख कर आगे तो बढ़ रहा है, लेकिन कहीं न कहीं वह अपने समाज से कटने भी लगा है। एक शिक्षित आदिवासी अब खुद को आदिवासी कहे जाने से बचना चाहता है। आदिवासी के अधिकारों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई, आज नेता इन्हीं आदिवासियों के प्रतिनिधि बनकर संसद एवं विधान सभाओं में पहुँचते हैं, वे वहाँ जाकर सवर्णों के बीच के हो जाते हैं, फिर उनकों अपनी जाति एवं लोगों की चिन्ता नहीं होती है। वे अपना पेट भरने में लग जाते हैं। सी. भास्कर राव की कहानी 'जोहार, गोपू दा!' कहानी में ऐसे ही आदिवासी युवक है, जिसे उसके माँ- बाप ने कष्ट उठाकर पढ़ाया ताकि वह शोषण से मुक्त हो सके, सभ्य समाज का हिस्सा बन सके। कहानी में गोपेश्वर हेम्ब्रम अपने गाँव के आदिवासी युवाओं का आदर्श तो हैं, किन्तु गोपेश्वर स्वयं इतना बदल जाता है कि वह अपने बच्चों के नाम से हेम्ब्रम सरनेम भी हटा देता है। वह यह सब इसलिए करता है ताकि गैर- आदिवासी की नजर में उसके लिए हिकारत भरी दृष्टि नहीं हो। वह अपनी आदिवासी पहचान को मिटाना चाहता है। लेखक दिखाते हैं-

> अब तो किसी आदिवासी को देखकर ही उन्हें चिढ़ होती है। उनकी ओर वे उसी दृष्टि से, हिकारत और तिरस्कार के साथ देखते हैं, जिस दृष्टि से कभी उन्हें गैर-आदिवासी देखते थे। समर्थ होने पर भी, उन्होंने एक भी आदिवासी को दफ्तर में नियुक्त नहीं होने दिया ताकि वह भाईचारा न जतला सके और दूसरो में यह एहसास जिन्दा न रखे कि ऊँचा अफसर होने पर भी, आखिर मि. गोपेश्वर हेम्ब्रम है तो एक आदिवासी ही। (राव 35)

वह अपने ही आदिवासी चौकीदार की अर्जी को फेंक देता है। उसके आदिवासी भाई होने की बात कहने पर उसे वह ऑफिस से निकाल कर ही दम लेता है। अपनी पहचान से दूर भागना चाहते हुए भी नहीं भाग पाता है और एक दिन पार्टी में उसकी पोल खुल जाती है। वह खुद सोचता है कि वह कितना बदल चुका है। कहानी में वह कहता है-

> क्या कोई भी इस तरह वह सब कुछ मिटा सकता है? आखिर क्यों वे अपनी वह पहचान मिटाने में लगे हैं, जिस पहचान पर ही कभी उन्हें गर्व था कि वे एक आदिवासी होकर भी अन्यों की टक्कर में खड़े हो सके, ताल ठोंककर, एक चुनौती बनकर? अब क्या हो गया उन्हें? क्या हो गया यह सब? कैसे?(राव 42)

आदिवासी पहचान एवं अस्तित्व की लड़ाई तभी सार्थक है जब ऊँचे पद पर पहुँचे आदिवासी वर्ग के हाथों आन्दोलन की मशाल हो। अगर वे ही अपनी जाति से कतराने लगे

तो उनके अधिकारों की लड़ाई कौन लड़ेगा? मि. गोपेश्वर को अपने अस्तित्व की पहचान तब होती है जब साक्षात्कार के लिए आए एक आदिवासी युवक उसे जोहार गोपू दा कहकर पुकारता है। गोपेश्वर आदिवासी युवकों का आदर्श है, इसका एहसास गोपेश्वर को उस युवक के कथनों से होता है-

> हमारे आदर्श पुरुष आप ही थे, गोपू दा। आपके उन्हीं आदर्शों को लेकर आदिवासियों की हमारी यह युवा पीढ़ी आगे जा रही है, लेकिन इस बात का ध्यान रखते हुए कि आगे बढने का अर्थ सिर्फ अपने को आगे बढ़ाना नहीं और न ही अपने जड़ों से कट जाना है। (राव 46)

आज के आदिवासी पीढ़ी को यह समझना होगा कि वह आदिवासी समाज का हिस्सा है। सभ्य बनने का अर्थ अपने जड़ों से कटना नहीं है, बल्कि उसके जिम्मे तो पूरे आदिवासी की पीढ़ी है। आज आदिवासी समाज के युवक पढ़ लिख कर अपने ही समाज से कट जाते हैं। आरक्षण का फायदा लेकर नेता संसद तक तो पहुँच जाते हैं, किन्तु वहाँ पहुँचकर वे भी उसी भीड़ का हिस्सा हो जाते हैं जिस भीड़ ने हजारों वर्षों तक इस समाज का शोषण किया है। संविधान लागू होने के बाद आरक्षण के आधार पर आदिवासी प्रतिनिधियों के लिए भी सीटें आरक्षित की गई, किन्तु ये ही आदिवासी प्रतिनिधी चुनाव जीतकर बड़े लोग बन जाते हैं और साधारण जनता की स्थिति जैसी की तैसी बनी रहती है। ऐसी परिस्थिति को 'रामदयाल मुंडा' ने अपनी कहानी 'खरगोशों का कष्ट' कहानी के माध्यम से अभिव्यक्ति देने की कोशिश की है। कहानी में खरगोशों के कष्टों को दूर करने के लिए एक मोटे खरगोश को खिला – पिला कर शेर की खाल ओढ़ाकर शेर के बीच भेजा जाता है, ताकि वे शेर की चाल को समझ सके, किन्तु वह खरगोश शेर के बीच कुछ दिन रहते ही खुद को शेर समझने लगता है और अपनी ही जाति के खरगोश से खुद को अलग समझने लगता है। लेखक दिखाते हैं-

> खरगोश को सिंहों के राजा के साथ रहते-रहते उसी की तरह सुख में रहने की आदत पड़ गई। धीरे-धीरे वह मन में चाहने लगा कि काश! मैं हमेशा ऐसे ही सुख में रहता। कभी-कभी वह सोचता कि कैसे वह अपने देश में गरीबी में रहता है और कैसे उसके सारे भाई-बंधु विपत्ति में है। लेकिन उसे सुख और आराम में रहने की ऐसी आदत हो गई कि वह भूल गया कि वह किसलिए सिंहों के राजा के यहाँ आया था। (मुंडा 20)

वह खरगोश जब वापस आया तो उसके सुर बदले हुए थे। अन्य खरगोशों ने उसकी आवभगत की कि उनका नेता आ गया। वे कहते है-

> चूँकि वे हमसे बहुत अधिक शक्तिशाली हैं, इसलिए इस रास्ते को अपनाकर हम अपना राज्य नहीं पा सकेंगे। इसलिए मेरा विचार है कि अब हमें उनसे मिलकर ही

अलग राज्य लेने की कोशिश करनी चाहिए। यही सब विचार करके मैंने इसबार सिंहों के राजा को कह दिया कि हम आपहीं के साथ है। (मुंडा 21)

खरगोश यह समझ ही नहीं पा रहे थे कि उसका आदमी कैसे बदल गया। उसके मुँह से खरगोशों की भाषा भी कुछ अजीब सी लगती थी। कहानी प्रतिकात्मक है और इसके द्वारा लेखक अपने ही लोगों पर व्यंग्य करते हुए कह रहे हैं कि ये वही लोग है जो हमारे प्रतिनिधि बनकर संसद में पहुँच जाते हैं और वहाँ पहुँचकर उसी व्यवस्था का एक हिस्सा बन कर रह जाते हैं।

5.6. निष्कर्षः

इसप्रकार हम देखते हैं कि 21 वीं सदी के दूसरे दशक के दौर में जैसी कहानियाँ आ रही है, उसमें आदिवासी जाति के बिखराव, शोषण और विस्थापन के दर्द की अभिव्यक्त हो रही है। यह अलग बात है कि मूल रूप से हिन्दी भाषा में आदिवासी विमर्श की बहुत कम कहानियाँ आ पाई है। ज्यादातर कहानियाँ आदिवासियों की अपनी कई बोलियों में रचित है। भारत वर्ष में हजारों आदिवासी जातियाँ है। उनकी उतनी ही बोलियाँ भी है। आदिवासी विमर्श के अंतर्गत उनके प्रतिरोध की आवाज को उनकी ही भाषा में अधिक से अधिक उठाया जा रहा है। पूरब, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण, भारत के हर कोने में आदिवासी सभ्यता एवं संस्कृति फल-फूल रही है। भारत के हर क्षेत्र में उनके अंदर विद्रोह और विरोध की भावना देखी जा सकती है। जहाँ तक विस्थापन की बात है। सबसे ज्यादा विस्थापित कोई है तो वह आदिवासी समुदाय ही है। इस दौर की कहानियों में आदिवासी जीवन के हर पहलु को पकड़ने की पुरजोर कोशिश की गई है।

संदर्भ - ग्रंथ

1. तुमराम, विनायक. 'आदिवासी की अब तक की साहित्य यात्रा', *आदिवासी साहित्य यात्रा.* सं- रमणिका गुप्ता. राधाकृष्ण प्रकाशन, 2016.
2. टेटे, वंदना. *वाचिकता.* राधाकृष्ण पेपरबैक्स, 2020.
3. कमलेश, कुमार. *आदिवासी विमर्श अवधारणा और आन्दोलन.* तेज प्रकाशन, 2014.
4. सोनवणे, वाहरू. 'आज अगर खामोश रहे, तो कल सन्नाटा छाएगा,' *आदिवासी साहित्य यात्रा.* सं- रमणिका गुप्ता. राधाकृष्ण प्रकाशन, 2016.
5. मुंडा, रामदयाल. 'खरगोशों का कष्ट', *लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ.* सं-वंदना टेटे. प्रभात प्रकाशन, 2017.
6. तरूण, वाल्टर भेंगरा. 'संगी' *लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ.* सं-वंदना टेटे. प्रभात प्रकाशन, 2017.
7. मुंडा, मंगल सिंह. 'धोखा', *लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ.* सं-वंदना टेटे. प्रभात प्रकाशन, 2017.
8. टुडू, कृष्ण चंद्र. 'एक बित्ता जमीन', *लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ.* सं-वंदना टेटे. प्रभात प्रकाशन, 2017.
9. गायकवाड़, लक्षमण. 'बंदूक्या', *लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ.* सं-वंदना टेटे. प्रभात प्रकाशन, 2017.
10. केरकट्टा, रोज. 'फिक्सड डिपोजिट', *लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ.* सं-वंदना टेटे. प्रभात प्रकाशन, 2017.
11. कुजूर, फ्रांसिसका. 'मूसल', *लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ.* सं-वंदना टेटे. प्रभात प्रकाशन, 2017.
12. बेदिया, रूपलाल. 'अमावश की रात में भगजोगनी', *लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ.* सं-वंदना टेटे. प्रभात प्रकाशन, 2017.
13. गोंड, जनार्दन. 'भंडुआ', *लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ.* सं-वंदना टेटे. प्रभात प्रकाशन, 2017.
14. हेम्ब्रम, सुंदर मनोज. 'रात वाली बंगाल की आखिरी बस', *लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ.* सं-वंदना टेटे. प्रभात प्रकाशन, 2017.
15. केरकेट्टा, रोज. 'प्रतिरोध'. *बिरुवार गमछा तथा अन्य कहानियाँ.* प्रभात प्रकाशन, 2017.
16. केरकेट्टा, रोज. 'जिद'. *बिरुवार गमछा तथा अन्य कहानियाँ.* प्रभात प्रकाशन, 2017.
17. केरकेट्टा, रोज. 'बड़ा आदमी'. *बिरुवार गमछा तथा अन्य कहानियाँ.* प्रभात प्रकाशन, 2017.

18. केरकेट्टा, रोज. 'बिरुवार गमछा'. *बिरुवार गमछा तथा अन्य कहानियाँ.* प्रभात प्रकाशन, 2017.
19. शेखर, हाँसदा सौभेन्द्र. 'बासो – झी'. *आदिवासी नहीं नाचेंगे.* राजपाल एन्ड सन्ज, 2018.
20. शेखर, हाँसदा सौभेन्द्र. 'प्रवास का महीना'. *आदिवासी नहीं नाचेंगे.* राजपाल एन्ड सन्ज, 2018.
21. शेखर, हाँसदा सौभेन्द्र. 'आदिवासी नहीं नाचेंगे'. *आदिवासी नहीं नाचेंगे.* राजपाल एन्ड सन्ज, 2018.
22. पंकज, अश्विनी कुमार. 'अपनी कब्र खोदने वाले'. *पेनाल्टी कॉर्नर.* नागपुरी संस्थान.
23. पंकज, अश्विनी कुमार. 'नदी जो बरसाती थी'. *पेनाल्टी कॉर्नर.* नागपुरी संस्थान.
24. पंकज, अश्विनी कुमार. 'जोजोहातु में आषाढ़ का एक दिन'. *पेनाल्टी कॉर्नर.* नागपुरी संस्थान.
25. मित्र, पंकज. 'सेन्दरा'. *माँदर पर थाप.* सं. अजय मेहताब. अनुज्ञा. 2019.
26. मीणा, हरिराम. 'जंगल में आतंक'. *माँदर पर थाप* (सं. अजय मेहताब). अनुज्ञा. 2019.
27. राव, सी. भास्कर. 'जोहार, गोपू दा!'. *माँदर पर थाप* (सं. अजय मेहताब). अनुज्ञा. 2019.
28. सिंह, राकेश कुमार. 'अगिन पाखी'. *माँदर पर थाप* (सं. अजय मेहताब). अनुज्ञा. 2019.
29. लुगुन, अनुज. 'हाजिरी'. *माँदर पर थाप* (सं. अजय मेहताब). अनुज्ञा. 2019.
30. कमलेश. 'पत्थलगड़ी'. *माँदर पर थाप* (सं. अजय मेहताब). अनुज्ञा. 2019.
31. मल्लिक, शेखर. 'डायनमारी'. *माँदर पर थाप* (सं. अजय मेहताब). अनुज्ञा. 2019.

पत्रिकाएँ

1. खत्री, शेली. 'कैंसर'. *पहल,* अंक- 105, नवम्बर-2016.
2. बख्शी, संजीव. 'अहा! बिजली'. *पहल,* अंक- 114, नवम्बर-2018.
3. वैध, मनीष. 'अगन मानुष'. *पहल,* अंक- 119, अक्टुबर-2019.

इन्टरनेट

1. मित्र, पंकज. 'मंगरा मॉल'. *Jankipul.com,* May 3, 2020.

छठवां अध्याय

वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में अपेक्षित विमर्श

छठवां अध्याय

वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में अपेक्षित विमर्श

भूमिकाः

अपेक्षित विमर्श के अंतर्गत वे सारे विमर्श आते हैं, जो विमर्श के रूप में अभी उभर रहे हैं। बहुत सारे विमर्श आज एक समस्या के रूप में है, उसे विमर्श के रूप में उभरने की जरूरत है। पर्यावरण, बाल, घरेलू कामगार, विस्थापन जैसे कई ऐसे विमर्श है जिसकी ओर विद्वानों का ध्यान कम जाता है। 21वीं सदी के कई कहानीकारों ने अपनी कहानियों के माध्यम से इन अपेक्षित विमर्श को हवा देने का काम किया है। ये सारे विमर्श अब केवल समस्या न होकर चिंतन और मनन का क्षेत्र बनता जा रहा हैं। अतः इस अध्याय के अंतर्गत 21 वीं सदी के दूसरे दशक की कहानियों में चित्रित इन अपेक्षित विमर्शों को समझने का प्रयास किया गया है। इन विमर्शों को निम्नलिखित क्रमानुसार समझा जा सकता है।

6.1. पर्यावरण विमर्शः

सृष्टि के निर्माण के साथ ही मनुष्य और प्रकृति का गहरा रिश्ता रहा है, किन्तु जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया, हमने अपने स्वार्थ हेतु, जीवन को सुखमय बनाने हेतु प्रकृति को क्षति पहुँचाना शुरु कर दिया। आज दुनिया भर के लोग पर्यावरण संकट को लेकर चिंतित है। मनुष्य द्वारा पर्यावरण पर सीधे हस्तक्षेप ने प्राकृतिक विपत्तियों को जन्म दिया है। पर्यावरण के प्रति जागरूकता के कारण सरकारी ही नहीं, निजी संस्थाओं में भी पर्यावरण विमर्श पर सेमिनारों एवं सभाओं का आयोजन हो रहा है। आज पर्यावरणीय विध्वंश हमारे लिए घातक सिद्ध होता जा रहा है। पर्यावरण विमर्श के आलोक में पर्यावरण और साहित्य के सहसंबंध पर विचार किया जाता है। साहित्य में सवाल पैदा किया जाता है, पर्यावरणीय विध्वंश पर चिंता जाहिर की जाती है और पर्यावरण की सुरक्षा के लिए चिंतन-मनन किया जाता है।

पर्यावरण शब्द अंग्रेजी के Environment शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है। इनवारमेंट के लिए कभी-कभी परिस्थिति या वातावरण शब्द का प्रयोग भी किया जाता है। यह शब्द फ्रेंच शब्द Environia से लिया गया है, जिसका सामान्य अर्थ है- आस - पास।

'मानक हिन्दी कोश' के अनुसार- ''पर्यावरण (सं. पारि + आवरण) किसी व्यक्ति या विषय की परिस्थिति को कहा जाता है (431)।''

दामोदर शर्मा के अनुसार-

पर्यावरण शब्द दो शब्दों 'परि + आवरण' से मिलकर बना है। जिसका अर्थ है - परि = चारों तरफ, आवरण = घेरा, यानी प्रकृति में जो भी हमारे चारों ओर परिलक्षित

होता है- वायु, जल, मृदा, पेड़-पौधे, प्राणी आदि- सभी प्रकार के अंग है और इन्हीं से पर्यावरण की रचना होती है। (शर्मा 11)

'मानविकी पारिभाषिक कोश' के अनुसार पर्यावरण का अर्थ है – ''भौतिक, रासायनिक, जैव तथा सामाजिक तत्वों की वह समग्रता जिसमें व्यक्ति सन्निहित है और जिसका जीवन पर विशाल प्रभाव पड़ता है (104)।'' अतः पर्यावरण का अर्थ है वह परिवेश जिसमें जीव रहते हैं। यह जैविक और अजैविक दोनों को दर्शाता है। अर्थात् यह भौतिक और जैविक सभी तत्वों और उसके बीच के संबंधों को दर्शाता है। पर्यावरण का संबंध उस परिवेश से है जो हमारे चारों तरफ है, जहाँ हम रहते हैं और जिसके कारण हम जीवित है।

पर्यावरण विमर्श आज हमारे लिए अति आवश्यक विषय बन चुका है। आज हम पर्यावरण के प्रश्नों से भाग नहीं सकते। हमारे उपभोग की प्रवृत्ति इतना बढ़ गई है कि इसका सारा प्रभाव प्रकृति पर पड़ रहा है। अपने उपभोग के लिए हम प्राकृतिक संसाधनों का धरल्ले से प्रयोग कर रहे हैं। जल, जंगल, वायु, जमीन, आकाश जैसे प्रकृति प्रदत्त चीजों का हमने इतना दुरूपयोग किया है कि ये सारे आज संकट में आ गये हैं। 'डायलेक्टिक्स ऑव नेचर' पुस्तक में प्रकृति से छेड़खानी के दुष्परिणाम बताते हुए फ्रेडरिक एंगेल्स कहते हैं –

> प्रकृति पर मनुष्य की विजय को लेकर ज्यादा खुश होने की जरूरत नहीं, क्योंकि ऐसी हर जीत हमसे अपना बदला लेती है। पहली बार तो हमें वही परिणाम मिलता है जो हमने चाहा था, लेकिन दूसरी और तीसरी दफा इसके अप्रत्याशित प्रभाव दिखाई पड़ते हैं जो पहली बार के प्रत्याशित प्रभाव का प्रायः निषेध कर देते हैं। (एंगेल्स 201)

प्रकृति का संकट में आना हमारे अस्तित्व के लिए बड़ा खतरनाक है। हमने गहरी नींद से जगने में बहुत देर कर दी है। हमने अपने कर्मों से बहुत कुछ बर्बाद कर लिया है और अब जो बचा है, उसके प्रति हम अगर सचेत न हुए तो भावी पीढ़ी के भविष्य को हम अंधकार में ढ़केल के ही दम लेंगे। यही कारण है कि आज पूरे विश्व में पर्यावरण से जुड़े मुद्दों पर विमर्श की आवश्यकता महसूस की जा रही है।

भारतीय संस्कृति में वन और वनस्पति का बहुत अधिक महत्व रहा है। ऋषि मुनियों का आश्रम वनों में ही होता था। मानव, वन्य जीव, प्रकृति के बीच पारस्परिक सम्बंध हुआ करता था। वेदों, उपनिषदों आदि ग्रन्थों में मनुष्य के स्वस्थ जीवन के लिए पर्यावरण को महत्व दिया गया है। हमारी संस्कृति में प्रकृति हमेशा से पूजनीय रही है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने निबंध 'कुटज' में लिखा है –''यह धरती मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ। इसीलिए मैं सदैव इसका सम्मान करता हूँ और मेरी धरती माता के प्रति नतमस्तक हूँ (द्विवेदी 32)।'' अग्नि, नदी, वृक्ष, सूर्य, पशु-पक्षि सारे पूजनीय रहे हैं। यूरोप की तुलना में भारतीय संस्कृति हमेशा प्रकृति से सामंजस्य बैठाती आई है, किन्तु यूरोप की औद्योगिक क्रांति, पूँजीवादी विकास, वैज्ञानिक उन्नति, विश्व युद्ध, शीत युद्ध, ओजोन क्षरन,

परमाणु परीक्षण, वैश्वीकरण आदि ने प्रकृति के साथ हमारे रिश्तों को नष्ट कर दिया है। मानव जाति की एकपक्षीय विकास ने प्रकृति को बहुत नुकशान पहुँचाया है। आज हमारे चारों तरफ महामारी फैली हुई है, न साँस लेने के लिए शुद्ध वायु, न पीने के लिए शुद्ध जल मिल पा रहा है, ओजोन होल लगातार फैल रहा है, गलेशियर पिघल रहा है, पृथ्वी का तापमान बढ़ रहा है, खाद्य वस्तुएँ विषाणु युक्त हो गई है, हमारे लिए पर्यावरण को बचाने की बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ी है। यही पर्यावरण विमर्श की आधारभूमि है। बीसवीं सदी में जब से वैज्ञानिक प्रगति हुई है, प्राकृतिक संसाधनों का दुरूपयोग बढ़ा है। जनसंख्या वृद्धि, जंगलों की कटाई, प्रोद्योगिकी से फैलते प्रदूषण ने समस्त मानव जाति के स्वास्थ्य को संकट में डाल दिया है। हरीश अग्रवाल का कहना है –

> जब से ओजोन पट्टी के ह्रास के बारे में पता चला है और अविलम्ब खतरे की घंटी बजी है, तब से विश्व की सरकारें हरकत में आ गई है। लोगों के सामने त्वचा कैंसर, फसलों की हानि, मोतिया बिन्द बढ़ने जैसे खतरे मंडराने लगे है।'' (अग्रवाल 26.08.2007)

वैश्वीकरण के उपरान्त असंतुलित विकास ने प्राकृतिक संसाधनों के दोहन को और तेज कर दिया है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के मकड़जाल ने न केवल पर्यावरण को क्षति पहुँचाया है, इसने हमारे अंदर उपभोग की प्रवृत्ति का विकास किया है जिससे हमारे द्वारा निजी स्वार्थ के लिए प्रकृति दोहन की क्रिया में बढ़ोतरी हुई है। आज हमारे लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि प्राकृतिक संतुलन बनाया जाय। मानव द्वारा प्रकृति का जो दोहन हुआ, इससे निम्नलिखित समस्याओं ने जन्म लिया है – 1. जंगलों का ह्रास हुआ है। 2. अनियमित वर्षा 3. बाढ़ 4. सूखा 5. भू-स्खलन 6. भू-तलीय जल के स्तर में गिरावट 7. ग्रीन हाऊस प्रभाव 8. ओजोन परत में छेद 9. वायु, जल, और मृदा प्रदूषण 10. तापमान में वृद्धि 11. ग्लैसियर का पिघलना 12. समुन्द्र जल स्तर का बढ़ना आदि-आदि।

हिन्दी साहित्य में पर्यावरण हमेशा से एक प्रमुख विषय रहा है। आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक प्रकृति विभिन्न रूपों में हिन्दी साहित्य में चित्रित होती आई है। भक्तिकाल में कबीर, रहीम, तुलसी, मीराबाई आदि कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से पर्यावरण के प्रति लोगों में जागरूकता फैलाने का काम किया तो कई रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति के सौन्दर्य पर अपनी लेखनी चलाई। छायावादी युग को तो प्राकृतिक सौन्दर्य का युग भी कहा गया। पंत को प्रकृति का सुकुमार कवि कहा गया तो महादेवी, निराला, प्रसाद ने अपनी रचनाओं में प्रकृति के महत्व पर प्रकाश डाला। गद्य काल में भी कहानी, उपन्यास, निबन्ध, यात्रा संस्मरण आदि विधाओं में न केवल प्राकृतिक सौन्दर्य बल्कि प्रकृति के दोहन के खिलाफ़ भी चिंता व्यक्त की गई। आज के रचनाकारों द्वारा हिन्दी साहित्य के माध्यम से प्रकृति से तादात्मय स्थापित कर प्राकृतिक विध्वंश को रोकने और प्राकृतिक संसाधनों का सदुपयोग करने की प्रेरणा देते आ रहे हैं।

6.2. 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में पर्यावरण चिंताः

नदियों पर बड़े-बड़े बाँधों के निर्माण ने नदियों की गति रोक दी है, जहाँ विकास के लिए बड़े-बड़े बाँधों का निर्माण आवश्यक है, वहीं इसके कई दुष्परिणाम देखे जा सकते हैं। एक जीती जागती नदी तड़पती हुई सुख जाती है। एक नदी की मृत्यु कई पर्यावरणीय दुष्परिणाम लेकर आती है। जिस देश में नदी को ईश्वर मान कर पूजा जाता है, उसी देश में नदी की ऐसी दुर्गति हो रही है। कारखानों से लेकर घरों तक की सारी वर्जित चीजें नदी में ही फेंकी जाती है। बड़े- बड़े शहरों के कचरों से भरे नालों के मुहाने नदी पर ही जाकर खुलते हैं। एस. हारनोट की कहानी 'एक नदी तड़पती है' में विकास के नाम पर बाँधों के निर्माण एवं उससे लोगों के विस्थापन के साथ ही साथ एक नदी के तड़प कर मरने की व्यथा दिखाई गई है। किस प्रकार कम्पनी के बड़े बाबुओं और नेताओं ने आधुनिक यंत्रों के साथ नदी पर बेरहम आक्रमण शुरू कर दिया और नदी तड़प- तड़प कर मरने लगी। कहानी में लेखक लिखते हैं-

> नदी धीरे- धीरे कई मीलो तक घाटियों में जैसे स्थिर व जड़ हो गई थी। उसका स्वरूप किसी भयंकर कोबरे जैसा दिखाई देता था मानो किसी ने उसकी हत्या करके मीलों लम्बी घाटी में फेंक दिया हो। अब न पहले जैसा बहते पानी का नदी-शोर था न ही कोई हलचल। (हारनोट 69)

कहानी में सतलज नदी पर बाँध बनाने के लिए लोगों की जमीनें जबरदस्ती खरीदी जा रही थी। गाँव के गाँव विस्थापित कर दिया गया था। सुमन को अब नदी की मीठी आवाज सुनाई नहीं देती। वह देखता है कि नदी किसप्रकार घुट- घुट कर मर रही है। बाँध के वजह से नदी के स्थान पर बहुत बड़ी झील बन गई है। वहाँ कई गाँव समा चुके थे। कहानी में लेखक दिखाते हैं-

> नदी का सौदा हो गया था। उसका पानी बूँद- बूँद बिक गया था। उसके बहाव, उसकी निरन्तरता और उसके निर्मल जल से सनी लहरों पर कम्पनी का कब्जा हो गया था। न जाने कितनी पीढ़ियों से अपनी- अपनी जमीन पर रचे – बसे लोग, उनके घर- आँगन, बाहर – भीतर स्थापित देवताओं की छोटी-छोटी देहरियाँ, गौशालाएँ, उनकी कच्ची भीतों में सारी पशुओं की रम्भाहटें देखते ही देखते वहाँ दफन हो गई थी (हारनोट 76)

नदी का एकालाप दादी को आहत एवं परेशान करता था। दादी के लिए नदी के मर जाने की व्यथा, उसके विस्थापन से अधिक था। आज पहाड़ों एवं नदियों को हथियाने के लिए कम्पनी वालों के बीच होड़ मची है। कहानी में दादी को लगता है कि नदी उनसे अनुनय कर रही है कि उसे अमानुषिक कैद से आजाद करवा दें। दादी कहती है-

> कोई सुरक्षित नहीं है.... न यमुना, कावेरी, कृष्णा न गंगा, गोदावरी,गोमती और रास्ती। न कारतोया, कोसी, चन्द्राभागा, स्पिति और न चंबल, चिनाव, झेलम और

> ब्रह्मपुत्री। महानदी, शिप्रा, नर्मदा और दामोदर भी कहाँ जीवित रही है। वध कर दिए गए है सभी के। सरयु- सिंधु और सोन सभी घुट- घुट कर मर रही है। तड़प रही है। गायब कर दी गई है। (हारनोट 87)

नदियों पर बाँध बनने से जिसप्रकार नदियों का अस्तित्व संकट में आ गया है, पर्यावरण पर इसका गहरा प्रभाव पड़ रहा है। प्रदीप जिलवाने की कहानी 'भ्रम के बाहर' में भी लेखक ने जलपरी के माध्यम से पर्यावरणीय संकट एवं नदियों के विनाश की पीड़ा को व्यक्त किया है। जिस नदी में साल भर पानी रहता था, बाँध की वजह से अब वह बरसाती नदी बन चुकी है। नदियों पर कारखानों के रासायनिक गंदगी मिलने से नदी दुषित हो गई है। कहानी में जलपरी अपनी व्यथा सुनाते हुए कहती है-

> कल घूमते – घूमते नदी से आगे तक निकल गई थी, तो वहाँ पानी इतना विषैला था कि मेरी सांसे लगभग बंद हो गई थी। मैं तत्काल पलट कर भाग आई। थोड़ी दूर वापस आई तो कुछ मछलियों ने बताया कि उधर आगे जाकर बहुत सी फैक्टरियों का विषैला रसायन और अपशिष्ट नदी में सीधे जाकर मिलता है, जिससे उस तरह की सारी मछलियाँ पानी में हर साल मर जाती है। (जिलवाने 236)

विकास की अंधी दौर में इंसान पूरी धरती को अपने तरीके से बनाने, बिगाड़ने या संवारने में लगा हुआ है। इंसान यह भूल चुका है इस धरती पर वह अकेला नहीं है। सृष्टि पर जितना अधिकार इंसानों का है उतना ही अन्य जीवों का भी। इस बात को समझाते हुए कहानी में जलपरी कहती है-

> विवेक! मनुष्य को यह समझने की सख्त आवश्यकता है कि यह दुनिया सिर्फ उसी के लिए या उसी के होने या न होने से नहीं है। यह धरती चींटी और चिड़िया की भी उतनी ही है, जितनी मनुष्य की है। यह धरती बाघ, चीते, हिरण, हाथी, खरगोश की भी है। पेड़ों की भी है, पेड़ पर रहने वाली कीड़ों की भी है। (जिलवाने 236)

आज शहर की नदियाँ नालों में परिवर्तित हो चुकी है। नदी के मरने, उसके तड़पने की आवाज इंसान सुन नहीं रहा है। कहानी में विवेक अपने बचपन की नदी तलाश करता है, जलपरी की तलाश करता है, किन्तु उसे कोई नहीं मिलता। वह सोचता है शायद नदी के मरते ही जलपरी भी मर गई होगी। नदी की ऐसी दशा मनुष्य के द्वारा फैलाए गए प्रदूषण की वजह से है। कहानी में लेखक कहते हैं –

> घाट पर आया तो देखा कि नदी में पानी के नाम पर शहरी नालों से बहकर आया गंदा पानी डबरों की शक्ल में यहाँ-वहाँ कुछेक गड्ढ़ों में भरा हुआ था, जो प्लास्टिक के कचरें से पटा पड़ा हुआ था। समय के साथ घाट भी काफी टूट- फूट चुका था। (जिलवाने 243)

इंसानों को यह सोचना होगा कि नदी का मरना पर्यावरणीय संकट लाता है। नदी हमारी संस्कृति का हिस्सा है और विकास के नाम पर आज नदी को ही मार दिया जा रहा है।

जल, जंगल और जमीन पर जबसे कम्पनियों का अधिकार हुआ है, जल, जंगल और जमीन पर आधारित करोड़ों लोगों को अपना व्यवसाय, अपने स्थान छोड़कर विस्थापित होना पड़ रहा है। जल, जंगल और जमीन पर कम्पनीवालों के अधिकार होते ही पर्यावरण के विनाश की प्रक्रिया शुरु हो जाती है। जयश्री राय की कहानी 'खारा पानी' गोवा के समुन्द्री जीवन पर आधारित उन मछुआरों की कहानी है जिसके समुन्द्र पर अब कम्पनी वालों का अधिकार हो गया है। समुन्द्री मछली पर जीवन यापन करने वाले मछुआरों को विस्थापित होना पड़ रहा है। साथ ही बड़े- बड़े जहाजों के कचरे और उससे रीतते तेल की वजह से समुन्द्र का जल दुषित हो रहा है। समुन्द्री इको सिस्टम नष्ट हो रहा है। लेखिका यह दिखाती है कि समुन्द्र किनारे पाँच सितारा होटल बन रहा है। कंक्रीट के जंगल उभर रहे हैं, इसके लिए तटों पर बसे सैकड़ों वर्ष पुराने गाँवों को उजाड़ा जा रहा है। उन लोगों से उनकी सभ्यता, संस्कृति, आजीविका सभी छीनी जा रही है। शैलानियों के द्वारा फैलाये गए प्रदूषण से समुन्द्री जीव मर रहे हैं। कहानी में रामा कहता है-

> कुदरत ने हमें जो दिया था, हम उसी में संतुष्ट थे। सर पर आकाश था, नीचे धरती का बिछौना..... अपने जल, जंगल, जमीन से हमें सब कुछ मिल जाता था, दो वक्त की रोटी, नींद और सुकून.... मगर अब तो सब छीन गया। न गरीबों के सर पर आकाश रहा, न पाँव के नीचे जमीन..... आजादी, उन्नति, आधुनिकता के नाम पर सब झपट ले गए। (राय www.hindisamay.com)

समुन्द्र पर अधिकार के लिए सरकार द्वारा नए – नए कानून बनाये जा रहे हैं। स्थानीय लोगों को विस्थापित किया जा रहा है। दया जैसे कई मछुआरों की रोजी – रोटी छीनी जा रही है। तेल के कारोबार से समुन्द्र प्रदूषित हो रहा है। मछलियाँ मर रही है। लेखिका दिखाती है-

> सात दिनों से दरिया का पानी लिसरा पड़ा है – काले-काले तेल के चकत्तों से भरा हुआ.....कहीं दूर बीच समंदर में तेल का जहाज डूबा है। हजारों लीटर तेल हर क्षण पानी में रिस रहा है, लहरों पर तैर कर किनारे तक पहुँच रहा है, जल के जीव मर रहे हैं। (राय www.hindisamay.com)

बड़े – बड़े होटल बनाने के लिए पहाड़ों को बम से उड़ाया जा रहा है। समुन्द्र में कचरा भर रहा है। प्रकृति में हो रहे ऐसे विनाश को देख दया की पत्नी रो पड़ती है। वह देखती है कि किसप्रकार पहाड़ नंगी खड़ी है। पूरी तरह उजड़ी, खुली। पूरे पहाड़ को दैत्याकार मशीनें लील रही है। पहाड़ को साफ कर बड़ी – बड़ी कॉलोनियाँ बनाई जाएंगी। बड़े – बड़े बंगले बनेंगे। कहानी में दया इसका विरोध करता है। वह कम्पनी वालों के खिलाफ आन्दोलन

करता है। धरने पर बैठता है, जुलूस निकालता है। अंत में अपने गाँव, अपनी दरियाँ को नष्ट होते देख वह चिपको आन्दोलन की तरह समुन्द्र से चिपक जाता है। दूसरे दिन उसकी रक्त-रंजित देह जाल से लिपटी मिलती है। किसी विशाल जहाज ने उसके शरीर के दो टुकड़े कर दिए थे।

विकास के नाम पर हमने जंगलों का दोहन किया है, इसी का दुष्परिणाम है कि आज हमें चक्रवात, बाढ़ जैसे प्राकृतिक आपदाओं का अधिक शिकार होना पड़ रहा है। 'कजरी और एक जंगल' ऐसे ही पर्यावरण की चिंता को केन्द्रित करती कहानी है, जिसमें जंगल को देवता माना गया है। एक विश्वास है कि यह जंगल लोगों की हर परिस्थिति में जान बचाता है। कजरी अपने पिता के साथ जंगल के मुहाने पर ही एक झोपड़ी में रहती है। उसे जंगल से बड़ा प्यार है। उसके पिता भी रोज जंगल से सुखी लकड़ियाँ, कुछ फल और फूल लेकर आते हैं। लकड़ियों को बाजार में बेचकर ही उनकी जीविका चलती है। लेकिन इस जंगल पर अवैध व्यापारियों की नजर पड़ गई है, वह जानवरों का शिकार करते हैं, पेड़ों को काटकर तश्करी करते हैं। कजरी इन लोगों को एक बार देखती है और अपने बाबा से कहती है – ''बाबा देखों, ये लोग जंगल के पीछे ही पड़े हैं, जब देखो तब ये आते हैं और जानवरों को मार देते हैं और फिर उनकी खाल बेच देते हैं। कभी चोरी से पेड़ काटकर लकड़ियाँ ले जाते हैं (भार्गव 45)।'' ऐसे अवैध व्यापारियों के चरित्र को कजरी भलीभाँति पहचानती है। वह कहती भी है – ''बाबा मैने पहले भी इनकी जिप्सी में हिरणों के कटे सिर, बाल और खून को देखा था। ये लोग बहुत ही खतरनाक है, इनमें दया तो बिल्कुल ही नहीं है (भार्गव 45)।'' आज हमने यूज एन्ड थ्रों के कल्चर को अपना लिया है। प्लास्टिक के विकास ने एक ओर जहाँ हमारे जीवन को आराममय बनाया है, वहीं इसने प्रकृति के पूरे संतुलन को बिगाड़ कर रख दिया है। आज इसके इस्तेमाल पर पाबंदियाँ लगायी जा रही है। प्रकृति का यह सबसे बड़ा दुश्मन बनकर उभरा है। कहानी की कजरी को प्लास्टिक का दुर्गुण पता है। इसलिए जब वह अपने स्कूल के पास चाय की दुकान में पड़े प्लास्टिक के कप और उसके आस-पास मरे पड़े मधुमक्खियों को देखती है तब वह सोचती है कि मधुमक्खियाँ ही है जो फूलों के परागकण को हर तरफ बिखेर कर नये पौधे के निर्माण में सहायती करती है, अगर सारी मधुमक्खियाँ मारी गई तब तो प्रकृति का सर्वनाश हो जाएगा, वह चाय वाले के पास जाती है और उनसे कहती है –

> काका देखो तो इन जूठे कप में हजारों मधुमक्खियाँ मरी पड़ी है, आप इन जूठे कपों को बाहर न फेंककर कहीं अन्दर डाले। वैसे अच्छा तो यही होगा कि आप मिट्टी के कुल्हड़ काम में लें, क्योंकि मिट्टी के कुलहड़ आसानी से नष्ट किए जा सकते हैं और प्लास्टिक के कप तो नष्ट भी नहीं हो पाते हैं। (भार्गव 46)

कजरी का गाँव और आस-पास के गाँव जब पूरी तरह तूफान के चपेट में आ जाता है और कई गाँव जलमग्न हो जाता है तो कजरी ऐसे तूफान और बाढ़ का कारण भी मनुष्य को ही मानती है, वह कहती है-

> पता है बाबा, ये जो लोग रातों रात जंगल और पेड़ काट रहे हैं, यह सब इसी वजह से हो रहा है। तूफान तो पेड़ों के बड़े-बड़े चेहरे से ही डरता है। उसने देखा कि लो अब तो कोई खतरा ही नहीं है, क्योंकि गाँव वालों ने तो मूर्खों की तरह सारे पेड़ काट दिए है, इसीलिए उसे अब कोई नहीं रोक सकेगा। तभी तो तूफीन की गर्जना, बारिश और तेज हवाओं के साथ मिलकर फिर इतनी आक्रमक हो जाती है, हम चाह कर भी कुछ नहीं कर पाते हैं। पता नही ये गाँव वाले कब जंगल और पेड़ों की महत्ता को समझेंगे। (भार्गव 46-47)

लोग जंगल तो काट ही रहे हैं, विकास के नाम पर सरकार भी उद्योगों के विकास के लिए जंगलों को काटकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को जमीन मुहैया करा रही है। वह बड़े- बड़े पूँजीपतियों से नये – नये समझौते कर जंगल को कम्पनियों के नाम कर रही है। SEZ के नाम पर जंगल और पहाड़ों को नेस्तनाबूद किया जा रहा है, गाँव के गाँव उजाड़े जा रहे हैं, पेड़ काटे जा रहे हैं और सिमेंट और क्रशर मशीन लगवाकर पर्यावरण नष्ट किया जा रहा है। 'मुरारी शर्मा' अपनी कहानी 'प्रेतछाया' में ऐसे ही गाँव का चित्रण करते हैं, जहाँ विकास के नाम पर जंगल का दोहन किया जाता है। देवधाम के नाम पर पहाड़ में मंदिर की स्थापना की जाती है और देखते ही देखते मंदिर के आस-पास की भूमि पूँजीपतियों के नाम हो जाती है। विधायक भी इस काम में भरपूर मदद करते हैं-

> विधायक के कहने पर इस सड़क को प्रधान मंत्री ग्रामीण सड़क योजना में डाल दिया गया। जंगल में ही आरा मशीनें लगाकर देवदार के पेड़ों को काट-काट कर स्लीपर बनाए गए। सैकड़ों देवदार के स्लीपर गाड़ियों में भरकर रातों-रात गायब कर दिए गए। (शर्मा 47)

कहानी में देवीराम नाम का प्रकृति प्रेमी है। उसी ने गाँव वालों की मदद से 120 बीघे जमीन में बान, देवदार और काफल के पौधे लगवाये थे। यह जंगल उसका घर है और सारे पेड़ उसके बच्चे। किन्तु, आज जिस तरह से विकास के नाम पर मंदिर ट्रस्ट और पूँजीपति वाले पेड़ों को काट रहे हैं, उनकी आँखों से आँसू की धारा बह निकलती है। - ''उसने बच्चों से भी बढ़कर इन पेड़ों की देखभाल की थी। वह यह कभी बर्दास्त नहीं कर सकता था कि पैसों की लालच में अंधा पुजारी हरे-भरे पेड़ों को काट डाले। (शर्मा 48)।'' कहानी में जंगल को बचाने की मुहिम चलायी जाती है। पूरे गाँव वाले देवी राम की मदद के लिए आ जाते हैं। विमला इन सबमें लीड रोल निभाती है। वह लोगों से खुले तौर पर चुनौती लेती है। देवी राम विमला से कहता है – ''भगवान तेरा भला करे बेटी...इस जंगल को मैनें बच्चों की तरह पाला है। अपनी आँखों के सामने इन डाल बुटों को उजड़ते कैसे देखूँ....इन पर कुल्हाड़ी चलते मैं नहीं देख सकता (शर्मा 49)।'' सरकार उस जमीन को सीमेंट फैक्टरी लगाने के लिए अनुबंध कर चुकी है। ठेकेदार को तो बस मुनाफे से मतलब है। मंदिर की आड़ में वे जंगल और पत्थर का सौदा कर रहे हैं। विमला मिटिंग में कहती है –

> ठेकेदार ने मंदिर की आड़ में नाले के पास क्रशर लगा दिया है। मंगतू प्रधान की जेसीबी दिन रात जंगल में दबाही मचा रही है। सोमू कारदार के टिप्परों पर पत्थर शहर में ले जाकर बेचे जा रहे हैं। और विधायक...वो भी बंजर जमीन को सोने के भाव सीमेंट फैक्टरी को देकर करोड़ों कमाना चाहता है। (शर्मा 50)

सबको पता है कि सीमेंट कारखाना लगता है तो फिर करीब 100 बीघे क्षेत्र में फैले गाँव का उजड़ना तय है, फिर भी कुछ लोग पैसे के लालच में अपनी जमीन बेचने के लिए राजी है। कहानी में पर्यावरणविद अपने भाषण में इसके दुष्परिणाम को बताते हुए लोगों को सचेत करते हुए कहते हैं-

> दूसरी ओर स्पेशल इकॉनोमिक जोन बनाने की तैयारी की जा रही है... बड़ी- बड़ी कम्पनियों के साथ जल विद्युत परियोजनाएँ और सीमेंट कारखाना लगाने के लिए धराधर एमओयू साईन किये जा रहे हैं। ये सभी कारखाने और परियोजनाएँ इन पहाड़ों के लिए ग्रहण के समान है जो यहाँ की हरियाली को चट कर जाएगी... पहाड़ खोखले हो जायेंगे। (शर्मा 51)

कहानी में गाँव वाले एकत्रित होकर पर्यावरण को बचाने की लड़ाई लड़ते हैं और कुछ हद तक पेड़ों को काटने से रोक लेते हैं, किन्तु जिसप्रकार इन पूँजीपतियों का साथ सरकार दे रही है, हम अपने पर्यावरण को कहाँ तक बचा पायेंगे, यह तो समय ही बतायेगा। 'जंगल में आतंक' कहानी में तो हरिराण मीणा जंगल की पीड़ा को जंगल की आवाज में ही व्यक्त करते हुए लिखते हैं –

> मेरी धरती पर जितनी वनस्पतियाँ है, इसकी सतह पर जितना जल है और इसके गर्भ में जितने भी रस व रत्न है, उन सबका अंधाधुँध दोहन किया जा रहा है। लोकतंत्र के रथ पर सवार सत्ता का जिन्न विकास का ध्वज उठाए पूँजी के बुल्डोजरों की फौज के साथ मुझे रौंदता हुआ बढ़ा चला आ रहा है और उसके पीछे-पीछे पृथ्वी की सारी सभ्यता एक विशालकाय रोडरोलर की मानिन्द मेरी छाती पर लुढ़क रही है। (मीणा 27)

प्राकृतिक संतुलन का आधार जंगल है, जंगलों के विनाश के कारण ही कहीं अतिवृष्टि तो कहीं अनावृष्टि देखी जा रही है। भूमंडलीय ताप में वृद्धि का कारण भी जंगलों का नाश होना है। वायु की शुद्धता जंगल पर निर्भर है। किन्तु आज वैज्ञानिक उन्नति एवं जंगल के व्यवसायीकरण ने जंगल का विनाश कर डाला है। कहानी में जंगल इस मानव सभ्यता से बार – बार प्रश्न कर रहा है-

> देखो, पूरा - का – पूरा परबत मेरी देह से उखाड़कर लारियों में भरकर कहाँ ले जाया जा रहा है? मेरी धरती के पेट को क्यों चीरा जा रहा है? मेरी अस्थियों के अंदर सुरंग कौन खोदे जा रहा है? वो देखो, दूर से नजदीक आते हुए मेरी काया

> को रौंदते बुलडोजर, मेरे मस्तिष्क को खोदती मशीनें, मेरी नशों को छेद- छेद कर किए जा रहे विस्फोट। मेरी छाती पर चलती हुई, समूचे बदन को रौंदती-खूँदती-खोदती- खुखेरती मेरा खून पीती हुई बढ़ी चली आ रही यह फौज किन हमलावरों व लुटेरों की है? (मीणा 31)

हम मानव को जंगल के इस सवाल का जवाब देना होगा। जिस जंगल से हमारा जीवन जुड़ा है आज उस जीवन को ऐशो- आराम देने के लिए हम जिसप्रकार जंगलों का विनाश कर रहे हैं, एकप्रकार से यह हमारा ही विनाश है।

एक दूसरे से बड़े होने और विकसित राष्ट्र कहलाने की होड़ ने हर देश को बारूद का ढेर बना दिया है। तकनीकि विकास ने एटम बम जैसे न जाने कितने ऐसे बम बना लिए है, जिससे पलक झपकते ही पूरी पृथ्वी का सर्वनाश हो सकता है। सभ्यता के इस विकास ने सबसे अधिक क्षति हमारे पर्यावरण को पहुँचाई है। आज हर दिन कोई न कोई देश दूसरे देश पर बम बरसा रहा है। आतंकी हमले तो आम हो चुके है। बम और बंदूक की आवाज से पर्यावरण हर पल दूषित हो रहा है। युद्ध की विभिषिका से मनुष्य के साथ-साथ अन्य जीव जन्तुओं का भी सर्वनाश हो रहा है। 'राणा प्रताप सिंह' अपनी कहानी 'अंधेरे में हम' युद्ध की विभिषिका से होने वाले पर्यावरणीय नुकशान को दिखाते हैं। यह पृथ्वी केवल मनुष्य के लिए नहीं है, इस धरती पर हर जीव का समान अधिकार है, किन्तु मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए इस धरती को बर्बाद कर रहा है। लेखक कहानी में सवाल करते हैं- ''यह प्रकृति क्या सिर्फ मनुष्यों के लिए है, जो हर संसाधन पर टाँग अड़ाए है। ये पक्षी भी बारूद मिश्रित धुएँ में कहाँ चैन पाते और नहीं तो अपने जीवन के लिए तरस रहे हैं (सिंह 25)।'' मनुष्य का विध्वंशक हथियार मनुष्य का तो नाश कर ही रहा है, वह प्रकृति को दूसरे के लिए भी नरक बना रहा है। जैविक और आणविक हथियारों ने पूरी प्रकृति को ही अपने वश में कर लिया है। लेखक लिखते हैं – ''जहाँ आतंकियों के विरूद्ध जैविक और आणविक विकिरण से लड़ने के लिए सैनिकों को वस्त्र दिए जा रहे थे, कि युद्ध के काम आयेगा। वह कहाँ काम आया और नहीं तो मनुष्य के अविष्कार ने प्रकृति का नाश कर दिया (सिंह 25)।'' युद्ध के कारण जो निरीह जानवर मारे जाते हैं, जंगल जल जाते हैं, वायु में जहर घुल जाता है, नदियों का पानी विषाक्त बन जाता है, कहानी में घायल सैनिक से मुखातिब होते हुए महिला पूछती है –

> फल-फूल पेड़ पौधों की आड़ में जीवन जीने वाले जंगली जानवरों ने तुम लोगों का क्या बिगाड़ा था कि इनको बेमौत मार डाला। जंगल दावानल की आग की तरह जल रहा है। प्रदूषित जल की वजह से नदी, तालाब के पानी जहरीले हो रहे हैं। जलीय जीव पानी के ऊपर छत्ते की तरह उतराए बह रहे हैं। आज इस युद्ध की विभीषिका से जंगल पहाड़ पठार से लेकर धरती के मैदानी इलाका तक जहरीली हवा की चपेट में है। इनको इस युद्ध से क्या लेना था जो इनको मार डाला। आज आण्विक और जैविक हथियारों के विस्फोट के विकिरण से जेनेटिक बीमारियाँ

फैल रही है जिसका दंश आने वाली पीढ़ी तक भोगेगी यह तुम्हें नहीं दिखाई दे रही है। (सिंह 29)

चारों तरफ फैलें बम के माहौल ने पूरे पर्यावरण को विनाश के कगार पर पहुँचा दिया है। सूचना क्रांति के युग में चारों तरफ विकिरण का जाल फैला हुआ है। मोबाईल के आने से जहाँ पूरी दुनिया मुट्ठी में आ गई है, वहीं हम पूरी तरह से विकिरण के चपेट में आ गए है। आज मैदान से लेकर ऊँचे पहाड़ियों के घने जंगलों तक मोबाईल टावरों की पहुँच हो चुकी है। विकिरण के कारण जहाँ हम कई बीमारियों की चपेट में आ रहे हैं, वहीं कई जीवों का जीवन भी नष्ट हो चुका है। एस. आर. हारनोट की कहानी 'भागादेवी का चाय घर' वैश्वीकरण के उपरान्त फैले कम्पनियों के मायाजाल से उत्पन्न पर्यावरणीय संकट की कहानी है। कहानी कम्पनी के आने से नदी, झरने, जंगल के विनाश के साथ – साथ मोबाईल टावर के लगने से फैलने वाले विकिरण के दुष्प्रभाव को बयां करती है। कहानी में भागादेवी कम्पनी वालों का प्रतिरोध करती है। वह इस बात पर जोर देती है कि मनुष्य की रक्षा के लिए हर पशु-पक्षी का जिन्दा रहना जरूरी है। जंगल का बचा रहना जरूरी है। लेखक कहता है-

> जंगल का बचे रहना जरूरी है। बुरांश का खिले रहना जरूरी है। मोरों का नाचना जरूरी है। बर्फ का गिरना जरूरी है। देवदारूओं का जिन्दा रहना जरूरी है। कितनी सारी जरूरते हैं जिन्हें भागा बचाये रखना चाहती है। ये बचाव आज के क्रूर और हत्यारे होते समय से है। (हारनोट 17)

भागा देखती है कि अब कम्पनी वालों की नजर पहाड़ों पर है। वह पूरे पहाड़ पर टावर बिछाना चाहते हैं। अपने उत्पाद का विस्तार चाहते हैं। इन टावरों के विकिरण से उसके सर पर दर्द होता है। उसे महसूस होता है जैसे कुछ अदृश्य विकिरणें उस पर आक्रमण कर रही है। कम्पनी वाले भागा के शरीर पर विज्ञापन लगवाना चाहते हैं। शरीर पर छपे हर हिस्से के विज्ञापन की अलग – अलग कीमत लगाते हैं। भागा का पति भी कम्पनी की बातों में आ जाता है। अपने शरीर को विज्ञापन के लिए बेचे जाते देख भागा बाघिन बन जाती है। लेखक लिखते हैं-

> भागा अपने पति की आँखों में झांकती है। वे गहरे उन्माद, जुनून और मद से भरी हुई है। पुतलियों पर उसे कम्पनी के लोग नाचते दिख रहे हैं। वे भयंकर असुरी मुखौटा पहने हुए तांडव कर रहे हैं। वे सभी को भूमंडलीय बाजारी पैरों तले रौंदते हुए उन विशाल टावरों में लगी उल्टी छतरियों में पसर रहे हैं। (हारनोट 25)

वह पति को चांटा मारती है और पूरे कम्पनीवालों का विरोध करती है। लेकिन सच तो यह है कि आज हर कोई बाजारवाद के पीछे भाग रहा है। पैसे के लालच में अपनी जमीन और घर के छतों को कम्पनी के हवाले कर देते हैं। इसकी उन्हें मोटी कीमत भी मिलती है।

आज एक ओर जहाँ पेड़-पौधे काटे जा रहे हैं, वहीं मनुष्य का संबंध इन पेड़ों से घटता जा रहा है। पेड़- पौधें हमारे जीवन के आधार है, किन्तु उत्तर आधुनिक पुरुष इतना दंभी और लालची है कि स्वार्थ ने उसे हिंसक बना दिया है। 'चरण सिंह पथिक' अपनी कहानी 'पीपल के फूल' द्वारा एक ऐसे पेड़ के दर्दनाक अनुभूति को दिखाया है, जिस पेड़ को मनुष्य ने काटने का फ़रमान जारी कर दिया है। पीपल का पेड़ जिसने कई वर्षों से सबको गले लगाया, आज मनुष्य उसे स्वार्थवश काटने वाला है। आज न केवल पीपल का पेड़ रो रहा है, बल्कि उससे बहने वाली हवा, उसपर बसने वाले पक्षी और जानवर सभी करुण रूदन कर रहे हैं। दंभी मनुष्य के फैसले पर पीपल का विशाल वृक्ष सोचता है –

> इस अदना से इंसान के इस वहसी फैसले ने उसके सदियों से वहाँ होने पर ही प्रश्न चिह्न लगा दिया। जिस वक्त हरियल तोतों के उस झूंड ने विलाप के स्वर में यह भी सुनाया कि कई मीटर तक जमीन के अंदर धँसी उसकी जड़ों को भी मशीन द्वारा खोज-खोज कर निकाल दिया जाएगा तो इस अनोखे साढ़े तीन हाथ ऊँचे जीव द्वारा किए गए हत्यारे मजाक पर उसे जोरदार हँसी आई। (पथिक 62)

पीपल के पेड़ दूर तक देख कर महसूस करता है कि किसप्रकार मनुष्य ने पर्यावरण को नष्ट कर दिया है कि खुलकर साँस लेना भी दुभर हो चुका है। मनुष्य अपना विनाश स्वयं कर रहा है। नाले, तालाब सब सूख रहा है, खजूर के पेड़ कट चुके है। पीपल का पेड़ देख रहा है –

> उसने अपनी नजर महानगर को जाने वाले राष्ट्रीय राजमार्ग पर डाली। चिकनी-चौड़ी सड़क के दोनों ओर अजीब किश्म के रोज बनते कृषि फार्म और दूर-दूर तक फैले ईट-भट्टों की चिमनियों से निकलता काला धुँआ नजर आया जो विशाल अजगर की तरह आसमान में रेंगता हुआ लग रहा था। (पथिक 63)

पीपल का पेड़ इसलिए काटा जा रहा था ताकि वहाँ पाँच सितारा होटल बन सके। करोड़पतियों के ऐशो-आराम का स्थान बन सके। जिस भंडारिया परिवार ने उस पेड़ को किसी जमाने में लगाया था, उसी परिवार की नई पीढ़ी ने उस पेड़ को पूँजीपतियों के हवाले कर दिया था। वह पेड़ उस गाँव की हर घटना का साक्षी था। भंडारिया परिवार ही नहीं पूरे गाँव के दुःख दर्द को वह देखता आया था। आज अपने काटे जाने की खबर सुनकर वह विलाप कर रहा था, साथ ही विलाप में वे सारे जीव थे जो उसके कोटरों में, डालों में, छायाओं में अपना बसेरा बसाये हुए थे। अब वह स्थान करोड़पतियों की सैरगाह बनने वाला था। लेखक दिखाते हैं-

> जो तालाब किसी जमाने में फसलों की प्यास बुझाता था, अब अर्द्धनग्न सैलानियों की बोटिंग के लिए तैयार होकर डॉलर और पॉउन्ड उगलेगा। पीपल और उसके आस-पास की जमीन पर पाँच सितारा होटल का निर्माण होगा। होटल का मॉडल तैयार हो चुका था। (पथिक 69)

आज अपने भोग एव सुख की प्राप्ति के लिए हम प्रकृति के साथ खेलवाड़ कर रहे हैं, इसका खामियाजा हमें तो भुगतना पड़ेगा ही, हमारी भावी पीढ़ी इससे और ज्यादा नुकशान झेलेगी। प्रकृति अपना बदली जरूर लेगी। आज असमय बारिस, बाढ़, भूकम्प, सुनामी केवल प्राकृतिक घटना न होकर मनुष्य सभ्यता के लिए भारी चेतावनी है। अगर आज भी हम नहीं सुधरे तो हमें भविष्य में अपना सब कुछ खोने के लिए तैयार रहना होगा।

हमारा विकास कृत्रिम और प्रकृति विरोधी है। हमने अपनी धरती का इतना विनाश कर दिया है कि हमारे लिए यह धरती कुछ वर्षों में रहने लायक नहीं रहेगी। मिथक है कि एक बार प्रलय से मनु ने मानव सभ्यता को बचाया था। आज हम मानव खुद प्रलय को बुला रहे हैं। तरूण भटनागर ने 'प्रलय की नाव' कहानी के माध्यम से मानव निर्मित प्रलय और उससे बचने के लिए प्रकृति प्रेमी मानव द्वारा बनाये गए नाव के माध्यम से उस विनाश की चिंता को दिखाया है जिस ओर मानव सभ्यता बढ़ रही है। लेखक इस ओर संकेत करते हुए लिखते हैं-

> जमीन सूख गई थी और जंगल खत्म हो रहे थे। समुन्दर के पानी को पीने योग्य बनाने की नई तकनीक इजाद कर ली गई थी। अब पीने के पानी के लिए नदियों, जमीन के नीचे के पानी या बारीश की जरूरत नहीं रह गई थी। वातावरण में नकली हवा थी। इस हवा को इजाद किया गया था और इसे असली हवा से ज्यादा स्वास्थ्यवर्द्धक बताया जा रहा था। (भटनागर)

आज हमने सारी असली चीजें नष्ट कर दी है और नकली चीजें बना रहे हैं। बहुत सारे जीवों को हमने विलुप्त कर दिया। सभ्य समाज ने हजारों जीवों को नष्ट कर दिया। पौधें और पेड़ों की कई जातियाँ गायब हो चुकी है। आज हमारे चारों ओर जिसप्रकार प्रदूषण फैल रहा है, आणविक हथियारों का जमावड़ा हो रहा है, नदी, नाले, समुन्द्र विषैले हो रहे हैं, वह दिन दूर नहीं जब सभी म्यूजियम की वस्तुएँ बन जाएँगी। हम कृत्रिम दुनिया में प्रवेश कर गए है। दुनिया को बचाने के लिए कहानी में नाव बनाया जा रहा है, किन्तु नाव बनाने वाला स्वयं दुनियावी ठेकेदार के धोखे में आ जाता है। नाव के मरम्मत में नकली बट्टे और फट्टे खराब निकलते हैं जिससे प्रलय में वह नाव टिक नहीं पाता है। ठेकेदार के धोखे के कारण वह नाव बर्बाद हो जाता है। दुनिया को बचाने का सपना धाराशायी हो जाता है।

6.3. बाल विमर्शः-

बाल विमर्श बाल अधिकारों का विमर्श है। हम जितने अपने अधिकारों के प्रति सचेत होते हैं, किसी बालक के अधिकारों के प्रति हम उतने ही खामोश। हमारे मौलिक अधिकारों के हनन होने पर हम आवाज तो उठाते हैं, किन्तु बालक के मौलिक अधिकारों पर हम ध्यान तक नहीं देते हैं। उनके अधिकारों के प्रति हमारी सहानुभूति भी नहीं होती है। आज के समय में जहाँ परिवार में पति-पत्नि दोनों कामगार होते हैं, सबसे अधिक दुर्दशा बच्चों को ही झेलनी पड़ती है। हम बच्चे को अपनी प्रोपर्टी समझते हैं और सोचते हैं कि हमारे बच्चों पर हमारा पूरा हक है, हम उसे मारे-पीटे कोई कुछ नहीं कह सकता, किन्तु यह सच

नहीं है। बाल मौलिक अधिकारों के लिए भी कानून है, किन्तु उन कानूनों के प्रति हम मौन रहते हैं। क्रेच में पलते बच्चों की जिन्दगी नौकरों के भरोसे होती है। फ्लैट कल्चर में वे खुद तक ही सीमित हो जाते हैं।

आज तो सबसे बड़ी समस्या बच्चों की सुरक्षा को लेकर हो गई है। घर, बाजार, स्कूल, ट्यूशन हर जगह एक डर छाया रहता है। बच्चे कहीं भी सुरक्षित नहीं है। बाल शोषण की घटनाएँ आये दिन अखबारों की सुर्खियों में रहती है। आज के माहौल में बच्चे का बचपन डर के साये में बीतता है। विश्व की बड़ी-बड़ी संस्थाएँ बाल अधिकारों की बात करते हैं जबकि आज हमारे घरों में ही बच्चे सुरक्षित नहीं है। भ्रूण हत्या से लेकर बाल शोषण की घटनाओं ने बाल विमर्श को औचित्य प्रदान किया है। यह कितनी बड़ी बिडम्बना है कि बचपन का समय सबसे सुखद समय होता है, किन्तु आज कई सामाजिक विषमताओं के कारण बच्चों का बचपन संत्रस्त और अभिशप्त हो गया है। ऐसी परिस्थितियाँ ही बाल विमर्श को सजीव बनाते हैं। आज जरूरत है कि बालक के बचपन को बचाया जाय। बालक के मौलिक अधिकारों की रक्षा हो।

6.4. 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में बाल विमर्शः

वैश्वीकरण के दौर में हर कोई भागे जा रहा है। विकास की अंधी दौर में हर कोई बेलगाम स्वार्थ के पीछे भाग रहा है। ऐसे में बच्चे कहीं न कहीं अकेलेपन का शिकार हो रहे हैं। शहरों में जहाँ माँ-बाप दोनों कामकाजी होते हैं, वहाँ बच्चे किसी न किसी आया के भरोसे या क्रोच के भरोसे ही जीने के लिए मजबूर हो रहे हैं। वैश्वीकरण के बाद गाँव से शहर की ओर कम उम्र के बच्चों का पलायन हो रहा है। छोटे-छोटे बच्चे मजदूरी करते देखे जा सकते हैं। नव भारत की नींव इन मासूम बच्चों पर निर्भर है, किन्तु ये मासूम बच्चे कहीं भीख माँगते, कहीं ट्रेनों में झाड़ू लगाते, कहीं दुकान में काम करते, जूठा उठाते, घरों में काम करते देखे जा सकते हैं। अतः आज ये बच्चे भी कहीं न कहीं हाशिए की जिन्दगी जी रहे है। अतः बाल विमर्श की जरूरत दिखाई पड़ रही है। बाल विमर्श नाम से घोषित रूप में कोई विमर्श तो शुरु नहीं हुआ है, किन्तु परिस्थितियाँ बाल विमर्श के लिए तैयार हो रही है। 21वीं सदी के दूसरे दशक में बहुत कम रचनाकार हुए है जिन्होंने बच्चे को केन्द्रित कर, उसकी समस्याओं की ओर पाठकों का ध्यान खींचा है। अतः आज जरूरत है कि ज्यादा से ज्यादा रचनाएँ बाल केन्द्रित हो। इस ओर कम ही रचनाकारों का ध्यान अभी गया है। कुछ कहानियाँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में जरूर प्रकाशित हुई है और कुछ रचनाकारों ने अपनी कहानियों में बाल चरित्र को केन्द्रित कर कुछ कहानियाँ जरूर लिखी है। अतः उन कहानियों का विश्लेषण करते हुए हम बाल विमर्श को समझने की कोशिश करेंगे।

आज के आधुनिक जीवन में जहाँ पति-पत्नी दोनों नौकरी करते हैं, पारिवारिक खुशी के नाम पर अपनी जिन्दगी जीते है, ऐसे समाज में जो बच्चे हैं, उसकी जिन्दगी हाशिए में ढ़केल दी जाती है। परिवार के पास सुख – सुविधाओं की कमी नहीं हैं, किन्तु अपने बच्चों के लिए किसी के पास समय नहीं। बच्चे पलते भी है तो किसी नौकरानी के भरोसे या फिर उसे

क्रेच में छोड़ आते हैं। 'बुलन्द हस्तियों के बीच एक शाम' ऐसे ही बाल विमर्श की कहानी है, जहाँ मिस्टर और मिसेस गोयल अपने बच्चे को क्रेच में डाल नौकरी में चले जाते हैं। क्रेच में बालक सोनु बाबा पॉटी कर देता है, किन्तु क्रेच वाला उसके कपड़ों को नहीं बदलता है। क्रेच वाला बच्चों का कैसे देखभाल करते हैं, कहानी में क्रेच वाला कहता है – ''सिर्फ पैंट बदलने से क्या होगा। मुझे उसे साफ भी करना होगा, मेरा काम जब तक उसकी माँ नहीं आ जाये, उसकी चौकीदारी करना है, उसकी माँ बनना नहीं। (कांकड़िया 19-24)।'' आधुनिक बनने और कितना कुछ पाने की ललक ने माँ की ममता को ही खतम कर दिया है। क्रेच में बच्चा गर्मी मे भी कैदियों की तरह ठूँस कर रखा जाता है। हम भविष्य बनाने की होड़ में बच्चों से उसका वर्तमान छीन रहे हैं। एक दिन सोनु आंटी के घर पर बार-बार उल्टी कर रहा था। उसकी तबीयत खराब हो रही थी। आंटी ने मिसेज गोयल को फोन किया तो उसने आंटी को समझाई-

> आप चिंता मत कीजिए, यह तो इसीप्रकार उल्टी करता रहता है। इसने क्रेच में कुछ ज्यादा खा लिया होगा। आप तो बस इसे थोड़ा नमक-चीनी घुला पानी पिला दीजिए। मैं नौ बजे तक पहुँच जाऊँगी, क्या बताउँ आज बॉस के साथ एक बहुत जरूरी मीटिंग में फँस गई हूँ। (कांकड़िया 22)

उसकी बातें सुनकर आंटी क्षुब्ध हो जाती है और सोचती है- ''हे भगवान, किस हादसे में मर गई है इनकी ममता, किसने बना दिया इन्हें ऐसा। कैसा समय है। बॉस को फुल टाईम, पति को पार्ट टाइम और बच्चे घास-फूस की तरह बढ़ रहे हैं... (कांकड़िया 22)।'' आंटी का ऐसा कहना आज के समय का यथार्थ है। बच्चों का जीवन या तो क्रेच या किसी आया के भरोसे ही बीतता है। 'महानगर की मैथिली' कहानी मैथिली नाम की एक बच्ची की ऐसी ही कहानी है जहाँ उसे हर दिन उसके माँ – बाप नौकरी में जाने से पहले ताराबाई के पास छोड़ आते हैं। आज महानगर के भागदौड़ वाली जिन्दगी में बच्चे ताराबाई जैसी आया या क्रेंच वालों के भरोसे ही पाली जाती है। कहानी में मैथिली के मम्मी-पापा संडे के दिन अंग्रेजी फिल्म देखना चाहते हैं, इसलिए इस दिन भी वे मैथू को ताराबाई के पास छोड़कर जाना चाहते हैं, जबकि मैथू को पता है कि आज संडे है, आज वह मम्मी-पापा के साथ रहेगी, किन्तु अंततः न चाहते हुए भी उसे ताराबाई के पास जाना पड़ता है।– ''बुलाए जाने पर मैथू धीरे-धीरे रास्ता पार कर आई और खटिया पर बैठ गई, आँखें लाल और गाल भींगे हुए झोपड़ी के भीतर एकटक जैसे वह किसी शून्य में देखे जा रही थी (सुधा अरोड़ा 13)।'' इस महानगरीय जीवन ने चित्रा और दिवाकर के साथ उसकी बेटी को भी रोजमर्रा के जीवन का एक हिस्सा बना दिया था। वे दोनों रोज सुबह काम की ओर निकलते और मैथू उनके साथ ताराबाई के घर की ओर। लेखक दिखाते हैं-

> सुबह मुँह अंधेरे पाँच बजे उठकर चित्रा के हाथ मशीनी अंदाज में रोजमर्रा के काम निबटाते थे और तीन घंटों में तीन टिफिन के डिब्बे और अपने-अपने सामान से लैस

होकर, दरवाजे पर ताला डाल दो चाबियाँ अपने-अपने साथ ले, वे तीनों घर से बाहर निकल पड़ते थे। (सुधा अरोड़ा 15)

नौकरीशुदा दम्पत्ति के लिए अपने बच्चों को पालना बहुत कष्टकर हो जाता है। महानगर में वैसे ही बच्चों के देखभाल के लिए लोग बहुत मुश्किल से मिल पाते है। चित्रा को भी इसके लिए काफी मशक्कत करनी पड़ी। लेखक दिखाते हैं- ''बम्बई लौटने के बाद तीन दिन लगातार भाग-दौड़कर किसी तरह उसने एक चौदह साल की लड़की का बंदोबस्त किया था, अपने स्कूल जाने के बाद मैथू को संभालने के लिए (सुधा अरोड़ा 18)।'' अपने नवजात बच्चे को छोड़कर स्कूल जाने पर चित्रा का दूध बार-बार छलक पड़ता था, वह यह सोचकर कि मैथू को भूख लगी होगी, वह रो पड़ती थी। कई बार चित्रा अपने भींगे हुए ब्लाउज से परेशान होकर अपनी छातियों को दबा-दबाकर गिलास में दूध निकालती और वाश बेसिन में गिरा आती। आजकल के बच्चे पॉउडर दूध के भरोसे ही जिन्दा रहते हैं। कामकाजी औरतों के पास तो बच्चे को दूध पिलाने का भी वक्त नहीं होता है। चित्रा जानती है कि जीवन के मशीनी रफतार ने उसे निहायत व्यवहारिक और स्वार्थी इंसान में तब्दील कर दिया था। तो दूसरी ओर मैथू की जिन्दगी आयाओं के भरोसे बीत रहा था। जब मैथू रात भर ज्वर से तपती रही, चित्रा और दिवाकर यह तय करते रहे कि अगले दिन उसे छुट्टी न लेनी पड़े। यह माँ - बाप की मानसिकता में आये एक बड़े बदलाव की ओर संकेत करता है। लेखक कहते हैं – ''चित्रा-दिवाकर दोनों ने उसे थामा, पर वह हाथ पैर पटकती, चीखती जा रही थी, मम्मी जाओ ऑफिस। हम भी जायेंगे। हमारे जूते दो, मम्मी। हमको मत पकड़ो पापा...और वह दुबारा बेहोश हो गई थी (सुधा अरोड़ा)।'' क्रेच पर जीते बच्चे की मानसिकता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। बच्चों की माताएँ भी कम परेशान नहीं होती है। दूसरी तरफ यह भी सच है कि आज बच्चों को क्रेच में डालना हमारी मजबूरी बन गई है। 'माँ की नौकरी' कहानी में शमा को न चाहते हुए भी अपने बच्चे को ऑफिस जाने से पहले क्रेच में डालना पड़ता है। उस क्षण को वह भूला नहीं पाती है –

चीनू उसके पास से जाने को मना कर दिया वह छिपकली जैसी उससे चिपक गई। अपने लिए सिर्फ ये ही आधार है ऐसा अनूप की गर्दन को दोनों हाथों से कस लिया। जमुना बुढ़िया के कठोर हाथ उसके ऊपर आया तो बच्ची जोर से चीखकर रोने लगी। जमुना ने पूरे बलपूर्वक खीचकर बच्चे को शमा से ले लिया। (भाग्यम शर्मा 53)

शमा का मन अशांत हो जाता है। उसने एक दिन चीनू को गाल पर ऊँगलियों के निशान भी देखे थे। अगर क्रेच में चीनू को मारा भी जाता होगा तो छोटी बच्ची बोल नहीं सकती है। शमा नौकरी छोड़ना चाहती है फिर उसे याद आता है कि पति का वेतन तो घर का किराया, किराना, दूध को देने के लिए ही पूरा नहीं पड़ता। यही आज के समय का यथार्थ है। शमा कुछ सोच नहीं पा रही है न अपने पति से कुछ बोल पा रही है, दूसरी ओर छोटी सी बच्ची चीनू है जिसके मन मस्तिष्क पर अलग ही प्रभाव पड़ रहा है। चीनू अचानक से

उठकर रोने लगती है- ''वह रोते हुए ऐंठने लगी। उसके पास से अलग होकर हाथ पैर को फेंकती हुई भालू के टेडी बियर पर हाथों को पैरों को डाल चिपक कर सो गई (भाग्यम शर्मा 54)।'' क्रेच में पलते बच्चों के साथ किसप्रकार मानसिक या शारीरिक यातनाएँ होती होंगी, इसे जानना आसान नहीं है। शमा को इसी बात का डर है कि- ''कहीं बूढ़ी जमुना ने बच्ची को मारा होगा क्या उसे लगा। बच्ची के गालों को सहलाया। पर वह लाल नहीं था। उसकी छोटी सी चड्डी को हटाकर पीछे की तरफ देखा बाई तरफ लाल हो रहा था। बुढ़िया ने चूंटी तो नहीं भरी (भाग्यम शर्मा 54)।'' एक ओर जहाँ औद्योगिक विकास की लहर गाँव तक पहुँच गई है। बाजार का प्रसार गाँवों को अपनी चपेट में ले लिया है, वही इन सबसे बेखबर कोई है तो वह है बच्चे। बच्चों को तो बस आजादी पसंद है, उसे बाजार के फैलाव या मशीनीकरण से क्या वास्ता। उसे तो हर चीज में मजा देखना है। 'सुभाष चंद कुशवाहा' की कहानी 'ना उम्मीदी के बीच', में लेखक ने मुन्नी जैसे बच्चों की मासूमियत के साथ-साथ बाजारवादी मानसिकता और उसके दुष्प्रभाव को दिखाने की कोशिश की है। तीन भाई बहनों में मुन्नी सात साल की सबसे छोटी है। इतवार के दिन सभी कामों में व्यस्त है, केवल मुन्नी आजाद है। वह खेत से तालाब और तालाब से खेत का चक्कर काट रही है और तालाब में लगे पम्पसेट का कहानियाँ माई को सुना रही है- ''मुन्नी की आँखों में तालाब सिमट गया है। मटमैले पानी की मछलियाँ उसकी आँखों में हलचल मचाए है। उधर तालाब का विस्तार पम्पसेट निगलता जा रहा है। पानी की बूँद-बूँद विचारने के लिए फरफरा रहा है चौधरी का पम्पसेट (कुशवाहा 11)।'' तालाब में मछलियों को देखकर मुन्नी आज मछली खाना चाहती है. उसके मन में मछलियाँ हिलोरे मार रही है। वह खुश है कि शाम को मछलियाँ खाने को मिलेगी। सारे बच्चे खुश है। लेखक लिखते हैं – ''खुशी को गोपनीय रखने की कला इन बच्चों ने नहीं सीखी है। गोपनीयता तो बड़ों के बीच पाई जाती है। इसलिए चिड़ियों की तरह चहक रहे हैं बच्चे। निठारी कांड की भयावहता से बेखौफ है ये बच्चे (कुशवाहा 11)।'' चौधरी के पास भले आधुनिक चीजों की भरमार हो, किन्तु इन बच्चों के पास अपनी आजादी है। तालाब पर बच्चों का झूंड जमा हुआ है, जहाँ पानी निकाल कर मछली पकड़ने के लिए ठेकेदार आया हुआ है। गाँव की मछली अब पहले ही बिक जाती है और उसी मछली को बाजार से ऊँचे दरों में खरीदना पड़ता है। मुन्नी के पिता के पास उतने पैसे कहाँ कि वह मुन्नी के लिए मछली खरीदे। मुन्नी सोचती है – ''कितना अच्छा लगता गर बाबूजी मान जाते। इसके बाद वह कुछ भी खरीदने के लिए नहीं कहेगी। अभी नहीं खरीदेंगे तो बाजार बेचने भेज दी जाएँगी मछलियाँ। गाँव में तो उधार भी खरीदी जा सकती है पर बाजार में (कुशवाहा 12)।'' मुन्नी को यह जानकारी है कि बाजार में उधारी नहीं चलेगी, वह कितनी सयानी हो गई है। घर वाले कई तरह के तर्क से मुन्नी को यह समझाते है कि तालाब की मछलियाँ गंदी है। ऐसे ही तर्क चन्नो और मोती को भी दिया जाता है। चालिस रूपये किलो मछली रामदास नहीं खरीद सकता। वह तो खेती के करजे में डूबा हुआ है।

खेती के लिए यूरिया भी खरीदनी है। गरीब गाँव वालों को अब मछली खाना नशीब कहाँ। मुन्नी को याद है कि बाबूजी बताते हैं –

> पहले गरीब-अमीर सबको बरसात भर छोटी मछरी मिलती थी खाने को। वह भी मुफ्त में।... पहले गाँव के ताल-तलैया पट्टे पर नहीं दी जाती थीं। गाँव की सामूहिक सम्पत्ति होती थीं। अब तालाबों को किसी-न-किसी दलित या भूमिहीन के नाम पर बडकवों ने दस-दस साल के पट्टे पर ले लिया है। वे इनमें रोहू, चाइना, ग्रास, मछरियाँ पालते हैं। किनारे-किनारे जाल लगाकर घेर देते हैं। मजाल क्या कि बरसात में एक भी मछरी बाहर निकल पाए। (कुशवाहा 15)

मछली न पाकर मुन्नी और चन्नों दोनों की आँखे रो-रोकर सूज चुकी है, फिर भी दोनों तालाब की मछली गंदी है सोचकर मन को दिलासा देते हैं और खेलने दौड़ जाती है। मुन्नी की माँ सोचती है – ''इन बच्चों के चेहरों पर अब एक रंग-रूप ठरहता कहाँ? बच्चे वाकई आजाद है। मुन्नी के व्यवहार की गुत्थी सुलझाने में माई उलझी हुई है। बच्चों का शोरगुल सुन माई की पथराई आँखों की परत कुछ-कुछ मुलायम दिखने लगी है (कुशवाहा 17)।''

एक ओर जहाँ छोटे बच्चों का बचपन आज के माहौल में नष्ट हो रहा है, वहीं आज बड़े होते बच्चे भी अपने माँ-बाप के कष्टों का ख्याल न कर मौज-मस्ती में लगे रहते हैं। उनके माँ-बाप द्वारा बुरे कामों के लिए रोका जाना इन बच्चों को बुरा लगता है। वे माँ-बाप से बदतमीजी करते हैं और ज्यादा दबाव बनाया जाय तो आत्महत्या करने की धमकी भी देते हैं। आज का नवजवान मानसिक तौर पर इतना कमजोर है कि छोटी सी बात पर वे आत्महत्या कर लेते हैं। ज्योत्सना इन्द्रेश की कहानी 'शून्य में' ऐसे नवजवान होते युवक की कहानी है, जिसके घर में पिता बेरोजगार होकर पड़ा हुआ है। कम्पनी में विवाद चल रहा है, वहीं उसका बड़ा बेटा सौरभ कॉलेज के फीस के नाम पर अपनी माँ से सात हजार रूपये लेकर मोबाइल खरीदता है, इस बात के लिए डाँटे जाने पर वह अपने दोस्त के घर चला जाता है और दोस्त के लेपटॉप में पोर्न विडियो देखता है। आज के बाजारवादी दौर में नवजवान युवकों को सही रास्ते पर लाना बहुत कष्टकर हो गया है। 'कर लो दुनिया मुट्ठी में' के नारे ने बच्चों के मानसिकता पर बुरा प्रभाव डाला है। आज हम मोबाइल के इस्तेमाल से बच नहीं सकते। यह हमारे जीवन का अनिवार्य हिस्सा बन गया है। यह जितना हमारे लिए जरूरी हो गया है, इसके साइडइफेक्ट से बच्चों को बचाना उतना ही मुश्किल। आज के बच्चों के अपने माँ-बाप की परिस्थितियों से कोई वास्ता ही नहीं रह गया है। वे तो बस अपनी इच्छा पूरी करना चाहते हैं। जिन बच्चों को माँ-बाप इतने लाड़-प्यार से पालते हैं, यहीं बच्चे बड़े होकर माँ-बाप की इज्जत करना भी नहीं जानते हैं। कहानी में अपने बच्चे को बिगड़ता देख सुनील और मनीषा कुछ कर नहीं पा रहे हैं। लेखक लिखते हैं-

> इन्हीं लड़कों के पैदा होने पर सुनील और मनीषा ने मिठाइयाँ बाँटी थी। दोनों को अभिमान था कि उनके बेटी नहीं है, दो-दो बेटे हैं। उनके बेटे उनके लिए कैश-कार्ड

साबित होंगे, पर ऐसे बेटे, इनका वश चले तो माँ-बाप की चमड़ी नोंच ले। (इन्द्रेश 152)

मौज-मस्ती और दिखावे की संस्कृति की लपेट में आज का नव-युवा वर्ग आसानी से आ रहा है। अपने सभी दोस्तों के पास मोबाइल देखकर सौरभ भी झूठ बोलकर मोबाइल खरीदता है। इसकी खबर तक उसके घर में किसी को नहीं होती है। पकड़े जाने पर कि सौरभ के पास मोबाइल है, वह निडर होकर कहता है-''पिछले महीने सैकेन्ड हैंड खरीदा था। मेरे सब दोस्तों के पास मोबाइल है।.....मोबाइल ही तो लिया है, कहीं जुआ तो नहीं खेला? (इन्द्रेश 152)।'' कहानी में सौरभ अपने अमीर दोस्त मितेश के चक्कर में पड़ा हुआ है। मितेश के पास महंगा वाला लैपटॉप, टच-क्रीन मोबाइल, बाइक सब कुछ है। सौरभ जैसा आज हर मध्यवर्गीय युवक- युवतियाँ नये फैशन के चक्कर में पड़ हुआ है। इनके सामने मितेश जैसा ही धनी घर के बच्चे इनके मित्र है, जिसे देख-देख कर इन बच्चों के अंदर भी नई कल्पनाएँ उड़ान भर रहा है और ये बच्चे अपनी असलीयत को भूलकर सपनों की दुनिया में विचरण कर रहे हैं।

बाल शोषण के रूप में सबसे बड़ा शोषण बालक का बाल श्रम के रूप में होता है। हम जानते हैं कि सरकार ने बाल-श्रम को रोकने के लिए बाल श्रम (प्रतिबंधित एवं विनियमन) अधिनियम-16 लाया, जिसके अंतर्गत 16 व्यवसायों और 65 प्रक्रियाओं में चौदह साल से कम आयु के बच्चों के काम पर रखने संबंधी प्रतिबंध लगाया गया। घरेलू नौकर के रूप में भी इन आयु के बच्चों के काम करने पर प्रतिबंध लगाया गया, यह अलग बात है कि सरकार ने उन परिवारों के देख-रेख की कोई जिम्मेवारी नहीं ली जो अनाथ होते है या जिनके घरों में काम करने वाला कोई बच्चा ही होता है। ऐसी ही परिस्थितियों का चित्रण 'सुषमा मुनिन्द्र' ने अपनी कहानी 'अललटप्पू' में किया है, जहाँ पाँच-छह बरस की लड़की गुम्मन को उसकी काकी गल्लाबाई काम सीखाने के लिए अपने मालकिन निरंजना के पास ले जाती है। वह छोटी सी बच्ची उस घर की नौकरानी बन जाती है। वह स्कूल जाती है किन्तु बचपन से ही उसकी नानी द्वारा उसे घर के काम सीखने की ट्रेनिंग दी जाती है। वह कहती है- ''गुम्मन झाड़ू अइसन पकड़....पलंग के नीचे से कचड़ा निकाल...वा कोने में पोंछा ठीक से नहीं लगा...देख, बर्तन मा जूठ लगा है...अललटप्पू काम चोरी न कर...(मुनिन्द्र 131)।'' जिस उम्र मे गुम्मन जैसे बच्चे खेल-कूद में बिताते है, वहीं गुम्मन जैसे बच्चों के हाथ में झाड़ू थमाकर उसके बचपन के साथ खेलवाड़ किया जा रहा है। कहानी में भी उसी उम्र का दो बच्चा है जो मालकिन का बेटा है। गुम्मन उन बच्चों के देखकर मन ही मन ललचाती है। वे दोनों बच्चे पढ़ाई कर रहे हैं और गुम्मन काम के तरीके सीख रही है। वह इतनी छोटी है कि उसे काम की समझ भी नहीं है, किन्तु मालकिन निरंजना चाहती है कि यह छोटी बच्ची भी गल्लाबाई की तरह ही काम करें। जब गुम्मन पहली बार उस घर में जाती है तब मालकिन का घर उसे एक जादूइ घर सा लगता है। वह उसकी चकाचौंध में खो जाती है। लेखिका दिखाती है-

> निरंजना चाहती गुम्मन, गल्लाबाई की तरह मुस्तैद होकर काम करे जबकि गुम्मन लापरवाह, नन्हें हाथों में न बल न अभ्यास। वस्तुतः यह जादूइ समृद्ध घर उसके लिए नये अनुभव, आकर्षण, प्रेरणा, चमत्कार की तरह था। प्रत्येक वस्तु उसकी अभाव झेल रही आँखों में द्वन्द्व भरती चकाचौंध थी। जिधर देखती, देखती रह जाती। खाना बनाने के लिए निरंजना को बर्तन चाहिए और गुम्मन निरंजना के बेटों विज्ञान और विराज के कमरे में झाँक कर संगीत सुन रही है... पोछा लगाते हुए गा रही है...आँख माले ओ ललका(लड़का) आँख माले...। (मुनिन्द्र 132)

गुम्मन इतनी मासूम है कि कभी तो वह मालकिन के गद्देदार बिस्तर पर लेट जाती है तो कभी विराज का जींस पहन लेती है। निरंजना को दया आती है और वह गुम्मन को पढ़ने के लिए स्कूल भेजने लगती है। काम को लेकर नहीं डॉटती है। जहाँ एक ओर निरंजना जैसी सहृदय नारी है वहीं गुम्मन की नानी जैसी दुश्मन भी है, जो ऐसे बच्चों के जिन्दगी से खेलती है। उसे तो बस पैसे से मतलब है। वह नहीं चाहती है कि गुम्मन स्कूल जाए। निरंजना तो इतना चाहती है कि गुम्मन स्कूल जाकर इस काबिल बन जाय कि वह अपने पैरों पर खड़ी हो सके, अपनी जिन्दगी जी सके। वह गुम्मन से एक नये रिश्ते में बँध रही थी। - ''निरंजना ने महसूस किया वह गुम्मन के साथ नये संबंध में है। कोई मिशनरी भाव नहीं बस कामना है गुम्मन इतना जरूर पढ़ ले जब अपने हिस्से की लड़ाई ठीक तरह लड़ सके । एक अच्छे परिवर्तन के साथ कायदे की जिन्दगी जिये (मुनिन्द्र 135)।'' गुम्मन की दुश्मन कोई और नहीं, उसकी अपनी ही नानी है, जो यह नहीं चाहती है कि गुम्मन पढ़-लिख कर फैशनपरस्ती करें। एक दिन वह गुम्मन को चुपके से किसी के हाथों बेच देती है। गुम्मन का कहीं कुछ पता तक नहीं चल पाता है। वह तो मनी के कहने पर निरंजना जान पाती है कि गुम्मन को उसकी नानी ने ही पैसै के लालच में किसी के हाथों बेच दिया है। मनी कहता है-''आजी कहती थी गुम्मन मजूरी करे। गुम्मन नहीं मानती थी। आजी उसे गाली देती थी कि मम्माजी ने इसे फैशनदार बना दिया है। मजूरी करने में लजाती है। आजी ने बेंच दिया (मुनिन्द्र 131)।'' उसे गुम्मन का पढ़- लिख कर अपनी मनमौजी करना पसंद नहीं था। उसे तो लगता था कि गुम्मन को पढ़ा- लिखा कर मालकिन उसे भड़का रही है। गुम्मन जैसी बच्चियाँ अपने लोगों के द्वारा ही सतायी जा रही है और चाह कर भी ऐसे बच्चे उस दलदल से बाहर नहीं निकल पा रहे हैं।

बड़े – बड़े शहरों में आवारा बच्चों से भीख मंगवाने वालो का गिरोह सक्रिय रहता है। ये बच्चे जिन्हें हम आवारा कहते हैं आखिर हमारे देश के ही बच्चे हैं। इन बच्चों की जिन्दगी गली-कुचों, रास्तों, मुहल्लों, ट्रेनों, बसों, चौराहों आदि स्थानों में भीख मांगते देखे जा सकते हैं। इनका बचपन ऐसे ही भीख मांगते या छोटे – मोटे अपराध करते बीतता है। बाद में ये बच्चें ही बड़े अपराध में शामिल होने लगते हैं। सरकार को इन बच्चों के भविष्य के बारे में सोचने की जरूरत है। एस. आर हारनोट ने 'फूलों वाली लड़की' कहानी में ऐसे ही बच्चों की जिन्दगी के बारे में बताया है। कहानी में एक बच्ची है जिसे किसी ने प्लेटफार्म में छोड़

दिया था। उस बच्चे को गीतु नाम का भिखारी पालने लगता है। थोड़ी बड़ी होने पर वह फूल बेचने लगती है, लेकिन सभ्य समाज के लोग फूल खरीदने का बहाने उसके अर्ध नग्न शरीर को निहारते हैं। गीतु भिखारी होते हुए भी अपनी बच्ची को आवारा नहीं बनाना चाहता। वह आवारा बच्चों की करतूत को जानता है। उसे सरकार पर गुस्सा आता है कि वह ऐसे बच्चों के बारे में कोई प्लान क्यों नहीं करती। वह सोचता है –

> जब प्रशासन ने आवारा कुत्तों और पशुओं के लिए शहर से दूर बाड़े बना दिए है और वहाँ उनके लिए भोजन तक का प्रबंध है तो फिर इन जीते जागते इंसानों के बच्चों के लिए ऐसी कोई योजना नहीं बनाई जाती जिससे ये पढ़ लिख कर कुछ अच्छा काम कर सकें न कि भीख माँगे और बड़े होकर उल्टे – सीधे काम करने लगे। (हारनोट 50)

एक भिखारी का ऐसा सोचना समाज की सच्चाई को बयाँ करता है। यह सच है कि हमारे नेतागण आवारा पशुओं की देखभाल के लिए अनशन करते नजर आते हैं, किन्तु अपने ही देश के लाखों बच्चें जिनकी जिन्दगी फुटपाथ में कट जाती है, उनके लिए इन नेताओं के पास कोई योजना नहीं है। एक भिखारी की औलाद होने के बावजूद तारा भीख नहीं माँगती और फूल बेचकर गुजारा करती है। इतने सारे स्वयं सेवी संस्थाएँ है, चाईल्ड वेलफेयर वाले हैं, पर किसी की नजर उस बच्ची तारा की ओर नहीं जाती है। लेखक लिखते हैं – ''उन सभी के लिए वह एक भिखारी की औलाद थी जिसके लिए किसी के मन में न कोई प्यार था, न दर्द था और न ही किसी तरह की कोई संवेदना थी। वह महज फूल बेचने वाली किसी भिखारी की आवारा बच्ची थी (हारनोट 54)।'' मंदिर वाले भी उसे अपवित्र समझते, वह दूर से भक्त जनों को भरपेट भोजन करते देखती, स्कूल के गेट के पास खड़ी होकर पढ़ने की इच्छा लिए सोचती। गितु की मौत के बाद तो वह एकदम अकेली हो जाती है। बाहर की दुनिया उसके शरीर की भूखी है, वह खुद को लोगों की नजर से बचाकर फूल बेचती। दलित संगठन, बच्चों और महिलाओं के हक की लड़ाई लड़ने वाला नेता खुद उस बच्ची का बलात्कार करना चाहता है, वह किसी तरह बचकर निकल भागती है। किन्तु वह चुप नहीं रहती है और नेताजी के खिलाफ मोर्चा खेल देती है। वह भिखारियों का दल लेकर नेताजी के घर की ओर कुच कर जाती है। कहानी में देखते हैं –

> वह एक ऐसा जुलूस था जिसमें अपंग थे, कोढ़ी थे, कुबड़े थे, अंधे थे और बच्चे – बच्चियाँ थे। कोई रेंग कर चल रहा था। कोई बैसाखियों के सहारे था। हाथों में कटोरे और छोटी बाल्टियाँ था। उनके पास कोई झंडे नहीं थे, पोस्टर नहीं थे न ही कोई नारे थे। (हारनोट 64)

यह जुलूस बताता है कि एक शहर में कितने असहाय लोग हैं जिन्हें सरकारी मदद की जरूरत है। यह जुलूस बताता है कि जुल्म किसी पर हो हम एक हैं। यह केवल तारा की बात

नहीं है, बल्कि तारा जैसी हजारों बच्चों की जिन्दगी का सवाल है जो इसी देश का नागरिक है, किन्तु वह सामाजिक अधिकारों से वंचित है।

बाल शोषण को रोकने के लिए सरकार द्वारा कई कानून बनाये गए है, लेकिन आज भी हम ट्रेनों में, बसों में, चौराहे पर लाखों बच्चों को भीख माँगने या मजदूरी करते हुए जीवन यापन करते देखते हैं। इन बेसहारा बच्चों के लिए कहीं-कहीं सरकारी संस्थानों या ज्यादातर एन.जी.ओ. की मदद से कई संस्थाएँ चलती है। इसके बावजूद हाशिए पर जी रहे ऐसे बेसहारा बच्चों की जिन्दगी को लेकर कभी कोई बड़ी पहल करते हुए नहीं देखा जाता है। सरकारें भी चुप्पी साधे देखी जाती है। ये बच्चें जो कल के भारत का भविष्य है, ऐसे ही ट्रेनों और चौराहों पर किसी तरह गुजारा करते देखे जाते हैं। बाजारवाद ने हमारे सामने सुख के कई साधन ला दिया है, इस बाजार की चपेट में हर वर्ग के लोग है। वहीं आज भी न जाने कितने बच्चे इतने असहाय है कि किसी तरह से अपने दो वक्त की रोटी का जुगाड़ कर पाते हैं। इनके पास न तो खाने के लिए भोजन है, न पहनने को कपड़ा न सर छुपाने के लिए अपना घर। 'सुभाष चन्द्र कुशवाहा' की कहानी 'इस्टाइल' एक ऐसे ही बेसहारा बच्चे की कहानी है जो ट्रेनों में बोगियों की सफाई कर अपना जीवन बिताता है। उस पर भी आज का बाजार इतना हावि है कि वह पैसेन्जर से प्राप्त पैसे का कोका कोला खरीद कर पीता है और अमीर खान की इस्टाइल में कहता है-ठंडा मतलब कोका कोला। इतनी ठंड मे भी उसके बदन पर पूरे कपड़े तक नहीं है। उसका बचपन यूँ ही ट्रेनों की सफाई करते हुए बीतता है। लेखक कहते हैं – ''मैंने उसकी खुली कमीज के अंदर उसके खंडहर शरीर से गायब हुए बचपन को देखा। कोई स्वेटर नहीं। कोई चादर नहीं। खुली कमीज और उस पर ऐसी ठंड। मुझे कपकपी महसूस होने लगी (कुशवाहा 42)।'' डब्बे को साफ करते हुए उस लड़के को एक बिस्कुट मिला था जिसे उसने अपने मुँह में डाल लिया था। लेखक को लड़के द्वारा उस बिस्कुट का खाना भले गंदा लगा हो, किन्तु ऐसे बच्चें इसी तरह दूसरो के द्वारा फेंके गए टुकड़ों पर ही पलते हैं। यह उसके भूख की निशानी है। यह कितनी बड़ी बिडम्बना है कि उसी उम्र का एक बच्चा उसी डब्बे में विडियो गेम खेल रहा था, जिसे देखकर वह लड़का कुछ देर ठहरा भी था। एक ही डब्बे में एक ही उम्र के दो बच्चे। एक के हाथ में वीडियो गेम है तो दूसरे के हाथ में डब्बे की सफाई के लिए झाड़ू। लेखक उस लड़के की मनोदशा को समझते हुए कहता है-

> वह वहाँ कुछ घड़ी ठहरा था। घुटने पर उचकते हुए वीडियो गेम खेल रहे एक सात-आठ साल के शहजादे की ऊँगलियों के जादू पर मोहित भी हुआ था। वह कुछ बोलना चाहता था। पर उसके पपड़ी युक्त होंठ काँपकर ठहर गए थे, मन की टीस आँखों से व्यक्त हो रही थी। (कुशवाहा 40)

ऐसे बच्चों का हर जगह शोषण होता है। कहानी में लेखक दिखाते हैं कि जहाँ उस लड़के का शोषण मोहना नाम का कुली करता है, वहीं उस लड़के के साथ उसी उम्र की एक लड़की भी है जिसका शोषण स्टेशन का जी. आर. पी. का सिपाही करता है। उस लड़की से वह लड़का पूछता है- ''तुम क्या कर रही थी? मुच्छड़ की जाँघ सहला रही थी? मुच्छड़ से उसका

मतलब, जी.आर.पी. के एक सिपाही से था जिसका मूछें बड़ी और झाड़ूनुमा थी और जो रोज लड़की से पाँव दबवाया करता था (कुशवाहा 44)।'' ऐसे बच्चों की जिन्दगी स्टेशन से शुरू होकर वहीं खत्म हो जाती है। उन पर कुली और जी.आर.पी. वाले ही नहीं हर कोई मौके का फायदा उठाकर शारीरिक शोषण करते हैं। ऐसे शोषण की न तो कहीं रिपोर्ट दर्ज होती है और न कोई बड़ा हंगामा खड़ा होता है।

6.5. घरेलू कामगारः-

शहर में रोजी रोटी के लिए गाँव से पलायन कर आने वालों में एक बड़ा तबका घरेलू नौकरों की होती है। इन घरेलू नौकरों में कुछ तो पुरुष होते है और अधिकांश हिस्सा बच्चों या स्त्रियों का होता हैं। इनमें से कुछ नौकर तो अपने मालिक के पास ही रहते हैं। मालिक के घरों में ही एक हिस्से में उनका कमरा होता है। वे परिवार के सदस्य जैसे ही होते हैं, किन्तु पूरी तरीके से वे कभी सदस्य बन भी नहीं पाते है। देवेन्द्र चौबे का कहना है- ''परिणामतः नगरीय जीवन में परिवार के बीच में रहते हुए भी वे परिवार के जीवन की मुख्यधारा से अलग होते हैं तथा तरह-तरह की समस्याओं का सामना करते है (चौबे 55)।'' कुछ नौकर तो बचपन से ही किसी घर का हिस्सा होता है, फिर बूढ़ापे तक वे उसी घर में अपना जीवन बीताते है, किन्तु बूढ़ा होने पर वे काम नहीं कर पाते हैं, ऐसी अवस्था में वे मालिक के लिए बोझ बन जाते हैं। अपना सारा जीवन उस घर को देने के बाद भी उसका न तो अपना घर बन पाता है न वे परिवार के सदस्य। इन नौकरों के संबंध में देवेन्द्र चौबे का कहना है-

> इस अवस्था में पहुँचे हुए घरेलू नौकर खुद यह नहीं समझ पाते हैं कि जिस घर-परिवार की सेवा में उनका जीवन व्यतीत हो गया, उसको छोड़कर अब कहाँ जाय? अब इस उम्र में कौन उन्हें आश्रय देगा? क्या करें? ये कुछ ऐसे सवाल है, जो उन्हें बार-बार कुरेदते हैं। (चौबे 56)

आज कल फ्लैट कल्चर में घरेलू नौकरानियाँ एक दिन में कई घरों में काम करती है और काम निपटाकर वह फिर वापस अपने घर चली जाती है। ये नौकरानियाँ ज्यादातर किसी शहर के झूग्गी – झोपड़ियों में रहती है। गरीबी में जीवन जी रहे इन स्त्रियों के पति दिन में बाहर काम पर जाते है और उनके बच्चे एवं बीवीयाँ शहर के घरों में जाकर खाना बनाने या झाड़ू-पोछा का काम करती है। अतः घरेलू कामगार विमर्श घरों में काम करने वालों के आधिकार की चिंता का विमर्श है। यह विमर्श हाशिए पर धकेल दिए गए ऐसे घरेलू कामगारों के अधिकार की बात करता है।

घरेलू कामगार के अंतर्गत घरेलू नौकरानियों की संख्या ज्यादा है। आज हर छोटे से छोटे काम के लिए घर में आया, दाई या नौकरानियों की जरूरत महसूस की जा रही है। घर के साधारण काम जैसे साफ-सफाई, कपड़ा धोना, बच्चों की देखभाल करना, बाजार लाना वगैरह के लिए शहरों में प्रायः नौकरानियों की जरूरत पड़ती है। संयुक्त परिवार के

खत्म होने से एकल परिवार में जहाँ पति-पत्नी दोनों कामकाजी होते हैं, उनका संसार नौकर या नौकरानियों के भरोसे ही चलता है। यही कारण है कि आजकल घरेलू काम भी एक महत्वपूर्ण रोजगार बन गया है। मजबूरी अथवा आर्थिक तंगहाली से त्रस्त परिवार के सदस्य (अधिकांश महिलाएँ) घरेलू काम-काज से आय प्राप्त कर अपने परिवार का भरण-पोषण करती है। शहरों में तो ये कामगार एक ही दिन में कई घरों का काम करती है और फिर वापस घर लौट जाती है।

हालाकि घरेलू कामगार बहुत पुरानी व्यवस्था है। बड़े-बड़े जमींदार या साधन संपन्न व्यक्ति ही घर में नौकर या नौकरानियाँ रखते थें, किन्तु आजकल मध्यवर्गीय परिवार में भी घरेलू कामगार रखना हमारी आवश्यकता बन गई है। आज के बदलते हुए सामाजिक परिवेश, शहरीकरण, विकासवाद की गति ने हमारे दिनचर्या को बदल कर रख दिया है। वैश्वीकृत समय में हर व्यक्ति आवश्यकता से अधिक गतिशील हो गया है। इस बदलती परिस्थितियों ने घरेलू कामगारों की आवश्यकता को बढ़ा दिया है। आज की शहरी जिन्दगी में घरेलू कामगारों पर घर की निर्भरता बढ़ गई है। इन कामगारों के लिए अशिक्षा और गरीबी तो एक महत्वपूर्ण कारण है ही, इसके बावजूद शहरी क्षेत्र के ग्रामीण कस्बों में अपने पति द्वारा प्रताड़ित महिलाएँ भी है जो शहरों में लोगों के घरों में काम कर अपने आप को ज्यादा सुरक्षित समझती है। हमारी जनसंख्या का यह एक बड़ा तबका है, जिनकी समस्याओं पर हम चुप्पी साधे रहते हैं। इनके ऊपर होने वाली प्रताड़नाओं पर बहुत कम आवाज उठाया जाता है। एक ही समाज में ये कहीं न कहीं हाशिए पर धकेल दिए जाते हैं। अतः आज घरेलू कामगार विमर्श की आवश्यकता है, ताकि इन कामगारों के हक की आवाज उठाई जा सके।

6.6. 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में घरेलू कामगारः

आज के शहरी जीवन का एक प्रमुख अंग घर में काम कर रहे नौकर-नौकरानियाँ हैं। यह वह अघोषित समाज है जो दिन-रात दूसरे के घरों में काम करके जीवन बिता देते हैं, लेकिन इंसान कभी इसे एक इंसान के रूप में नहीं देखता। यह वह वर्ग है जिसके बिना फ्लैट कल्चर या शहरी जीवन रूक सा जायेगा। किन्तु इन घरेलू कामगार के बारे में सोचने या विचारने के लिए कोई नहीं है। वर्तमान समय में कई रचनाकार ऐसे है जिन्होंने अपनी कहानियों में घरेलू कामगारों की चिंता को अभिव्यक्ति दी है। इन कहानीकारों ने अपनी कहानी के माध्यम से यह दिखाया है कि किसप्रकार इन घरेलू नौकरों को घर के सदस्यों द्वारा किए गए अपमान को सहना पड़ता है। उनसे गलती होने पर उसे पशु तुल्य समझा जाता है, घर में कोई समान इधर से उधर हो जाने पर पहला शक घर के नौकरों पर ही किया जाता है। उनसे अमानवीय तरीके से व्यवहार किया जाता है।

'मधु कांकड़िया' रचित 'बैल' कहानी ऐसे ही एक घरेलू कामगार की कहानी है जिसमें एक व्यक्ति को बैल बनते दिखाया जा रहा है। उसे काम का ऐसा नशा है कि काम न कर पाने पर वह रह ही नहीं पाता है। लेखक को अहसास है कि उसके कारण एक व्यक्ति जानवर तुल्य बन चुका है। कहानी का नायक है लाल बहादूर। वह नेपाल के किसी अंचल

से कोलकाता में नौकरी के लिए भेजा गया था और वह जमनालाल के यहाँ घरेलू कामगार के रूप में रह गया था। जमनालाल के हर दूसरे साल पिता बनते ही उनके बच्चों का भार लाल बहादूर पर आ पड़ता। लेखक लिखते हैं-

> उस समय लाल बहादूर की मसें भी भीगी नहीं थी ओर सेठ जमनालाल जी की पत्नी हर दूसरे साल एक पुत्र रत्न को जन्म दे रही थी। अब जब भगवान खुद आगे बढकर पुत्र रत्न की बारिश करें तो उसे कैसे रोके कोई। देखते-देखते वे चार-चार पुत्रों के पिता बन गये और लाल बहादूर उनकी माँ बन उनके जीवन का शकुन बन गया, उन्हें बच्चों की चिल्ल-पों से मुक्ति मिल गयी। (कांकड़िया 8)

इसी तरह जिन्दगी के कई वर्ष लाल बहादुर ने ऐसे ही निकाल दिये। जमनालाल के बच्चों के लिये वह कभी गिलहरी बन नीम के पेड़ पर चढ जाता, कभी चूहा बनता आदि। इसके अलावा घर के बर्तन- भाँड़े धोना, कपड़े फींचना, झाड़ू-पोछा लगाना, आटे की चक्की पर 15-15 किलों गेंहूँ पीपे में भरकर ले जाना और पिसवा कर लाना, सिलबट्टे पर चटनी बाटना आदि काम करता फिर भी उस घर की बहुँए उसे आदमी जैसा खाना भी न देता। अब जमनालाल थोड़े सहृदय हो गये, वह कहते-

> जाने किस जन्म का कर्ज उतार रहा है बेचारा, अपना घर-बार छोड़ पड़ा है यहाँ, सिर्फ दो मुट्ठी अन्न के बदले सारे घर की चाकरी कर रहा है, फिर भी तुम लोग इससे दुर्व्यवहार करने से बाज नहीं आते, कम से कम खाना तो उसे आदमियों सा दिया करो, अरे ऊपर वाले से तो डरो। (कांकड़िया 9)

लालबहादुर ने जिस बच्चे को पाल कर बड़ा किया, आज वही लाल बहादुर को छोटी सी गलती पर थप्पड़ जड़ देता है। क्या यही नियति है घरेलू कामगारों की? हम क्यों इनके प्रति इतने संवेदनहीन हो जाते हैं कि इन्हें इंसान तक नहीं समझते। जमनालाल द्वारा शपथ दिलाने पर कि कोई लाल बहादुर से काम नहीं करवाएगा, इस पर भी लाल बहादुर फूट-फूट कर रोने लगता है। वह उदास हो जाता है, उसे उदास देख जमनालाल बर्तन धोने के लिए कहता है और वह खुशी-खुशी फुर्ती से काम करने लग जाता है। जमनालाल को यह ऐहसास होता है कि यह काम किए वगैर नही रह सकता, वह सोचता है –

> उफ् काम करा-कराकर मैंने इसे आदमी रहने ही कहाँ दिया जो आदमी की तरह आराम करने की सोचे वह। मैंने जिन्दा तो रखा इसे पर जिन्दगी से बाहर कर डाला। बैल बना डाला इसे, अब यही हो गई इसकी किस्मत। बैल जब तक घास खायेगा, हल में जोता जायेगा। (कांकड़िया 11)

महानगरीय लोगों का जीवन घरेलू कामगार औरतों पर ही टीका रहता है। महानगरों में एक अच्छी घरेलू कामगार का मिलना मुश्किल हो चुका है। घरेलू कामकाजी महिलाएँ यूँ शौक से किसी दूसरे के घर काम नहीं करती हैं उसके पीछे उनकी पारिवारिक स्थिति, उनकी आर्थिक तंगी होती है। मालिक को तो बस उनसे काम लेने से मतलब होता

है। उनकी निजी जिन्दगी से मालिक को कोई वास्ता ही नहीं रहता। 'तेरहवें माले से जिन्दगी' कहानी ऐसे ही एक घरेलू कामगार बुढ़िया की कहानी है, जिसका नाम है शांताबाई। कहानी में मालिक को शांताबाई की समस्या से कोई मतलब नहीं है, उन्हें तो बस काम से मतलब है। जो शांताबाई घर का सारा काम निपटाती है, जब उसपर शामित आती है तो मालिक कन्नी काट जाता है। उसकी मौत पर भी इंसान का हृदय पिघलता नहीं है। शांताबाई की मजबूरी है कि उसके चार बेटे है और वे दारू पीकर अपने बाप को पीटते रहते हैं. वहाँ से परेशान होकर ही शांताबाई ने इस फ्लैट में काम करना स्वीकारी थी। वैसे भी नौकरानी के बिना लेखिका के घर की सारी दिनचर्या चौपट हुई जा रही थी। न बच्चे वक्त पर स्कूल पहुँच पाते, न नाश्ता ढंग से तैयार होता। शांताबाई ने पूरे घर को संभाल लिया था। बच्चे भी उससे खुश थे। एक दिन शांताबाई अपने मुलुक बेटी के पास जाने के नाम से मालकिन से 50 रूपये लेकर जाती है और तीसरे दिन के बाद गायब हो जाती है। किसी नौकरानी से पता चलता है कि दारू पीने के लिये पैसा न देने पर उसके बेटे ने बुढ़िया को बुरी तरह मारा था। कुछ दिनों बाद मार्वे बीच में उसकी लाश मिलती है। उसकी मौत की बात सुनकर महेन्द्र दुःखी नहीं होता है, उल्टे वह अपनी पत्नी से कहता है – ''यह तो इन छोटी जात वालों में आये दिन की घटना है. दारू पीकर मार-पीट, गाली-गलौज, खून खराबा तो होता रहता है। खाने को होता नहीं, छह-सात बच्चे पैदा कर लिये, दो-दो औरतें रख ली (अरोड़ा 46)।'' घरेलू कामगार वाली औरते क्या इतनी त्याज्य है कि उनकी मौत पर भी सभ्य कहलाने वाले इंसान का हृदय व्यथीत न हो। जिसके काम करने से उसका घर, घर बना रहता है, उसके जाने पर हम जरा भी व्यथीत नहीं होते। आखिर वे भी इंसान है। किन्तु हमारी संवेदना तो स्वार्थ के चादर से लिपटी पड़ी है। लेखिका शांताबाई के झोपड़े में जाना चाहती है, किन्तु उसका पति मना कर देता है। वह कहता है-''दिमाग तो खराब नहीं हो गया तुम्हारा? फसादी लड़का है, कहीं पुलिस को लगा दे तुम्हारे पीछे कि इन्हीं के घर में काम करती थी, दो महीने से पगार नहीं दी थी तो? पचास रूपये तो दिये ही थे तुमने उसे (अरोड़ा 47)।'' कहानी में आये दिन झुग्गी-झोपड़ियों को उजाड़ा जा रहा था ताकि सभ्य समाज के लिए बिल्डिंग बनायी जा सके। करीब सवा तीन सौ परिवार उजड़ रहे थे। विरोध में जुलूस निकल रहा था, पुलिस डंडा बरसा रही थी और इन सबके बीच लेखिका को याद आता है – ''इन बेबस परिवारों में कई औरतों को ऐसे काम की तलाश होगी, जहाँ काम के अलावा सिर पर छत भी मिले। हाँ, अब सचमुच अब एक नौकरानी का स्थायी बन्दोबस्त होने में कोई दिक्कत नहीं होगी (अरोड़ा 48)।''कितने आश्चर्य की बात है कि जहाँ सैकड़ों परिवार उजड़ रहे हैं, उसका दर्द किसी के पास नहीं। मनुष्य कितना स्वार्थी हो गया है कि उजड़े परिवार के बीच उसे इस बात की खुशी है कि अब एक नौकरानी का बन्दोबस्त आसानी से हो जायेगा। घरेलू कामगारों का शोषण भी कम नहीं होता है। लेकिन यह शोषण अंदर ही दबा रह जाता है। इस शोषण के खिलाफ आवाज उठाने के लिए इन कामगारों के पास कोई संगठन जो नहीं है। 'तस्दीक' कहानी में भी लेखक ने दिखाया है कि

किसप्रकार घरेलू कामगारों पर हुए अत्याचार को ये नौकर आपस में झूठी कहानियाँ गढ़ कर, एक दूसरे मे मिलकर सुख की प्राप्ति करते हैं। तस्दीक कहानी घर पर काम करने वाले तीन नौकर की कहानी है। तीनों नौकर अपने मालिक के घर पर वर्षों से काम कर रहे हैं। सुबह से बैल की तरह खटते है और शाम को किले के पीछे तीनों मिलकर एक दूसरे की पीड़ा को दूर करने का प्रयास करते हैं। लेखक दिखाते है –

> सुबह आठ से शाम छः बजे तक बैलों की तरह पिलते, सेठ उनसे बर्तन मंजवाने से पाँव दबवाने तक क्या-क्या काम नहीं करवाते, लेकिन तीनों हारे-थके, सूरज डूबते किले के पीछे इस तरह मिलते जैसे वर्षों से बिछड़े भाई मिलते हैं। एक दूसरे को देखते ही तीनों की बाँछें खिल जाती। (राठी 110)

वे तीनों मिलकर ढर्रा पीकर एक दूसरे से बढ़कर झूठी गप्पे हाँकते, किन्तु उनकी झूठी गप्पों में अपने मालिक के अत्याचार के खिलाफ प्रतिरोध होता। जिस मालिक के अत्याचारों का वे खुलेआम विरोध नहीं कर पाते उसे वे ढर्रा पीकर, कहानियाँ बनाकर अपनी कुंठा को निकालते। भैरु ने एक बार तो बाजार से लाने गये सारे मिठाईयों को खाकर मालिक से झूठ बोला था। इसके पीछे कितनी गहरी पीड़ा थी।–

> भैरू ने गुलाब जामून तो खरीद लिए लेकिन लौटते वक्त उसका मन चल गया। वह एक-एक कर सभी गुलाब जामुन चट कर गया। बेचारे ने महिनों से मिठाई नहीं खाई थी। गरीब का मन आखिर मन है। दिन-दिन मर कर भी उसका मन नहीं भरता। (राठी)

एक दिन तीनों ने सच्ची कहानी सुनाने की कसमें खाकर भी किसी ने वीर रस की, किसी ने भक्ति रस की तो किसी ने प्रेम रस की झूठी कहानियाँ ही सुनाई, क्योंकि इन नौकरों पर जुल्म की कहानी ही सच्ची कहानी है जिसे वो किसे सुनाये और इसलिए अपने मालिक के प्रति उपजे गुस्से को कहानियों के माध्यम से व्यक्त कर अपने मन को शांति प्रदान करते हैं। उस दिन तीनों ने अपने मालिक से डाँट खाई थी। बब्बन ने कहा – ''सच्चाई तो यह है कि आज दोपहर मालिक के स्कूटर न देने से मैं दुःखी था। पैडल मारते-मारते मेरी साँस फूल गई। पैरों में अब तक दर्द है (राठी 45)।'' तो वहीं गणेश ने भी सच्ची बात बताई – ''दोपहर मुझे मालिक ने एक कीमती तस्वीर गिरा देने के कारण चांटा मारा था। उसका निशान अब तक मेरे गाल पर है (राठी 45)।'' हर नौकर की अपनी अलग दास्ताँ थी।

घरेलू कामगार हमारे घरों में काम करके हमारे सपनों को साकार करने में मदद करते हैं, वहीं उनके सपने पीछे छूट जाते हैं। घरेलू कामगार वाले भी सपने देखते है। उन्हें भी सपने देखने का हक है। 'गीताश्री' की कहानी 'डाउनलोड होते हैं सपने', घरेलू कामगार वाली स्त्रियों के सपनों की कहानी है। घरेलू कामगार स्त्रियाँ भी आखिर स्त्री है, उसकी भी इच्छाएँ है, वह भी औरों की तरह सुंदर दिखना चाहती है, मजा करना चाहती है, किन्तु हमारा समाज उन्हें अन्य नजरों से देखता है। दो स्त्रियों के बीच अंतर किया जाता है। मानो

घरेलू कामगार स्त्रियों को सपने देखने का अधिकार ही नहीं है। अगर वे स्मार्ट दिखे तो उसे काम ही नहीं मिलता है। उन्हें अच्छा खाने और पहनने का हक ही नहीं है। काम वालियों की बस्ती में रोज पतियों द्वारा पत्नियाँ मार खाती है। कहानी में दिखाया गया है – ''ये कामवालियों की बस्ती थी जहाँ पर रात होते ही कराहें और आहें पूरे माहौल पर छा जाती थी। दिन भर काम करने के बाद आवारा पतियों की इच्छा पर शरीर को परोसने के बाद वे सब अपने सुख –दुःख साझा करने के लिए बैठ जाती थी (गीताश्री)।'' यह उन कामवालियों का ऐसा दर्द था जिसे सुनने वाला कोई नहीं। उस बस्ती में पुरुष अपनी स्त्रियों से वैश्यावृत्ति करवाता। कहानी में लेखिका दिखाती है- ''साली घर पर पड़ी रोटी तोड़ती है, कुछ करा दो, जरा पाँच छे मरद छू लेंगे तो अपवितर नहीं हो जाएगी, वैसे ही कौन सी सीता मैया थी, सादी से पहले भी तो सब कुछ करे बैठी है, अपने यार के साथ...(गीताश्री)।'' ऐसे माहौल में पली सुमित्रा घरों में काम करती है, किन्तु उसके सपने अलग थे-

> बड़े लोगों के फ्लैट उसे अपनी तरफ खींचते थे पर वह केवल झाड़ू-पोछे के लिए वहाँ नहीं जाना चाहती थी, वह जाना चाहती थी, लड़कों की गर्लफ्रेंड बनकर। जहाँ उसके बालों में नये-नये कलरिंग हो। हाई हील हो, छोटी-छोटी ड्रेस हो, डांस हो और उसपे फिदा होने वाले कम से कम दो-तीन लड़के तो हो। (गीताश्री)

अपने इसी सपने और पहनावे के कारण उसे घरों में अब काम नहीं मिलता है। एक मैडम कहती भी है – ''ये जो तू हीरोइन बनी फिरती है, बालों का पफ बनाकर, ये छोटे-छोटे कपड़े....किसी ने टोका नहीं तुझे..... कोई रखेगा ऐसी हीरोइन को ... कामवाली चाहिए, नचनिया गवनिया नहीं समझी (गीताश्री)।'' सुधा आंटी के कहने पर वह भी वैश्या बनने को मजबूर होती है, किन्तु वह बन नहीं पाती है और उसी सुधा आंटी के द्वारा रोहित सर के डांस ग्रूप में काम मिल जाती है। उसे लगता है- ''हवा से हल्की देह होती है... जो कभी-कभी पतंग भी बन जाती है। एक डोर उसे सपने की तरफ लिए जा रही थी। एक सपना डाउनलोड हो रहा था (गीताश्री)।'' आज के इस चकाचौंध वाली दुनिया में घरेलू कामगार के भी अपने सपने होते हैं, वे भी औरों की तरह जीना चाहते है। सुंदर दिखना चाहते हैं। कहानी में भी घरेलू काम करने वाली का एक सपना डाउनलोड हो रहा था।

घरेलू कामगारों के सपनों से हमारा कोई सरोकार नहीं रहता है। महानगरों के बीच रहकर हम इतने स्वार्थी हो जाते हैं कि हमें बस काम से मतलब होता है, इंसान से नहीं। 'महानगर की एक खामोश सी लड़की' कहानी भी ऐसी ही एक घरेलू कामगार मानू की कहानी है जिसे मालोविका ने एक साल के लिए अपने बच्चों की देखभाल के लिए पूना लाई है। पूना शहर में दिन भर बच्चों की देखभाल के लिए किसी बाई का मिलना मुश्किल है तभी वह अपने मायके से उसके घर काम करने वाली किसी नौकरानी की बेटी को उठा लाई थी। ऐसी कई नौकर या नौकरानियाँ काम के लिए कई शहरों में लाई जाती है, जहाँ वह अपनी

जिन्दगी घर के काम करने में गुजार देती है। इस हकीकत को दिखाते हुए लेखिका लिखती है-

> और फिर पूना की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी और इतनी कम्पनियाँ शहर में आ गई थी कि उनके लिए कामवालियाँ मिलना संभव नहीं था। मालविका देखती कि उसके आस-पास के फ्लैटों में कोई बिहार का लड़का काम कर रहा है तो कहीं उड़ीया लड़की। उसने भी निश्चित कर लिया कि मैं भी कलकत्ता से किसी लड़की को लेकर आ जाऊँगी। (गुप्ता 90)

मालोविका को नौकरानी मानू के अतीत से कोई मतलब नहीं, उसे तो बस अपना स्वार्थ देखना है। वह जानती है कि मानू की सगाई हो गई है। और एक साल बाद उसकी शादी है, फिर भी मानू की माँ को कुछ पैसे देकर मानू को अपने घर काम करने के लिए ले आती है। मानू का होने वाला पति फोन करने पर भी मालोविका उसकी बात मानू से नहीं करवाती है। मालोविका लेखिका से कहती है- ''उस दिन मालोविका गुस्से में तमतमा रही थी और हमारे घर पर आकर कहने लगी कि इन नौकरों के भाव देखो, इतना पैसे देकर मानू को यहाँ लायी हूँ तो क्या उसे फोन पर बतियाने के लिए (गुप्ता 92)।'' केवल पैसा कमाने के लिए मानू को नौकरानी बनना पड़ा और कुँवारी मानू की गोद में तीन दिन का मासूम-सा बच्चा डाल दिया गया। उस बच्चे की सारी जिम्मेदारी मानू के ऊपर आ जाती है। घरेलू कामगारों के बारे में ही लेखिका सोचती है- मैं उसे चुपचाप देखती रहती, सोचती रहती, क्या इसके पास सपने नहीं है? क्या यह अपने सपनो को किसी से बताना नहीं चाहती होगी? क्यों हम इन्हें इनकी जड़ों से उखाड़कर ले आते हैं अपने गमलों में रोपने को? (गुप्ता 92)।'' कहानी में एक साल बाद तो मोनू को कलकत्ता वापस जाने का मौका मिल जाता है। वह मुक्त हो जाती है, किन्तु मानू जैसी कई घरेलू कामगारों की कभी मुक्ति नहीं हो पाती है, उनका वनवास शायद कभी समाप्त नहीं होता होगा।

6.7. विस्थापन विमर्शः-

विस्थापन का शाब्दिक अर्थ है एक स्थान से दूसरे स्थान में जाना। मनुष्य द्वारा अपने मूल स्थान को छोड़कर नये स्थान में जाकर बसना ही विस्थापन कहलाता है। अतः विस्थापन की परिभाषा पर विचार करें तो विभिन्न विद्वानों एवं संस्थानों द्वारा इसकी विभिन्न परिभाषाएँ दी गई है-

विकिपीडिया के अनुसार- ''विस्थापन एक जगह से दूसरी जगह जाने की ऐसी प्रक्रिया है जिसमें लोग नई जगह पर बसने की इच्छा रखते हैं।'' विस्थापन को अंग्रेजी में 'Displacement' कहा जाता है। अंग्रेजी शब्दकोश में इसका अर्थ है- ''The act of

people to leave the place where they usually live.'' (Longman English dictionary, 388)

'हिन्दी शब्द सागर' के अनुसार- ''विस्थापन दूसरे स्थान पर जाने की क्रिया है (456)।''

'रुबी एलसा जेकब' के अनुसार- ''विस्थापन मूलतः एक व्यक्ति या समूह द्वारा जोखिमों और हित-लाभों को तोलने के बाद कम उपयुक्त वातावरण से अधिक लाभदायक स्थान की ओर गमन करने का परिमेय निर्णय है (जेकब 55)।''

चिन्मय मिश्रा का कहना है- ''विस्थापन का मतलब, जिन्दगी का उजड़ जाना है।'' (hindi.indiawaterportal.org)

प्रो. अब्दुल नाजिया कमाल 'अभिनव भारती' में लिखते हैं- ''विस्थापन का अर्थ विशेष परिस्थितियों के कारण एक स्थान से उजड़ कर दूसरे स्थान पर स्थापित होना है (कमाल 214)।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के गहन अध्ययन के उपरान्त हम कह सकते हैं कि विस्थापन का अर्थ है किसी भी व्यक्ति, परिवार, समाज, समुदाय आदि का एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रस्थान करना। दुनिया के निर्माण और मनुष्य जाति के जन्म के साथ विस्थापन होता आया है, लेकिन यह विस्थापन अनिवार्य था, लोगों को भोजन की तलाश के लिए हमेशा विस्थापित जीवन ही व्यतीत करना पड़ता था, किन्तु आज का विस्थापन विकास, प्रकृति के प्रकोप, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, भौगोलिक आदि कारणों से घटित हो रहा है।

6.8. विस्थापन के कारणः

वर्तमान समय में बेरोजगारी और वैश्वीकरण के कारण जहाँ जीविका के लिए एक राज्य से दूसरे राज्य या एक प्रांत से दूसरे प्रांत में विस्थापन आवश्यक हो गया है, जिसे ऐच्छिक विस्थापन भी कह सकते हैं, वहीं दूसरी ओर विकास के नाम पर, धार्मिक दंगों के कारण, बँटवारे की राजनीति के कारण एक बड़े मानव समुदाय को बलपूर्वक विस्थापन का दंश झेलना पड़ रहा है। भारतवर्ष में जहाँ आदिवासी समुदाय को उसके जंगल और जमीन पर अधिकार कर उन्हें बलपूर्वक विस्थापित किया गया, वहीं भारत- पाकिस्तान बँटवारे ने हिन्दुस्तानियों के हृदय में विस्थापन का ऐसा दर्द दिया जो आज भी जिन्दा है। आज भी विश्व के कई देशों में लाखों लोग ऐसे ही विस्थापित हो रहे हैं। इजराइल, फिलिस्तीन, लीबिया, सीरिया, अफगनिस्तान आदि देशों में सामुदायिक हिंसा के कारण विस्थापित हुए लोगों की संख्या लाखों में हैं। कुछ साल पहले ही वर्मा में रोहिंग्या मुसलमानों पर जुल्म ढाया गया और उन्हें जबरन उनके मूल्क से विस्थापित किया गया। अधिकांश जनसंख्या को मौत के घाट उतार दिया गया और जो बच गए वे आज भी बंग्लादेश, भारत, भुटान आदि देशों में शरणार्थी बनकर जीवन यापन करने के लिए मजबूर है। साम्प्रदायिकता के कारण

ही कश्मीर से लाखों पण्डितों को विस्थापित होना पड़ा है। आज भी वे दिल्ली के शरणार्थी शिविरों में जीवन बिताने के लिए मजबूर है। अतः गहराई से विचार करने पर विस्थापन के मूल रूप से दो कारण दिखाई पड़ते हैं। 1. प्राकृतिक कारण और 2. मानव निर्मित कारण। प्राकृतिक कारणों के अंतर्गत बाढ़, भूकम्प, सुनामी, चक्रवात आदि आते हैं। जो प्रकृति हमारे लिए जीने का जरिया है, वहीं प्रकृति कभी-कभी अपना रौद्र रूप भी दिखाती है जिसके कारण से कभी-कभी पूरा का पूरा गाँव ही नहीं शहर भी बर्बाद हो जाता है जिससे एक बड़ी जनसंख्या को विस्थापित होना पड़ता है। बाढ़ के कारण पूरा गाँव डूब जाता है, भूकम्प के कारण एक बड़ा क्षेत्र बर्बाद हो जाता है, सुनामी का कहर और भी खतरनाक होता है आदि-आदि। मानव निर्मित कारण ही आज के विस्थापन में मूल चिंता का विषय है। मानव निर्मित कारण के अंतर्गत विकास से होने वाला विस्थापन प्रमुख माना जाता है। इसमें राजनीतिक कारण भी एक विस्थापन का एक प्रमुख कारक बनकर उभरा है। विकास के अंतर्गत नदियों में बाँध का निर्माण, जंगलों की कटाई कर कल-कारखानों का निर्माण, बड़ी-बड़ी परियोजनाओं का कार्यान्व्यन आदि के कारण एक बड़ी जनसंख्या अपने निवास स्थान, अपनी संस्कृति, जंगल, जमीन आदि सबकुछ छोड़कर स्थानान्तरित होने को मजबूर हो जाते हैं। दंगों के कारण एक समुदाय को इसी प्रकार सब कुछ छोड़कर दूसरे स्थान में पलायन करना पड़ता है। सरकार द्वारा लोगों की जिन्दगी की चिंता किये वगैर बड़ी-बड़ी परियोजनाओं की अनुमति देना, इस समस्या को बढ़ा देता है। इन विस्थापित लोगों के पुनर्वास की समुचित व्यवस्था का न होना भी एक बड़ी समस्या है। अतः आज विस्थापन विमर्श एक प्रमुख विमर्श के रूप में उभर कर आ रहा है।

आज देश में विकास के नाम पर लोगों से उनकी जीविका छीनी जा रही है और उन्हें हाशिए पर धकेला जा रहा है। आज का विकास मानवीय विकास की जगह आर्थिक विकास है। यही कारण है कि विस्थापन के अध्ययन में विकास का प्रतिमान महत्वपूर्ण है। सवाल यह है कि विकास का पैमाना किस पर आधारित हो? अधिकांश विस्थापित लोगों के जीविका का साधन कृषि रहा है, किन्तु विकास की परियोजनाओं के लिए उनकी उपजाऊ जमीन को पूँजीपतियों द्वारा अधिग्रहण किया जा रहा है, कहीं-कहीं तो उन्हें जमीन का उचित मुआवजा भी नहीं मिल पाता है। मुआवजा मिल भी जाय तो कृषि पर निर्भरशील लोग अपनी जमीन छीनी जाने के बाद वे अपनी आजीविका से बेदखल हो जाते हैं और उन्हें मजदूर बनने को बाध्य होना पड़ता है। आज विस्थापन से चूँकि सामाजिक एवं आर्थिक अधिकारों का उल्लंघन होता है, अतः इसका संबंध अब मानव अधिकार से जुड़ गया है।

भारत वर्ष में साम्प्रदायिक दंगा भी विस्थापन का एक कारण रहा है। एक अनुमान के अनुसार दुनिया में धार्मिक एवं सामुदायिक संघर्षों के कारण 50 लाख आई डी पी शरणार्थी शिविरों में रहने को मजबूर है, जिसमें हर साल 20 लाख लोग जुड़ जाते हैं।(कदीम 2005)। आई डी पी का अर्थ है- आंतरिक विस्थापन व्यक्ति। भारत में आई डी पी का सही अनुमान लगाना मुश्किल होता है, क्योंकि अधिकांश विस्थापित लोग अपने ही रिश्तेदारों के पास रूक जाते हैं। केवल शिविर में जाने वाले लोगों की ही गिनती हो पाती है। इस आधार पर भी अगर हम देखे तो संयुक्त राष्ट्र के अनुमान अनुसार 1999 में भारत में

507,000 लोग आई डी पी की श्रेणी में थे।(मजुमदार 2002-102). 1985 के जातीय दंगों में 50,000, गुजरात के 2002 के दंगों में 1,000,000, कश्मीर घाटी में 1984 में 35,000 कश्मीरी पण्डित, 1984 के सिख दंगों, बाबरी मस्जिद विध्वंश के दंगों के बाद 2,00,000 लोग आई डी पी में शामिल हुए। (दास 2005, 122-134). असम में भी बाहरियों के खिलाफ़ 1979 से 1985 के बीच 1,37,000 लोग विस्थापित किये जा चुके है। ऐसे ही शिलंग, त्रिपुरा, मणिपुर, मिजोरम में हजारों लोग विस्थापित हो चुके हैं।

बीसवीं सदी में विश्व युद्ध और राजनीतिक कारणों से विस्थापन की समस्या बढ़ी है। नये राष्ट्रों के निर्माण ने इस समस्या को और बढ़ाया है। भारत विभाजन ने ही लाखों लोगों को विस्थापन के दर्द का एहसास कराया है। यह दर्द दीर्घकालिक होता है। भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश, पलस्टैन, इस्राइल जैसे राष्ट्र विभाजन के उपरान्त विस्थापन की मार आज तक झेल रहा है। आज भी विश्व में करोड़ों लोगों को शरणार्थी का जीवन यापन करना पड़ रहा है। इसके साथ ही श्रीलंका का गृह युद्ध, क्रोएशिया का संघर्ष, इस्राईल-अरब संघर्ष, रोहिंग्या समस्या, कुसांवो संघर्ष, कंपूचिया संघर्ष, युगोस्लाबिया का विघटन जैसे राजनीतिक संघर्षों के कारण विश्व भर में विस्थापन एक विकराल समस्या के रूप में उभर कर सामने आया है।

जब विस्थापन एच्छिक होता है तो वहाँ विस्थापन का दंश नहीं होता है, विस्थापित व्यक्ति के अपने मूल स्थान पर वापस लौटने की संभावना रहती है। उसकी डोर अपने मूल स्थान से जुड़ी रहती है। लेकिन जहाँ विस्थापन बलपूर्वक होता है, उस इंसान के अपने मूल स्थान पर लौटने की संभावना लगभग खत्म हो जाती है। उसे हमेशा विस्थापन का दंश झेलते रहना पड़ता है। सरकार द्वारा विस्थापितों के लिए पुनर्वास की व्यवस्था तो की जाती है, किन्तु नये स्थान पर मनुष्य पूरी तरह से अपनी जमीन और उनकी यादों को नहीं भूला पाता है। उन्हें अपनी संस्कृति से कटने का भी दर्द झेलना पड़ता है। फलस्वरूप मानसिक विस्थापन का जन्म होता है, जहाँ मनुष्य एकाकी एवं कुंठा से ग्रसित हो जाते हैं। यही कारण है कि विस्थापन केवल स्थान परिवर्तन का नाम नहीं, बल्कि इसका प्रभाव दूरगामी एवं जीवन पर्यन्त रहता है।

भूमंडलीकरण के उपरान्त भौगोलिक विस्थापन को बहुत प्रोत्साहन मिला है। आज नौकरी के लिए मध्यम वर्ग ही नहीं मजदूर वर्ग तक का विस्थापन हुआ है। विश्व के अधिकत्तम विकसित देशों में मजदूरों का आवागमन बढ़ा है। व्यापार के अन्तरराष्ट्रीयकरण के उपरान्त हर वर्ग के मनुष्यों का भी अन्तरराष्ट्रीयकरण हुआ। विश्व के लगभग 136 देशों में भारतवासी फैले हुए है, जिसकी संख्या लगभग दो करोड़ है और ये हर क्षेत्र डॉक्टर, इंजीनियर, कम्प्यूटर, मजदूर आदि में काम करने वाले लोग है।

आज विकास के कारण विस्थापन का दंश झेलने वालों में आदिवासी समुदाय सबसे आगे हैं। पर्यावरणीय विनाश और अमानवीय विकास ने जल, जंगल, जमीन को अंधाधुँध नष्ट किया है। जंगलों की कटाई, उत्खनन के कारण आदिवासी समुदाय के विस्थापन की समस्या बढ़ती जा रही है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा झारखण्ड, छत्तीसगढ़,

उड़ीसा में खनन के लिए वहाँ के मूल निवासियों को खदेड़ा जा रहा है। यूरेनियम, बाक्साइट, कोयला जैसे बहुमूल्य खनीज जिन जंगलों की कोख में है वहाँ आदिवासियों का ही गाँव है। अतः उन्हें उनके गाँव को उजाड़ा जा रहा है और घरों से विस्थापित किया जा रहा है। छत्तिसगढ़ में ही अचानकमार टाइगर रिजर्व परियोजना के कारण छः ग्रामों के आदिवासी समुदाय को विस्थापित होना पड़ा, जिसमें परिवारों की संख्या 249 और कुल जनसंख्या 866 थी। इनमें अधिकांश परिवार बैगा जनजाति के थे। राँची में HEC के निर्माण से 25 गाँव और 12990 आदिवासी परिवार, बोकारो स्टील प्लांट बनने से 46 गाँव और 12487 आदिवासी परिवार विस्थापित हुए। जनगणना के अनुसार झारखण्ड में आदिवासियों की संख्या 36.81 प्रतिशत थी जो 1991 में घटकर 27.67 प्रतिशत हो गई। आदिवासी समुदाय ने इसके विरोध में कई आन्दोलन भी किए, किन्तु आन्दोलन असफल रहा। किसी भी जनजाति के लिए उसकी संस्कृति की पहचान उसकी जमीन, उनका परिवेश होता है, किन्तु देश के आधुनिकीकरण ने सबसे पहले इनसे इनकी जमीनें छीनी है, वे अपनी पुश्तैनी जमीन से, अपने परिवेश से विस्थापित हो गये। ये हाशिए में चले गये। भारत के लगभग दो करोड़ जनजाति विकास के कारण विस्थापित हुए है। यह विस्थापन अगर इसी तरह जारी रहा तो भारत से अति प्राचीन जनजातियाँ शीघ्र ही विलुप्त हो जायेंगी। अतः जनजातियों के विस्थापन की अवस्था चिंताजनक है। ये जनजाति कुल जनसंख्या का केवल 8 प्रतिशत है जबकि विस्थापितों में इसकी संख्या 60 प्रतिशत है।

6.9. 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में विस्थापन का दंशः

विकास से हुए विस्थापन में बाँध निर्माण के कारण विस्थापित हुए लोगों की संख्या भारत में सबसे ज्यादा है। 1972 में तेहरी बाँध के निर्माण से 100 से अधिक गाँव जलमग्न हुए, जिससे नब्बे हजार के करीब लोग विस्थापित हुए। नर्मदा घाटी विकास परियोजना के अंतर्गत नर्मदा और 419 सहायक नदियों में 3200 बाँध बनाये गये, जिससे लगभग लाखों लोगों को विस्थापित होना पड़ा। 1990 में निर्मित बारगी बाँध पहला बाँध है जिसने 162 गाँवों से एक लाख चौदह हजार लोगों को विस्थापित किया। उड़ीसा में बने हीराकुंड बाँध ने 1957 में इक्कीस हजार परिवारों को विस्थापित किया। अभी देश में लगभग हजार बाँध निर्माणाधीन है। 'Working Group on Human Rights in India and UN' की ताजा रिपोर्ट के अनुसार आजादी के बाद से विकास परियोजनाओं के चलते देश में छह से साढ़े छह करोड़ लोगों को विस्थापन की मार झेलनी पड़ी है। इस विस्थापन से पूँजीपतियों को तो फायदा हुआ, किन्तु जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा अपने गाँव, अपने घर-बार से पूरी तरह बेदखल हो गया। इस रिपोर्ट के अनुसार 2.6 करोड़ पूरी दुनिया में ऐसे लोग है, जिनका विस्थापन उनके अपने देश में हुआ। अभी भी दुनिया में 1.5-1.6 करोड़ शरणार्थी, 10 लाख से अधिक आश्रय मांगने वाले और 4.3 करोड़ ऐसे लोग है, जिन्हें घर छोड़ने पर विवश किया गया है।

विकास के नाम पर गाँव के गाँव उजाड़े जा रहे हैं। बड़ी-बड़ी परियोजनाओं और डैम आदि के निर्माण के लिए कई गाँवों को विस्थापित कर दिया जाता है। लोग अपनी जमीन,

अपने लोग, अपनी संस्कृति सभी से विस्थापित हो जाते हैं। 'मुरारी शर्मा' की कहानी 'मुट्ठी भर धूल' में ऐसे ही गाँव का चित्रण है, जहाँ नदी पर डैम बनाने के लिए पूरे गाँव को खाली करने का नोटिस जारी कर दिया जाता है। सरकार गाँव वालों को मुआवजा भी दे रही है, पर क्या उस मुआवजा से फिर से भरा-पूरा गाँव बसाया जा सकता है। क्या यह मुआवजा गाँव वालों का वह सब कुछ लौटा सकता है, जिसे वह वर्षों से उस गाँव के बीच रहकर प्राप्त किया है। कहानी में रूलिया को डैम के बनने से एतराज नहीं, उसे तो इस बात से एतराज है कि डैम के लिए उसके गाँव को क्यों नष्ट किया जा रहा है। उसे इस बात का डर है कि –

> नदी पर डैम बनेगा.... और सारा गाँव पानी में डूब जायेगा। खेत-खलिहान, घर आँगन सभी पानी के कोख में समा जाएंगे। इसके साथ डूबेगी सदियों पुरानी विरासत, पुरखों की धरोहर और डूबेगी जवानी के दिनों की चंद यादें। इतिहास के पन्नों में क्याण गाँव भले अंकित रहेगा। मगर दुनिया के भूगोल से इसका नाम सदा के लिए मिट जायेगा। (शर्मा 19)

लोगों के विरोध करने पर भी डैम का काम रोका नहीं जा सकता था। प्रधान लोगों को मुआवजा का हिसाब बता रहा था कि गाँव वालों को हर एक चीज का मुआवजा मिलेगा, घर, खेत, खलिहान सबका, फिर सरकार नई जगह बनाकर देगी। देखते-देखते ही पहाड़ों पर बड़े-बड़े मशीन कामों पर लग चुके थे। उधर कामरेड विस्थापितों के हक के लिए लड़ रहा था। कामरेड कह रहा था- ''हम नहीं चाहते कि भाखड़ा व पौंग डैम के विस्थापितों की तरह यहाँ के लोगों का भी हश्र हो। जो उजड़ने के बाद आज तक नहीं बस पाये है। इसलिए हम विस्थापितों के हक के लिए लड़ रहे हैं (शर्मा 24)।'' पूँजीपतियों को विस्थापित लोगों की भावनाओं से कोई सरोकार नहीं। उन्हें तो बस पैसा कमाना है। डैम बनने के बाद सरकार भी अपने वादों से पीछे हटने लगी थी। लेखक बताते हैं- ''सरकार लोगों से किए वादे के मुताबिक रहने की जगह उन्हें नहीं दी थी। पहाड़ की तराई में नाले के पास छोटे से मैदान में डिब्बे की तरह घर बनाकर दे दिए थे।.... न आगे अपनी जगह थी और न पीछे (शर्मा 24)।'' गाँव से सभी परिवार जा चुके थे, किन्तु रूलिया अब भी गाँव में था। वह एक-एक घर को डूबते देख रहा था। कैसे उसका चारागाह डूबा फिर गाँव के खेत, घासणियाँ, डाल-बूट सब डूबने लगे, धीरे-धीरे रूलिया का गाँव से रिश्ता टूटता हुआ नजर आ रहा था। वह दौड़ कर गया और अपने खेत से एक मुट्ठी मिट्टी लेकर रूमाल में बाँध लिया, उसकी दुनिया उजर चुकी थी। लेखक लिखते हैं-

> वहाँ से आगे जाने के बजाय वह जमीन पर झूककर बिलख-बिलख कर रोने लगा। अपनी धरती को आखिरी प्रणाम कर उसने एक मुट्ठी में खेत की मिट्टी उठाकर जेब से रूमाल निकाल उसमें बाँध दी। उसे माथे से लगाकर वह थके कदमों से वापस लौट गया। (शर्मा 25)

एक ओर विकास के नाम पर लोगों को अपना गांव छोड़कर दूसरे जगह जाकर विस्थापित होना पड़ रहा है, वहीं आज नौकरी एवं मजदूरी के लिए लोगों को शहर की ओर पलायन करना पड़ रहा है। आज हर राज्य के लोग दूसरे राज्य में जाकर मजदूरी या नौकरी कर विस्थापन की ही जिन्दगी जी रहे हैं। एक ही देश के नागरिक होने के बावजूद दूसरे राज्य के लोगों को विस्थापित जीवन जीना पड़ता है। अपने ही देश के दूसरे राज्य में जाने पर हमें बाहरी समझा जाता है। महाराष्ट्र में मराठा और हिन्दी भाषी खास कर बिहारी के साथ भूमिपुत्र वाला मुद्दा गरमाता रहता है। भारत का ही एक केन्द्र शासित प्रदेश है अंडमान-निकोबार जो कैदियों और विस्थापित मजदूरों द्वारा ही बसाया गया एक द्वीप है, किन्तु उस द्वीप में भी जो निवासी है, उन्हें अपने राज्य, अपनी जमीन से विस्थापित होने का दर्द सालता रहता है। 'सुभाष चन्द्र कुशवाहा' की कहानी 'कहां की धरती, कहां का मानुष' उसी अंडमान भूमि में रह रहे एक ऑटोवाले की कहानी है। अन्य राज्य से आने वाले लोगों की कई पीढ़ी गुजर जाने के बाद भी उनके माथे से बाहरी होने का तमगा नहीं हटता है। वह ऑटोवाला लेखक से कहता है- ''अब देखिए न, हमारे दादा झारखंड से यहाँ लाए गए थे। हमारी दो पीढ़ियाँ यहीं की है, इसी जमीन की। लेकिन हमें 'राँची' कहा जाता है। हम हिन्दी और भोजपुरी बोलते-बतियाते हैं। अंडमान में रहकर भी, हम झारखंडी बने हुए है (कुशवाहा 98)।'' अंग्रेजों ने किसप्रकार कैदियों को काला पानी के नाम पर सजा देकर भारतीयों को अपनी जमीन से विस्थापित कर अंडमान लाकर उस पर जुल्म किया, इसकी व्यथा आज समुन्द्र की लहरें भी मानो बयाँ करती है। उन विस्थापित भारतीयों के दर्द को भुलाया नहीं जा सकता है। कहानी में लेखक लिखते हैं- ''अंग्रेजों ने इस द्वीप पर हजारों विक्षोभ, हजारों विस्थापन के दर्द उगाए है। राजनीतिक कैदियों के आँसुओं को उनके वतन से अलग कर इस समुन्द्र के खारे पानी में मिलाया है। हर किसी के जुबान पर जुल्म की लम्बी दास्ताँ है (कुशवाहा 102)।'' विस्थापित व्यक्ति अपनी पुरानी यादों को भुला नहीं पाता है। कहानी में ऑटोवाले का परिवार अपने गाँव, अपने राज्य की मीठी बातों को कभी भुला नहीं पाया और पुरी जिन्दगी विस्थापित होने का दर्द लेकर ही पोर्टब्लेयर में गुजार दी। लेखक कहते हैं – ''पोर्टब्लेयर में पैदा होकर उसके माँ –बाप न तो आदिवासियों की बोली-भाषा सीख पाए, न उसका परिवार। रमेश दा जीते जी सोनार बांग्ला को भूले न थे (कुशवाहा 107)।'' यह ऐसे ही विस्थापित परिवार की पीड़ा है जो विस्थापित होकर न तो पूरी तरह नये स्थान का हो पाता है, न पुरानी यादों को भुला ही पाता है।

विस्थापन का दंश भारत विभाजन के समय सबसे ज्यादा देखने को मिला था। 'यादों का अखबार' भारत विभाजन के उपरान्त विस्थापित हुए एक परिवार की कहानी है। सियासत ने मुलक के दो टुकड़े कर दिए थे, जिससे लाखों परिवार को विस्थापन का जीवन जीने के लिए बाध्य होना पड़ा था। लाखों मुसलमानों को हिन्दुस्तान छोड़कर पाकिस्तान और लाखों हिन्दुओं को अपना घर पाकिस्तान छोड़कर हिन्दुस्तान आना पड़ा

था। सियासत ने देश के दो टुकड़े कर दिए थे, किन्तु लोगों से अपने मुहल्ले, अपने लोगों की य़ादों को भूला नहीं पाये थे। नसीमा के परिवार को ग्वालियर का अपना मकान, अपने लोग, सब छोड़कर पहले तो कैम्प में दिन गुजारना पड़ा, फिर वे सरकारी मदद से पाकिस्तान में बस गये, किन्तु नसीमा उन यादो को भूल नहीं पाती है-

> लोगों से बिछुड़ने के घाव अब भरने लगे थे, मगर मुझे तो ग्वालियर की यादें छोड़कर ही नहीं जाती थी। सहेलियों के साथ खेलना, भागना-दौड़ना, गर्मियों में बर्फ के गोले खाना, घर के पिछवाड़े में खड़े अमरूद और आम के पेड़ों पर गिलहरियों की तरह चढ़ जाना, अम्मी-दादी के बुलाने पर छुप जाना। मैं अपने सहेलियों, फरजाना, अमीना और शमशाद के बारे में सोचा करती, न जाने वे अब कहाँ होंगी। (बनज 56)

कई साल बाद जब उसे अपने पति तनवीर के साथ वापस इंडिया आने का अवसर मिलता है तब वह ग्वालियर के उसी गली पर जाती है और अपने मकान के पास जाकर खड़ी हुई, किन्तु अंदर घुसने की हिम्मत नहीं हुई। अब उस मुहल्ले में पाकिस्तान से भागकर आये लोग रहने लगे थे। वह बाहर रोने लगी, फिर एक बुढ़िया के साथ अन्दर ले जाने पर उसने सारी बात बताई। जितनी पीड़ा नसीम को थी, उतनी ही उस हिन्दू परिवार की भी थी, जिन्हें अपना सब कुछ छोड़कर यहाँ आना पड़ा था। लेखक लिखते हैं- ''जितने लोग वहाँ खड़े थे, सबको अपना अतीत याद आ गया। उनमें से सभी अपना कुछ न कुछ खोकर यहाँ आ पाए थे। सभी की आँखे नम थी। मुझे लगा, मैं अपने ही परिवार के बीच में हूँ (बनज 58)।'' विस्थापन की पीड़ा को विस्थापित ही जान पाता है। इतने सालों बाद भी नसीमा का हृदय अपने जन्म स्थान के लिए तड़पता है। मुहल्ले की हर चीज से एक नाता जुड़ा होता है। नसीमा कहती है- ''मैनें घर और गली को कितना ही बार देखा, कितने ही चक्कर लगाए। अमरूद और आम के पेड़ों पर चढ़ तो नहीं सकी , पर उन्हें छूकर उनमें पैदा हुए अहसास को महसूस करने की कोशिश की (बनज 58)।'' चाहे सियासत हमे अलग कर दे, लेकिन अपने लोगों से जुड़ाव, मानवता की भावना हमारे अंदर से खत्म नहीं हो सकती। नसीमा जब वापस जाती है, वह भावुक हो जाती है-

> मैनें अपने घर की मिट्टी माथे से लगाई और थोड़ी-सी पर्स में ये सोचकर रख ली, इसे मैं पाकिस्तान की मिट्टी से मिलाऊँगी कि कहाँ फर्क है, एक ही तो है, फिर ये लड़ाई क्यों। सारा परिवार मुझे छोड़ने रेलवे स्टेशन आया। ट्रेन जब चल पड़ी तो इधर मैं ओर उधर सारा परिवार रो रहा था। वे मुझे रोकना चाहते थे और मैं रूकना चाहती थी, पर वक्त एक-दूसरे को अलग कर रहा था। (बनज 58)

नए पीढ़ी के कहानीकार भी विस्थापन के दर्द को अपनी कहानियों में व्यक्त कर रहे हैं। आज दो वक्त की रोटी के लिए हमें विस्थापन का जीवन जीना पड़ रहा है। वहीं बँटवारे के दंश का दर्द आज भी विस्थापित हुए लोगों के दिलों को कुरेद रहा है। 1947 के बँटवारे का विस्थापन हो या 1984 के दंगों में हुए विस्थापन की पीड़ा, विस्थापन आज कई रूपों

में हमारे चारों ओर दिखाई पड़ रहा है। 'तरुण भटनागर' ने अपनी कहानी 'दादी, मुल्तान और टच-एंड-गो' के माध्यम से आजादी के साथ विस्थापित हुए लोगों की पीड़ा को एक दादी जिसका जीवन मुल्तान में बीता था और किसप्रकार बँटवारे के समय उसे अपना सब कुछ छोड़कर हिन्दुस्तान आना पड़ा था, उसकी पीड़ा के साथ लेखक उन तमाम लोगों की पीड़ा को अभिव्यक्ति दे रहे हैं जिन्हें आजादी के वक्त अपना मुल्क छोड़कर एक नये मुल्क में आना पड़ा था। कहानी में दादी अपने मुल्तान को कभी नहीं भूल पाई। लेखक ने एक औरत जो औरत होने के कारण सदा ही विस्थापित रहती है, उसकी पीड़ा को भी व्यक्त कर रहे हैं। कहानी में दादी कहती है-

> औरत को हर छत छोड़नी पड़ती है। ऐसी हर छत जिसे वह अपना कह देती है। ऐसी हर छत जिसे अपना कहने का उसका मन करता है।... वह बताती है कि बुलन्द शहर उसकी दूसरी छत थी। पहली छत यानी उसका मायका, पिता का घर। (भटनागर 20)

यह सच है कि हर विस्थापन में स्त्री को कुछ न कुछ खोना ही पड़ता है। बँटवारे के समय जब दादी को मुल्तान छोड़कर आना पड़ा था, उस मुल्तान की एक-एक यादें उनके दिलों में जिन्दा थी। लेखक दिखाते हैं-

> दादी के कमरे में बहुत सारा मुल्तान था, जिसे दादी संभालकर अपनी पेटी में ताला लगाकर रखती। उसने किसी को नहीं बताया, कि बँटवारे के समय जब उसने घर छोड़ा था, तब वह थोड़ा सा मुल्तान अपने साथ ले आई थी, जो आज तक उसके पास है। (भटनागर 24)

आज की नई पीढ़ी के लिए 1947 के बँटवारे की वह रात केवल कहानियों मे जिन्दा है, किन्तु जिन लोगों को अपना सब कुछ छोड़कर विस्थापन की जिन्दगी जीना पड़ा था, उसका दर्द आज तक कम नहीं हो पाया है। किसी के लिए संभव नहीं है कि वह अपने स्थान को भूल जाए, अपनी यादों को जितना भी समेटे कुछ न कुछ छूट जाता है। उस दर्द को महसूस करते हुए लेखक कहानी में लिखते हैं – ''कितना भी बटोर लो कुछ चीजें छूट ही जाती है। कुछ चीजें साथ नहीं आ पाती है। वे उसी मुल्क में छूट जाती है (भटनागर 24)।'' दादी मुल्तान छोड़ते वक्त फूट-फूट कर रोई थी। पाई-पाई जोड़कर बनाये उस घर को छोड़ना दादी के लिए सब कुछ उजड़ जाना था। विभाजन की एक लाईन ने दो मुल्कों को बाँट दिया था, जिसका दंश आज तक हम झेल रहे हैं। कहानी में दादी बताती है- ''कोई रेडक्लिफ था, उसने एक लाइन खींची थी। करोड़ों लोग लाइन के इधर और करोड़ों उधर। करोड़ों लोगों के घर लाइन के उधर और करोड़ों के इधर। लाइन के इधर पाकिस्तान और लाइन के उधर भारत (भटनागर 27)।'' दादी के लिए अपने मुल्तान को छोड़ने का दर्द तभी खत्म हुआ जब वह उस दर्द को सीने में लिए परलोक सिधार गई। सभी दादी को मुल्तान की बात पर चिढ़ाते थे, किन्तु उनके उस दर्द को कोई महसूस नहीं कर पाया। विभाजन की

रात, ऐसे सैकड़ों शहरों की रात थी, जहाँ मुल्तान की घटना घटी थी। आज इतने वर्ष बीत जाने के बाद भी विस्थापित लोगों के हृदय से उस रात की पीड़ा भुलाई नहीं जा सकी है।

'ज्योति चावला' ने भी अपनी कहानी 'चाबी, घर और अंधेरा' में विस्थापन के ऐसे ही दर्द को दिखाई है। 1947 के विभाजन में अपने मुल्क पेशावर को छोड़कर शरणार्थी बन दौलत राम भारत आय़ा था। वह फिर कभी जीते जी अपने शहर पेशावर नहीं जा सका और पेशावर की यादों के दिल में लेकर ही वह इस दुनिया से चला जाता है। बँटवारे के 70 साल बाद भी दौलतराम के दिल में वह घटना आज भी जिन्दा है। बंटवारे की रात वह अपने घर में ताला लगाकर इस आश में भारत भाग आया था कि सब कुछ ठीक होने पर वह वापस अपने घर आयेगा, पर सब कुछ ठीक कभी नहीं हुआ। वह चाबी सत्तर साल तक उसके साथ रहा, अब जब वे मौत के करीब है, उनकी आखिरी इच्छा यहीं है कि उन्हें पेशावर में ही सुपुर्दे खाक किया जाए। पेशावर की यादें उसके जेहन में जिन्दा है। लेखिका दिखाती है-

> उस रात जो ताला लगाकर निकले दौलतराम तो फिर न लौट सके वहाँ। कभी नहीं। लेकिन वह घर, वह दहलीज, वह बेहड़ा जरूर उनके साथ चले आए थे इंसानो द्वारा खींची हुई सरहदों को लाँघकर। वो वोहड़ा, वो मोहल्ला, वो बाजार, वो चौक, वे चौराहे, वे इक्के, वे घोड़े आज भी उनके जेहन में जिन्दा है। समय और काल की सभी सीमाओं को लाँघकर वे आज भी उन्हें वैसे ही पुकारते हैं। (चावला 110)

बँटवारे के समय करोड़ों लोग विस्थापित होकर टूट चुके घरों की टीस आँखों में लिए एक नये मुल्क में आये थे। दौलतराम अपने मुल्क को छोड़कर शरणार्थी बन भारत आया था और अपनी मेहनत से उन्होंने यहाँ बड़ा नाम और धन-दौलत भी कमाया, किन्तु अपने पुराने शहर पेशावर की यादों को कभी भुला नहीं पाया। - ''उस रात दौलतराम को नींद नहीं आ रही थी। सत्तर बरस बीतने को आए इस घटना को लेकिन जैसे वह आज भी उनके दिल में कहीं सुलग रही थी। आज भी अचानक वह आँखों में ऐसे उतर आती जैसे सब कुछ अभी बिल्कुल अभी घट रहा हो (चावला 109)।'' वहाँ से उजड़ कर आये करोड़ों हिन्तुस्तानी आज भी उस सरजमीन की याद में दम तोड़ देते हैं। दौलतराम का बेटा और उसका पोता दौलतराम की आखिरी ख्वाहिश पूरा करने के लिए उनकी अस्थियों को लेकर पेशावर शहर के एक गाँव जेद्दा भी पहुँचते हैं, उन्हें बहुत मशक्कत करनी पड़ती है दौलतराम के घर की तलाश करने में। अंत में उस पुराने घर तक पहुँचते भी है, किन्तु वहाँ सब कुछ बदल चुका था। उस घर में पिज्जा की दुकान खुल चुकी थी। दौलतराम की सारी निशानियाँ मिट चुकी थी। एक परिवार आज वहाँ बस रहा था। दौलतराम की अस्थियों को वहीं एक खेत के पास सुपुर्दे खाक कर दिया जाता है। किन्तु जब वे वापस भारत आते हैं तब तक उसकी दुकान भी उजड़ चुकी होती है। इतने सालों बाद भी विस्थापित परिवार अपनी पहचान के लिए जद्दोजहद करता दिखाई पड़ता है।

6.10. निष्कर्षः

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सामुदायिक एवं अस्मिता मूलक विमर्श के अलावा भी आज के दौर में पर्यावरण, बाल, घरेलू कामगार जैसे कई विमर्श उभर कर आ रहे हैं। इन विमर्शों की ओर विद्वानों का ध्यान कम ही गया है फिर भी आज के साहित्यकार इन समस्याओं से आँखें मूँदे हुए नहीं है। जिस प्रकार पर्यावरण की समस्या दिन पर दिन बढ़ती जा रही है, हमें शुद्ध वायु मिलना मुश्किल हो चुका है। कई शहरों में वायुप्रदुषण की मात्रा इतनी बढ़ गई है कि आँखों में जलन होने लगता है। कल का भविष्य कहलाने वाले बच्चों की जिन्दगी आज भी सड़कों पर भीख मांगते देखी जा सकती है। लाखों बच्चों की जिन्दगी रास्ते से शुरु होती है और रास्ते में ही खतम हो जाती है। वैश्वीकृत दौर में जहाँ घर में माँ-बाप, दोनों का कामगार होना जरूरी हो गया है, वहीं नई पीढ़ी के बच्चों की जिन्दगी किसी क्रेंच या आया के भरोसे ही पल रहा है। वहीं हमारे समाज का एक बड़ा तबका जो दूसरे के घरों में कामगार बनकर अपना जीवन यापन करता है, उसकी जिन्दगी आज भी हाशिए का ही एक हिस्सा बना हुआ है। अपना सब कुछ मालिक को देने के बाद भी उसके जीवन की कोई गारेन्टी नही रहती है। उसका अपना कोई नहीं रहता है, न अपना घर न रिश्तेदार। अन्ततः वह अकेला ही रह जाता है। जिन कामगारों का अपना परिवार होता है, मालिक को उनके परिवार से कोई सरोकार नहीं रहता। उसे तो बस काम से मतलब होता है। विस्थापन के कई रूप है। जहाँ विस्थापन आजादी के बाद एक विस्तृत फलक पर घटित हुआ था, जिसकी पीड़ा को हम आज तक नहीं भूल पाए है, वहीं वैश्वीकरण के उपरान्त शहरीकरण की नीति और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए जमीन मुहैया कराने की नीति ने विस्थापन की घटना को नियमित घटना बना दिया है। आज एक साधारण नौकरी पेशा वाला युवक भी दूसरे राज्य में नौकरी करने जाता है तो कहीं न कहीं वह बाहरी माना जाता है और वहाँ भी उसे विस्थापित सा जीवन बोध होता है। मजदूरी के नाम पर भारत के बड़े-बड़े शहरों में काम करने वाले लोग विस्थापन का दंश हर रोज झेलते हैं। कहीं बाँध बनवाने के नाम पर, तो कहीं जल-बिजली योजना के नाम पर, कहीं जंगलों के दोहन के नाम पर कई-कई गाँवों को उजाड़ा जा रहा है। जंगलों और बागानों को उजाड़ कर नया शहर के नाम पर शहरों का विकास हो रहा है। बड़े-बड़े टाउनशीप बनाये जा रहे हैं और इसके लिए वहाँ पहले से रह रहे लोगों को विस्थापित किया जा रहा है। भले उन्हें मुआवजा के नाम पर रूपए दिए जाते हैं, किन्तु उन रूपयों से विस्थापन का दर्द नहीं मिटाया जा सकता है। गाँव के गाँव उजाड़ कर उनकी संस्कृति को मिटा दिया जाता है। 21वीं सदी के कई कहानिकारों ने आज के दौर में हो रहे विस्थापन की पीड़ा को अपनी कहानियों के माध्यम से अभिव्यक्त करने की कोशिश की है, जिनका विश्लेषण हम कर चुके है। जरूरत है तो हमें कमर कसने की ताकि हम अंधे विकास की ओर प्रवृत्त न होकर विकास का सही मायने समझ सके। आज की पीढ़ी के कहानीकार आज के समय की सारी विडम्बनाओं एवं समस्याओं पर अपनी कलम चला रहे हैं। इन अपेक्षित विमर्शों पर अभी बहुत कुछ लिखा जाना बाकी है। उम्मीद है कि आज के रचनाकार समय के प्रति और अधिक सचेत होंगे और कहानियों में इन अपेक्षित विमर्शों को एक नई जगह मिलेगी।

संदर्भ- ग्रंथ

1. चन्द, गोपाल. संपादित. *मानक हिन्दी कोश.* खण्ड-3.
2. शर्मा, दामोदर, हरिश्चन्द्र व्यास. *आधुनिक जीवन और पर्यावरण.* प्रभात प्रकाशन, 2007.
3. अग्रवाल, पद्मा. संपादित. *मानविकी पारिभाषिक कोश.* मनोविज्ञान खंड. राजकमल प्रकाशन, 1998.
4. चौबे, देवेन्द्र. *समकालीन कहानी का समाजशास्त्र.* प्रकाशन संस्थान, 2001.
5. द्विवेदी, हजारी प्रसाद. *कुटज.* राजकमल प्रकाशन, अंक-9.
6. गुप्ता, रमणिका. *समकालीन हिन्दी उपन्यास और पारिस्थितिकीय संकट.*
7. शर्मा, मुरारी. 'प्रेतछाया', *पहाड़ पर धूप.* अंतिका प्रकाशन, 2015.
8. रजनीश, जाकिर अली. *जरूरत.*
9. सिंह, राणा प्रताप. 'अंधेरे में हम', *करजा के खातिर.* अंतिका प्रकाशन, 2017.
10. पथिक, चरण सिंह. 'पीपल के फूल', *मैं बीड़ी पीकर झूँठ नी बोलता.* कलमकार मंच, 2019.
11. हारनोट. एस. आर. 'फूलों वाली लड़की'. *किलें.* वाणी प्रकाशन, 2019.
12. हारनोट. एस. आर. 'भागादेवी का चाय घर'. *किलें.* वाणी प्रकाशन, 2019.
13. मीणा, हरिराम. 'जंगल में आतंक'. *माँदर पर थाप.* सं. अजय मेहताब. अनुज्ञा. 2019.
14. कांकड़िया, मधु. 'बुलन्द हस्तियों के बीच एक शाम', *जलकुम्भी,* वाणी प्रकाशन, 2020.
15. कांकड़िया, मधु. 'बैल', *जलकुम्भी,* वाणी प्रकाशन, 2020.
16. अरोड़ा, सुधा. 'महानगर की मैथिली', *अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी,* साहित्य भंडार, 2015.
17. अरोड़ा, सुधा. 'तेरहवें माले से जिन्दगी', *अन्नपूर्णा मंडल की आखिरी चिट्ठी,* साहित्य भंडार, 2015.
18. कुशवाहा, सुभाष चन्द्र. 'ना उम्मीदी के बीच', *होशियारी खटक रही है.* अंतिका प्रकाशन, 2010.
19. कुशवाहा, सुभाष चन्द्र. 'इस्टाइल', होशियारी खटक रही है. अंतिका प्रकाशन, 2010.
20. शर्मा, मुरारी. 'मुट्ठी भर धूल', *बाणमूठ.* अंतिका प्रकाशन, 2010.
21. कुशवाहा, सुभाष चन्द्र. 'कहां की धरती कहां का मानुष', *लाला हरपाल के जूते.* पेंगुइन बुक्स इंडिया, 2015.
22. बनज, कुमार. 'यादों का अखबार', *मधुमती,* मार्च-2013.

23. भटनागर, तरुण. 'दादी, मुल्तान और टच-एंड-गो', *नयी सदी नयी कहानियाँ,* सं- मृत्युंजय पाण्डेय, आनंद प्रकाशन, 2019.
24. चावला, ज्योति. 'चाबी, घर और अंधेरा', *नयी सदी नयी कहानियाँ,* सं- मृत्युंजय पाण्डेय, आनंद प्रकाशन, 2019.

पत्रिकाएँ

1. एंजेल्स, फ्रेडरिक. 'डायलेक्टिक्स ऑफ नेचर', *समयांतर.* फरवरी, 2012.
2. अग्रवाल, हरिश. 'ओजोन हॉल की हकीकत', *जनसत्ता.* 26 अगस्त, 2007.
3. भार्गव, डॉ. रश्मि. 'कजरी और एक जंगल', *मधुमती.* मार्च-अप्रैल-2012.
4. हारनोट, एस. 'एक नदी तड़फती है'. *पहल.* अंक-122, जून-जुलाई, 2020.
5. जिलवाने, प्रदीप. 'भ्रम के बाहर'. *पहल.* अंक-122, जून-जुलाई, 2020.
6. शर्मा, एस. भाग्यम. 'माँ की नौकरी', *मधुमती पत्रिका.* अगस्त, 2013.
7. इन्द्रेश, ज्योत्सना. 'शून्य', *मधुमती.* मार्च-अप्रैल, 2012.
8. मुनिन्द्र, सुषमा. 'अललटापू', *सम्बोधन.* जुलाई-सितम्बर, 2011.
9. राठी, हरि प्रकाश. 'तस्दीक', *मधुमती पत्रिका.* अगस्त, 2013.
10. गुप्ता, अजित. 'महानगर की एक खोमोश सी लड़की', *मधुमती.* मार्च-अप्रैल, 2012.

इंटरनेट

1. गीताश्री. 'डाउनलोड होते है सपने'. *Hindisamay.com*
2. भटनागर, तरुण. 'प्रलय में नाव'. *https:/samalochan.blogspot.com-06.09.2019.*
3. राय, जयश्री. 'खारा पानी'. *Hindisamay.com*

उपसंहार

प्रथम अध्याय 'वैश्वीकरण और विमर्शः दशा एवं दिशा' शीर्षक में वैश्वीकरण और विमर्श की अवधारणा, दशा एवं दिशा पर विचार किया गया है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि आर्थिक दृष्टि से वैश्वीकरण का जो स्वरूप आज दिखाई पड़ रहा है, जाहिर है एक साहित्यकार इसे अलग दृष्टि से देखेगा। जहाँ वैश्वीकरण विश्व बाजार को हासिल कर दुनिया के सभी हिस्सों में प्रभुत्व कायम कर एकछत्र राज्य स्थापित करने की प्रक्रिया है, वहीं साहित्य सांस्कृतिक प्रभाव और मूल्य क्षरण के रूप में इसका अध्ययन करता है। वैश्वीकरण में जिस विश्वग्राम की बात की जाती है, वास्तव में वह हमारी इच्छा पर न होकर हम पर थोपा गया है और साहित्य इसका विरोध करता है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी देखे तो वैश्वीकरण में सभी संस्कृतियों के विकास के स्थान पर, अन्य देशों की संस्कृति को नष्ट कर एक नये प्रकार की अमेरिकी संस्कृति का ही एकछत्र विस्तार हो रहा है। एक प्रकार से यह सांस्कृतिक सम्राज्यवाद है। यहाँ सास्कृतिक आदान-प्रदान के नाम पर एक ही संस्कृति फल-फूल रही है। पूरे विश्व में पश्चिमी संस्कृति की धूम मची हुई है। आज हमारी संस्कृति की पुनर्रचना और निरंतरता संकट की स्थिति में हैं। हमारे जीवन मूल्य अन्तरराष्ट्रीय बाजार में महज एक माल बन गए हैं। इस दौर के साहित्यकारों ने भूमंडलीकरण के इस स्वरूप का विरोध किया है। किन्तु यह विरोध कागजों पर ही दिखाई पड़ रहा है, वास्तव में हम पूरी तरीके से इसकी चपेट में आ चुके हैं।

अध्याय में आर्थिक उदारीकरण और निजीकरण पर भी विचार किया गया है। आर्थिक उदारीकरण का ही परिणाम है कि आज भारत में विदेशी कम्पनियों की भरमार है। आज हमारे पास वस्तुओं की कमी नहीं है, किन्तु हमारे देशी उद्योग बर्बाद हो चुके हैं। वैश्वीकरण में हमारे कुटिर उद्योगों का भी प्रसार होना चाहिए था, किन्तु वे तो बर्बाद हो गए और विदेशी वस्तुओं की हमारे देश में इफरात हो गई। निजीकरण का ही परिणाम है कि आज हर एक सरकारी क्षेत्र को निजीकृत कर दिया जा रहा है। इसके केन्द्र में केवल मुनाफा कमाना है। हम चाह कर भी इसका विरोध नहीं कर पा रहे हैं।

भारत देश जिसप्रकार सामाजिक कुरीतियों से ग्रस्त रहा है, यह सच है कि वैश्वीकरण ने हमारे अंधविश्वास को तोड़ा है। सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया है, सांस्कृतिक दीवारें टूटी हैं, किन्तु इसी वैश्वीकरण ने हमारी संस्कृति की बेहतरीन चीजों को भी नष्ट किया है। मानव को मशीन में बदल कर रख दिया है। बाजारवादी मानसिकता के विकास ने हमारे अंदर भोग की प्रवृत्ति का विकास किया, जिसका शिकार आज का मध्य वर्ग हुआ हैं, वह एक साथ कितना कुछ पाकर जीना चाहता हैं और सबसे ज्यादा यही वर्ग कुंठित भी रहता हैं। वैश्वीकरण ने जहाँ मनुष्य को एक उपभोक्ता में बदल कर रख दिया, वहीं इसने हाशिए पर जी रहे लोगों के अंदर चेतना भी जगाई है। चाहे स्त्री हो, किसान हो, दलित हो या आदिवासी ये सभी जो हाशिए में थे, आज मुख्यधारा में शामिल होने की लड़ाई लड़ रहे हैं। उनके अंदर अपने अधिकारों के लिए लड़ने की चेतना जगी है। वैश्वीकरण के फलस्वरूप भारतीय अर्थ व्यवस्था को एक नई ऊचाई तो प्राप्त हुई, प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि हुई, लेकिन साथ ही साथ क्षेत्रिय विषमता, आर्थिक विषमता भी देखने को मिला। औद्योगीकरण

के लिए कृषि योग्य भूमि का आवंटन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को होने से किसानों की स्थिति खराब हुई है। कृषि की बदहाली के कारण किसानों की आत्म हत्या में वृद्धि हुई हैं। बड़े- बड़े कल-कारखानों की स्थापना, ब्रिज, खनन आदि की स्थापना के लिए आदिवासियों से उनकी जमीनें छीनी गई, उन्हें विस्थापित किया गया। एकतरफा विकास ने पर्यावरण को बहुत हद तक क्षति पहुँचाई है। अतः इसी दौर में एक साथ कई विमर्शों ने साहित्य जगत में अपनी उपस्थिति दर्ज भी की है।

प्रथम अध्याय में विमर्श के स्वरूप के साथ-साथ विभिन्न विमर्शों की पहचान भी की गई है। विमर्श महज आलोचना न होकर उससे आगे की चीज है। यह अलग बात है कि विमर्श में निष्कर्ष नहीं होता है, किन्तु विमर्श के कारण ही हाशिए के लोगों को एक पहचान मिलती है। विमर्श हमें सोचने के लिए विवश करता है। विमर्श में केवल संवाद होता है। लेकिन संवाद में विवाद भी तो पैदा होगा, उस विवाद के जरिए कोई थियोरी भी तो बनेगी, कन्सेप्ट भी तो बनेगा। विमर्श में कन्सेप्ट, सैद्धांतिकी और विश्व दृष्टि अगर नहीं बनती है, तो एक समय बाद विमर्श खत्म हो जाएगा। विमर्श में उसकी शैली बहुत महत्वपूर्ण है। आलोचना में जो चीजें लिखी जा रही है, वह कैसी भाषा में लिखी जा रही है, या कैसी शैली में लिखी जा रही है, यह बहुत जरूरी है। विमर्श में शैली ही है जो यह बताता है कि समस्या को कौन किस दृष्टि से देख रहा है। दलित विमर्श को ही ले तो एक ही दलित को कोई अम्बेडकर की दृष्टि से देख रहा है तो कोई मायावती की दृष्टि से। कोई कॉर्पोरेट की दृष्टि से देख रहा है तो किसी को दलित में केवल चमार ही दिखाई पड़ रहा है। जबकि, दलित एक बहुत बड़ी कैटेगरी है। यह केवल कास्ट तक सीमित नहीं है। किन्तु दलित विमर्श के अंतर्गत जो चीजें लिखी जा रही है वह जाति केन्द्रित है। हम जानते हैं कि साहित्य की जाति नहीं होती है। एक लेखक रचना लिखते समय केवल लेखक होता है, उसमें जाति नहीं होती। किन्तु विमर्श में लेखक की जाति को महत्व दिया जा रहा है। स्त्री विमर्श में जेन्डर को महत्व दिया जा रहा है।

सवाल यह नहीं है कि दलित या स्त्री विमर्श हो। सवाल यह है कि इन विमर्शों के आधार पर हम जाना कहाँ चाहते हैं? हमारा लक्ष्य क्या है? दलित का विश्लेषण करके अगर हम दलित ही बने रहना चाहते हैं तो यह दलित विमर्श की सीमा है। अगर हम दलित की कैटेगरी से मुक्त होना चाहते हैं और मनुष्य की कैटेगरी में दाखिल होना चाहते हैं तो यह इसकी उपलब्धि है। स्त्री विमर्श में जो विमर्शकार है, वे स्त्री को किस रूप में देखना चाहते हैं? स्त्री, स्त्री ही रहती है या मनुष्य भी बनती है। यह सोचने की बात है कि स्त्री विमर्श में, स्त्री लेखन में, स्त्री केन्द्रित आलोचना में, स्त्री के सवालों में स्त्री क्या नागरिक में बदल रही है या अपनी पहचान जेंडर के रूप में ही रखना चाह रही है। सामुदायिक विमर्श की यह भी एक सच्चाई है कि एक विमर्श को दूसरे विमर्श से कोई मतलब ही नहीं रह गया है। अगर एक विमर्श दूसरे से ऐसी दूरी लेकर चलेगा तो विमर्श एकपक्षीय ही रह जायेगा। अतः विमर्श में जरुरी है कि हम अपने इतिहास के साथ, दूसरे के इतिहास की भी जानकारी रखें।

विमर्श में कोई भविष्य की दृष्टि नहीं है। इसमें कोई सपना नहीं है। दलित लेखन हो या स्त्री लेखन इसमें समस्या यह है कि इसमें उत्पीड़न की व्याख्या तो है, किन्तु उत्पीड़न की

व्याख्या के बाद कोई भविष्य की योजना नहीं है। स्त्री या दलित विमर्श में उत्पीड़न को महसूस करना जरूरी है, किन्तु विमर्श में जो रचनाएँ आ रही है उसमें उत्पीड़न का महसूस कम है, किन्तु महसूस होने का आभास ज्यादा दिखाया जा रहा है। यह जो आभास में रचनाएँ आ रही है, उसमें एक खालीपन आयेगा, उसमें वास्तविकता नहीं होगी। दूसरी समस्या यह है कि विमर्श में शोषण और पीड़ा के खिलाफ़ आवाजें तो हैं, व्यवस्था के विरूद्ध चुनौती भी है, किन्तु उपनिवेशवाद के खिलाफ़ कोई आवाज नहीं है। अतः विमर्श के द्वारा सामाजिक उत्तेजना तो उत्पन्न होती है, किन्तु ये विमर्श आज की चुनौतियों के परिप्रेक्ष्य में, वैश्वीकरण और उपभोक्तावाद के संबंध में चुप्पी साधे रहते हैं।

प्रथम अध्याय में जहाँ वैश्वीकरण की अवधारणा के साथ ही साथ विमर्श के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया हैं, विभिन्न विमर्शों की पहचान की गई हैं, वहीं आर्थिक दृष्टि से वैश्वीकरण पर विचार करना अपेक्षित रह गया है। साथ ही मेरे शोध के अंतर्गत किन्नर विमर्श, वृद्ध विमर्श, समलैंगिक विमर्श, अल्प संख्यक विमर्श जैसे कई विमर्श छूट गए है, जिसपर एक नये तरीके से शोध किया जा सकता है। अतः यही मेरे शोध की सीमा एवं संभावनाएँ भी हैं।

द्वितीय अध्याय 'वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में स्त्री विमर्श : दशा एवं दिशा' शीर्षक में स्त्री विमर्श के स्वरूप पर विचार करते हुए 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में अभिव्यक्त स्त्री विमर्श के स्वरूप पर विचार किया गया है जिसे कई उपशीर्षकों के अंतर्गत विभाजित कर समझाने का प्रयास किया गया है। विवेचन के उपरान्त निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि स्त्री विमर्श का सरोकार स्त्री की सामाजिक स्थिति, उसके संघर्ष की अभिव्यक्ति से हैं। स्त्री विमर्श को अक्सर पुरुष विरोधी मानकर इसे कमजोर करने की कोशिश की जाती रही है, किन्तु कुछ लेखिकाओं ने यह दावा किया कि स्त्री की लड़ाई पुरूष के खिलाफ न होकर पितृसत्ता के खिलाफ है। वह पितृसत्ता जो स्त्री को हर प्रकार के अधिकारों से वंचित करता है। इस स्त्री विमर्श पर पाश्चात्य प्रभाव के कारण देह विमर्श का आरोप भी लगा। कुछ लेखिकाओं ने देह मुक्ति को ही स्त्री मुक्ति का अर्थ स्वीकार कर लिया, किन्तु इस आधार पर पूरे स्त्री विमर्श को देह विमर्श कह देना उचित नहीं जान पड़ता है।

विवाह स्त्री-पुरुष संबंधों की महत्वपूर्ण कड़ी है। आज जिस प्रकार स्त्री- पुरुष संबंधों में बिखराव की स्थिति उत्पन्न हुई है, विवाह जैसे रिवाज पर प्रश्न उठने लगा है। विवाह और तलाक मानो खेल हो गया है। स्त्री विमर्श के अंतर्गत कई रचनाकारों द्वारा स्त्री-पुरुष संबंधों में आए बिखराव के कारणों की पड़ताल अपनी कहानियों के माध्यम से की है। रचनाकारों ने यह दिखाया है कि कहीं पुरुष द्वारा स्त्री को महज भोग की वस्तु समझे जाने के कारण, स्त्री-पुरुष संबंधों में बिखराव की स्थिति उत्पन्न होती है, जहाँ स्त्री घुट – घुट कर जीवन यापन करती है। चाहे वह 'यवनिका के पीछे' कहानी की सोनिया हो या 'भागमति पंडाईन का उपवास यानी करवा चौथ पर भरवाँ करैले' कहानी की भागमति हो। दोनों

स्त्रियाँ सब कुछ चुपचाप सहकर घुट – घुट कर रह जाती है। 'सहेली' कहानी में तवलीन को अपने पति द्वारा जबरदस्ती संभोग करना और चुटकी देकर बुलाना पसंद न होते हुए भी कुछ कर नहीं पाती है। कुछ ऐसी कहानियाँ है जहाँ 'स्त्री- पुरुष संबंध' भावना से अधिक देह तक सीमित हो चुका है, तो कुछ कहानियों में स्त्री-पुरुष संबंध के बिखराव का कारण दोनों के बीच के अहम को बताया गया है। चाहे वह 'ऊट पहाड़ के नीचे' कहानी की सुगंधा हो या 'एक और प्रतिज्ञा' कहानी की मानसी हो। मानसी को अपनी निजी जिन्दगी में पति का दखल करना पसंद नहीं। वह मुक्त होकर जीना चाहती है और अपने पति को ही घर से बाहर निकाल देती है। इन कहानियों में स्त्री-पुरुष के बीच प्रेम का अलग ही रूप दिखाई पड़ता है। 'विजेता' कहानी में जहाँ लेखक दिखाते हैं कि एक स्त्री एक ही समय दो पुरुषों से समभाव से प्रेम करती है और उसे कुछ भी अव्यवहारिक नहीं लगता है। वहीं 'नमक' कहानी में पति अपनी पत्नी के होते हुए अन्य स्त्री से प्रेम करने लग जाता है। कुछ कहानियाँ ऐसी भी है जहाँ स्त्रियों द्वारा उन्मुक्त होकर कईयों के साथ प्रेम करने की वकालत करती है। चाहे वह 'फ्रीबर्ड' कहानी की कलावती हो या 'फर्क' कहानी की स्त्री। ये स्त्रियाँ कई पुरुषों से प्रेम करती है और इसे वह अपनी शान समझती है।

21वीं सदी के दौर में भी स्त्री उत्पीड़न की घटनाएँ कम नहीं हुई है। इस दौर के रचनाकारों ने इसे अपनी कहानियों में अभिव्यक्ति दी है। आए दिन स्त्री शोषण की घटना अखबारों में देखी जाती है। 'वह होती तो..' कहानी की सरला हो या 'आधी तीयल' की सुशिला, रचनाकारों ने यह दिखाया है कि इन स्त्रियों पर शोषण करने वाला कोई बाहर का न होकर अपने घर का सदस्य ही है। 'कातिल कौन?' कहानी में तो स्त्री को मौत के घाट उतार दिया जाता है। 'अन्नपूर्णा की आखिरी चिट्ठी' कहानी में स्त्री द्वारा दो बेटियों के जन्म देने पर उसे कुल्टा तक कह दिया जाता है। वह अंत में आत्महत्या भी कर लेती है। 'मोहे रंग दो लाल' कहानी में पति की मृत्यु के बाद उमा को देवर द्वारा वृन्दावन भेजवा दिया जाता है, जहाँ वह भीख माँगकर खाती है और जिन्दा रहने के लिए उसे मैनेजर के साथ सोना भी पड़ता है। इन सभी कहानियों में स्त्री शोषण के पीछे उसका परिवार है। 'आखिरी गाँव अटारी' में उसके सास द्वारा ही एक बाबा के द्वारा गर्भवती बनाकर उसके बच्चे का सौदा किया जाता है तो 'कुरजा' कहानी में स्त्री को डायन कहकर गाँव से निष्काषित कर दिया जाता है। घरेलू हिंसा तो आम बात बन गई है। आज तक लाखों स्त्रियों ने घरेलू हिंसा के कारण दम तोड़ दिया है। इस दौर के रचनाकारों ने कई कहानियों में स्त्रियों पर हो रहे हिंसा की अभिव्यक्ति की है। 'केयर आफ स्वातघाटी' कहानी हो या 'कायांतर' कहानी दोनों में घरेलू हिंसा की शिकार स्त्री की व्यथा बताई गई है। इसप्रकार समाज मे घटने वाली घटनाओं को ही इस दौर के रचनाकारों ने अपनी कहानियों का विषय बनाया है। यहाँ किसी प्रकार की अतिश्योक्ति नजर नहीं आती है।

स्त्री के देह मुक्ति के सवाल पर भी इस दौर के रचनाकारों ने अपनी लेखनी चलाई है। कहानियों का विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि स्त्री शोषण का एक कारण पुरुष द्वारा उसे मात्र देह समझना भी है। 'नजरें' कहानी में पुरुष द्वारा नायिका के देह को ही सराहा जाता है। 'दरिंदे' कहानी की शीला को तो हर पुरुष भूखा भेड़िया लगता है। हर कोई उसके अंग पर हाथ फेरना चाहता है। 'बिजली चट्टान' कहानी में रूपा अपने देह को बचाते – बचाते बिजली चट्टान ही बन जाती है। वहीं कुछ कहानियाँ ऐसी भी है जहाँ स्त्रियाँ स्वयं इस देह की नुमाईश करती है। वह अपने देह की भूख मिटाने के लिए कई पुरुषों से सम्पर्क बनाने में भी संकोच नहीं मानती। 'बुरी औरत हूँ' कहानी में शमीना अपनी मर्जी से भोग के लिए कार्ल गर्ल बन जाती है। 'देह का गणित' कहानी में तो नायिका को अपने ही बेटे का स्पर्श पुरुष के स्पर्श जैसा लगता है और प्रतिरोध किए बिना वह बेटे से ही संभोग कर लेती है। 'गोरिल्ला प्यार' जैसी कहानी तो उन्मुक्त सेक्स का उदाहरण है। यह लिव-इन-रिलेशन से आगे की कहानी है। वास्तविक धरातल पर हम स्त्री सुरक्षा का जितना भी दावा कर ले एक पुरुष की नजर उसके देह पर ही जाती है। बाजार द्वारा भी स्त्री के इसी देह को सजाया और सवाँरा जा रहा है। इसी देह के आधार पर ही स्त्री को शोहरत भी मिल रहा है।

स्त्रियों के आर्थिक आत्म निर्भरता ने पुरुष के वर्चस्व को चुनौती दी है। घर ही नहीं बाहर की जिम्मेवारी भी स्त्रियाँ बाखूबी निभाना जानती है। हम देखते हैं कि इस दौर की कहानियों में स्त्री के आर्थिक आत्म निर्भरता ने जहाँ उसे निर्णय लेने की छूट दी है, वहीं कई जगहों पर स्त्री-पुरुष संबंधों में दरार की स्थिति भी पैदा हुई है। परंतु, यह भी सच है कि सामाजिक चेतना के लिए स्त्री की आर्थिक आत्म निर्भरता जरूरी है। 'मैं चुनौती हूँ पनौती नहीं' कहानी की स्त्री हो या 'यवनिका के पीछे' कहानी की रंजना। चूँकि वह कमाती है, इसलिए खुद निर्णय लेना जानती है। यह भी सच है कि कामकाजी स्त्रियों को हर जगह अपने पुरुष सहकर्मी के साथ संघर्ष झेलना पड़ता है। चाहे वह 'इस जहाँ में हम' कहानी की नायिका हो या 'इन्द्रधनुष के पार' कहानी की आँचल। कई कानून बनने के बाद कार्यालयों में स्त्रियों की सुरक्षा पर विशेष ध्यान जरूर दिया गया है, फिर भी उसे हमेशा एक पुरुष से कमतर ही आंका जाता रहा है।

आज समय बदला है। स्त्रियाँ असमानता के खिलाफ प्रतिरोध करने लगी हैं। इस दौर की कई कहानियों में भी स्त्री- प्रतिरोध को देखा जा सकता है। 'बदरंग दीवार के पार' कहानी में अन्नी ससुराल के अत्याचार से घुट – घुट कर मरती नहीं है, बल्कि भैया के कहने पर घर आकर पढ़ाई करती है। 'फ्रेम' कहानी में स्त्री उस फ्रेम से बाहर निकलती है, जिस फ्रेम में स्त्री को कैद किया गया है। 'दरका हुआ दर्पण और खण्डित छवियाँ' कहानी की स्त्री तो अपने पति के एबार्शन करवाने के निर्णय का विरोध करती है और बच्चे को जन्म देना चाहती है। आज स्त्रियाँ प्रतिरोध ही नहीं कर रही, बल्कि पुरुष को नियंत्रित भी करने लगी

है। कई मामलों में तो वह पुरुष को झूठे मामलों में फँसा भी रही है। जिससे पुरुष विमर्श की चर्चा तेज होने लगी है।

अतः व्यवहारिक धरातल पर निरीक्षण करने पर हम पाते हैं कि कहानियों में चित्रित यथार्थ और व्यवहारिक यथार्थ में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होता है। स्त्री विमर्श के 50 वर्ष गुजरने के पश्चात भी व्यवहारिक धरातल पर बहुत कुछ बदलना अब भी बाकी है। स्त्रियों के उत्पीड़न को रोकने के लिए और उनके हक के लिए बड़ी संख्या में कानून पास हुए है। अगर सारे कानूनों का पालन किया गया होता तो स्त्री शोषण और भेदभाव अब तक खत्म हो जाना चाहिए था। लेकिन, पुरुष प्रधान मानसिकता और महिलाओं में चेतना की कमी के कारण ऐसा नहीं हो सका। महिला आरक्षण से लेकर लिंग निर्धारण विरोधी अभियान, दहेज निषेध अधिनियम, वूमैन हेरैजमेन्ट एक्ट, सामान पारिश्रमिक अधिनियम-1976, ठेका श्रम अधिनियम-1970, आई.पी.सी.-24,304(बी), 306, 314, 315, 316, 318, 354, 371, 372, 373, 376 आदि कई धाराओं में स्त्री शोषण के खिलाफ़ सज़ा का प्रावधान है। किन्तु इन धाराओं का पता न तो स्त्री समाज को ही है और न शोषक तंत्र को इन धाराओं का डर। हाल ही में समलैंगिकता को अपराध बताने वाली IPC की धारा 377 को निरस्त कर भारत में लेस्बियन, गे, बाइसेक्सुअल और ट्रांसजेंडर समूह को संविधान के अंतर्गत लाया गया है। अतः जरूरत है इन सारे अधिकारों के प्रति सजह होकर स्त्री अधिकारों को समझने की। जब तक हिन्दुस्तान में स्त्री शोषण जड़ से खत्म नहीं हो जाता, स्त्री विमर्श का दायित्व खत्म नहीं हो जाता। स्त्री विमर्श को नई चुनौतियों का सामना करते हुए, इसे देह के दायरे से अलग हटते हुए, नई राह तलाशने की जरुरत है।

इस अध्याय के अंतर्गत स्त्री – विमर्श को समझाते हुए 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी को लिया गया है जो मेरे शोध की सीमा है। स्त्री विमर्श के स्वरूप को कविता या अन्य गद्य विधा के संबंध में शोध की संभावना बनती है।

तृतीय अध्याय ''वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में विमर्श के दलित सरोकार'' शीर्षक में दलित विमर्श पर विचार किया गया है और 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानियों में चित्रित दलित सरोकार का अध्ययन किया गया है। तृतीय अध्याय के विवेचन के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि आज दलित शब्द का एक व्यापक अर्थ में प्रयोग हो रहा है। भारत के विभिन्न प्रांतों में दलित अलग- अलग रूपों में देखे जा सकते हैं। दलित चाहे किसी भी कोने के, किसी भी धर्म विशेष के हो, उनके शोषण का स्वरूप लगभग एक ही है। दलित भारतीय समाज की सामाजिक विषमता से उत्पन्न एक कैटेगरी है जिसे उच्च वर्णों द्वारा सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से दबाया जाता रहा है। मनुस्मृति द्वारा निर्मित वर्ण व्यवस्था के आधार पर इसे समाज में अछूत जाति माना गया और यह बात फैला दी गई कि ईश्वर ने इस जाति को शोषित होने के लिए भेजा है। दलित चिंतकों ने वर्ण- व्यवस्था पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए इसे चुनौती दी एवं हिन्दू धर्म की परम्परागत व्यवस्था और शास्त्रों का विरोध करना शुरु कर मानवाधिकारों की बात की।

यही दलित विमर्श है। इसकी अभिव्यक्ति जब साहित्य में हुई तब दलित साहित्य का जन्म हुआ। दलित आन्दोलन के नेता के रूप में अंबेडकर ने दलितों को संवैधानिक अधिकार दिलाने की लड़ाई लड़ी। ज्योतिबा फूले के क्रांतिकारी विचारों ने दलितों में चेतना जगाने का काम किया।

21वीं सदी के दूसरे दशक में कई दलित रचनाकारों ने अपनी कहानियों के माध्यम से दलित विमर्श की चिंता एवं उसके स्वरूप को उजागर किया हैं। कहानियों के विवेचन के उपरान्त हम कह सकते हैं कि इन कहानियों में पहली चीज दलितों के अन्दर जातिगत अंतर्विरोध दिखाई पड़ता है। जिस जातिगत शोषण की लड़ाई दलित सवर्णों के खिलाफ़ लड़ रहा है, आज कहीं न कहीं वह स्वंय जातिगत गोलबंदी का शिकार हो रहा है। कहीं वाल्मिकी और चमार जाति के बीच अंतर्विरोध है जैसे 'पूनम तुषामढ' की कहानी 'काली' में दिखाया गया है तो वहीं 'दोहरे' कहानी में चमार और कोरियो जाति के बीच अंतर्विरोध को देखा जा सकता है। यहाँ तक कि 'कबीरन' कहानी में तो हिजड़ों के बीच भी जातिगत गोलबंदी दिखाई गई है। 'हुड्डल', 'गुफाएँ' जैसी कहानियों में दलित जोड़ों के बीच जातिगत अंतर्विरोध के कारण प्रेमी जोड़े को टूटते देख सकते हैं। इन प्रेमी जोड़ों पर दलितों द्वारा वैसा ही अत्याचार किया जाता है, जैसा कि सवर्णों के द्वारा दलितों पर होता आया है।

इस दौर की कहानियों में दलित मध्यवर्ग की सवर्ण मानसिकता पर भी विचार किया गया हैं। पढ़ा-लिखा दलित वर्ग पद पाते ही अपनी ही जाति से घृणा करने लगता है। 'आवरण' कहानी में रम्या को अपनी ही जाति के लोगों से बदबू आती है। 'मोर का पंख' कहानी में दलित पात्र सवर्ण की पंक्ति में खड़ा होना चाहता है। उसे दलित कहलाना पसंद नहीं। 'निर्वासन' कहानी का पात्र तो अपनी पहचान छुपाने के लिए कोली से कोहली बन जाता है। समाज में ऐसे दलित पात्र की कमी नहीं है जैसा कि इन कहानियों में चित्रित हैं।

इस दौर की कई कहानियों में रचनाकारों ने दलित पर होने वाले शोषण को भी दिखाया हैं। यह सच है कि आज हम उत्तर आधुनिक युग में जी रहे हैं, किन्तु आज भी देश के कई प्रांतों से आने वाली दलित शोषण की घटनाएँ हमें सोचने के लिए विवश करती है। कहीं शारीरिक अत्याचार होता है, तो कहीं मानसिक। 'न्याय कथा' कहानी में दलित पात्र नौकरी करते हुए सवर्णों के मुहल्ले में डर-डर कर रहता है। 'आवरण' कहानी में दलित पात्र अपनी जाति छुपाकर नौकरी के लिए आवेदन करता है। एक ही कार्यालय में सवर्ण और दलित पात्र में भेदभाव किया जाता है। 'दूजी मीरा' कहानी में भगवान तक को सवर्ण और दलित के कैटेगरी में बाँट दिया जाता है। 'सूदखोर के पाँव' कहानी में दलित अध्यापक से भेदभाव किया जाता है। 'जातिदंड' कहानी में सवर्ण छात्र द्वारा एक दलित प्रोफेसर को अपना गाईड बनाना भारी पड़ जाता है। 'प्रेम की बुनियाद' कहानी में दलित शिक्षक के आने पर विद्यार्थियों के बीच बँटवारा हो जाता है। इन कहानियों में भले जातिदंश की पीड़ा

कई रूपों में दिखाई गई हो, किन्तु भारत का संपूर्ण समाज ऐसा नहीं है। आज बहुत हद तक जाति की दीवारें टूटी है। सवर्ण और दलित एक ही थाली में खाते देखे जा सकते हैं। कुछ जगहों पर जातिगत भेदभाव अधिक दिखाई पड़ता है, किन्तु धीरे- धीरे समाज बदल रहा है। कुछ कहानियों में यह जातिगत भेदभाव की अतिश्योक्ति दिखाई गई है।

इस दौर की कई कहानियों में दलित स्त्री के जीवन की कई पहलुओं पर विचार किया गया है। हम देखते हैं कि दलित स्त्री को दोहरी मार झेलनी पड़ती है। एक तो नारी ऊपर से दलित। पितृसत्ता का स्वरूप दलितों के यहाँ अलग नहीं है। ज्योतिबा फूले के विचारों ने दलित नारी के जीवन में परिवर्तन लाया है। अब दलित स्त्रियाँ शिक्षित हो रही है। 'राजधानी के भीतर-बाहर' कहानी में दलित स्त्री शहर जाकर कॉलेज की पढ़ाई करती है। हर संकट का वह सामना करती है। 'शेड्यूल कास्ट' कहानी में जाति के कारण प्रेम प्रसंग के टूट जाने पर मीरा विचलित नहीं होती है। 'तिरिया चरित्र' में विमली विरोध करती है। 'कुच्ची का कानून' कहानी में कुच्ची अपनी कोख पर स्त्री के हक का दावा करती है। 'अकालदंड' कहानी में तो सुरजी हँसिये से सेक्रेटरी के देह का नाजुक हिस्सा काट देती है। अतः इन कहानियों में स्त्री दुःखी एवं पीड़ित नहीं है। वास्तविक जीवन में भी दलित स्त्रियाँ कई ऊचाईयों को छू रही है।

इस दौर की कहानियों में दलित राजनीति और इसके अंतर्विरोध को भी समझने की कोशिश की गई है। राजनीतिक आरक्षण ने सवर्णों को दलित के समकक्ष लाकर खड़ा कर दिया है। 'बनाना रिपब्लिक' कहानी के ठाकुर की तरह अब सवर्णों को दलितों के जीत में कमर लचकाकर नाचना पड़ रहा है। सवर्णों को दलित नेता के समक्ष झूकते देखा जा सकता है। किन्तु यह दलित राजनीति का अंतर्विरोध ही है कि आज भी कई गाँवों में दलित राजनीति के आरक्षण का लाभ दलितों को नहीं मिल रहा है। चुनाव में भले दलित खड़ा हो लेकिन, राज तो सवर्ण ही कर रहा है। इसका एक कारण दलितों का अशिक्षित होना और राजनीतिक दाव-पेंच में कमजोर होना है। 'सरपंच की तलाश' कहानी में दलित के स्थान पर सवर्ण ही राज कर रहा है। वहीं 'गोठान में पड़ा लोकतंत्र' कहानी में दलितों का वोट न पाने पर ठाकुर द्वारा दलितों के शवयात्रा तक को रोक दिया जाता है। इसी कहानी में सवर्ण सरपंच चारपाइयों पर बैठते हैं जबकि दलित सरपंच को नीचे बैठाया जाता है। यह राजनीतिक अंतर्विरोध है कि दलित राजनेता नेता बनते ही सवर्णों का राग अलापने लगते है, फिर वे दलित नहीं रह जाते, सत्ता ही प्रमुख हो जाता है।

आज भले शोषण का रूप बदल चुका है, किन्तु शोषण आज भी जारी है। जातिवादी मानसिकता के घेरे से हम आज तक बाहर नहीं निकल पा रहे हैं। शोषण का जो रूप पहले गाँव में व्याप्त था, अब वह जातिगत आधार पर शिक्षण संस्थानों से लेकर हर उस स्थान पर कमोबेस देखा जा रहा है, जहाँ सवर्ण के साथ दलित भी एक साथ काम करते नजर आ रहे हैं। शिक्षण संस्थानों में जहाँ आरक्षण पाकर आये हुए दलित छात्रों के

साथ मानसिक एवं शारीरिक यातनाएँ दी जा रही है, वहीं एक ही संस्थान में दलित प्रोफेसरों के साथ ही सवर्ण प्रोफेसरों द्वारा भेदभाव किया जा रहा है। जहाँ दलित छात्र प्रताड़ना न झेल पाने के कारण आत्महत्या कर लेता है, वहीं दलित प्रोफेसरों को हर वक्त नई-नई चुनौतियों का सामना भी करना पड़ रहा है।

दलित स्त्रियों के जीवन में भी परिवर्तन घटित हुआ है। आज दलित स्त्री पितृसत्ता के हर रूप का विरोध करती नजर आती है। वह शोषण का प्रतिरोध करती है, चाहे वह शोषण अपने समाज में हो या बाहर। आज कई दलित लेखिकाएँ दलित स्त्री के शोषण को अपनी रचनाओं के माध्यम से उजागर कर रही है। इन रचनाओं में स्त्री - अस्मिता बोध पुरुष की तुलना में कई ज्यादा है। आज की बाजारवादी परिवेश में दलित स्त्रियाँ स्वतंत्र हुई है। वह भी शहर जाकर पढ़ाई ही नहीं, काम भी करने लगी है। शहरों में अकेले रहने लगी है। घरेलू हिंसा और देह पर अधिकार जैसे मुद्दों से भी दलित स्त्रियाँ टकरा रही है। आज के दलित रचनाकार तमाम उत्पीड़ित अस्मिताओं को अपनी कहानी का विषय बना रहे हैं। दलितों के शहर में जाकर बसने से महानगर में दलितों के जीवन और उनकी चुनौतियों को भी आज के लेखक अपनी कहानियों में अभिव्यक्त कर रहे हैं।

अंबेडकर द्वारा दलितों के राजनीतिक अधिकारों की चर्चा ने दलित विमर्श को राजनीति से जोड़ दिया। आज देश की राजनीति में दलित वोट मायने रखने लगा है। दलितों के लिए आरक्षित सीटों पर हर पार्टी की नजर रहती है। यह अलग बात है कि राजनीतिक आरक्षण मिलने के बावजूद दलितों की स्थिति में कोई खास परिवर्तन घटित नहीं हुआ है। दलित राजनीति की दूसरी कमजोरी यह है कि यहाँ ब्राह्मणों का विरोध तो है, किन्तु वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ़ चुप्पी साधे हुए है। दलित अपनी जाति के साथ-साथ धर्म के खेमों में भी बँटे हुए है। एक राज्य के दलित का दूसरे राज्य के दलित से कोई सरोकार नहीं रह गया है। दलित शक्ति एकीकृत नहीं हो पा रही है। वहीं दलित आपसी जातिगत प्रतिस्पर्धा में बँटा हुआ है। जातिगत गोलबंदी के अलावा दलितों में जो पढ़ा-लिखा मध्य वर्ग आया है, वह स्वयं अपनी जाति से कन्नी काट रहा है।

वैश्वीकरण के दौर में जहाँ समाज का नियंता बाजार है, वहाँ जातिवाद की पकड़ कमजोर होनी चाहिए, किन्तु विडम्बना यह है कि आज बाजार राज्य की जगह ले रहा है, जिससे जातिवाद और मजबूत हो रहा है। बाजार ने हमें स्वार्थी बना दिया है और राजनीतिक रूप से वोट की राजनीति ने हमें इतना संकुचित बना दिया है कि दूसरों की भलाई से पहले अपनी भलाई के बारे में सोचने लगे है। राजनीति में आरक्षण मिलने के बावजूद दलितों को राजनीति का वैसा फायदा नहीं मिला जैसा सोचा गया था। दलित राजनीति में आते ही वे भी सत्ता का हिस्सा बन जाते हैं और अपनी स्वार्थ सिद्धी में लग जाते हैं। अतः दलित को अब और ज्यादा एकजुट होने की जरूरत महसूस की जा रही है। अपना निजी स्वार्थ को त्यागकर पूरे समुदाय की चिंता करने की जरूरत है। आज दलित समाज के पास कोई भी दलित नेता नहीं है, जिसे दलित नेता माना गया, वह किसी न

किसी राजनीतिक पार्टी का अंग बनकर विलिन हो गया। अतः अंबेडकर के सिद्धांत के अनुरूप दलितों को शिक्षा प्राप्त कर, संगठित होकर संघर्ष करने की जरूरत है।

मेरे शोध के अंतर्गत दलित विमर्श एवं 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानियों में दलित सरोकार की पड़ताल की गई है। यह मेरे शोध की सीमा है। दलित साहित्य की महत्वपूर्ण विधा आत्मकथा को मेरे शोध में शामिल नहीं किया गया है। अतः इस विधा में शोध की संभावना है। मैनें केवल हिन्दी कहानी को लिया है जबकि अन्य कई भाषाओं की कहानियों के साथ दलित विमर्श का तुलनात्मक अध्ययन पर शोध की संभावना बनती है।

चतुर्थ अध्याय ''वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में किसान विमर्श की अभिव्यक्ति'' शीर्षक में किसान विमर्श के अंतर्गत किसानों की समस्याओं और वैश्वीकरण के कारण किसानों के जीवन में आने वाले परिवर्तन की थाह ली गई है। 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में अभिव्यक्त किसानी चेतना की खोज की गई है। निष्कर्ष के रूप में हम यह पाते हैं कि वैश्वीकरण के दौर में सबसे ज्यादा किसी की तबाही हुई है तो वह किसान ही है। कहानियों में किसानों की दुर्दशा की पड़ताल के साथ किसानों के आत्महत्या के कारणों की भी खोज की गई है। किसान जो अन्नदाता है, भारत की आत्मा है, आज उसका जीवन चतुर्दिक समस्याओं से घिरा हुआ है। किसान पहले भी शोषित था, अंग्रेजी शाशन में भी शोषित रहा, फिर भी यह शोषण कभी भी किसानों को आत्महत्या की ओर प्रवृत्त नहीं किया, किन्तु वैश्वीकरण के उपरान्त जिसप्रकार उसकी जमीनों पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की नजर पड़ी, खेती पर मुनाफा दिखा, किसानों की स्थिति बद से बदतर होती गई। वैश्वीकरण के तीन समझौते- 1. व्यापार संबंधी बौद्धिक सम्पदा अधिकार(ट्रिप्स) 2. कृषि पर समझौता(ए. ओ. ए.) और 3. स्वच्छता एवं वानस्पतिक स्वच्छता समझौता (एस. पी. एस) ने भारतीय किसानों को अपनी ही जमीन पर मजदूर बनाकर रख दिया। बीज को बौद्धिक सम्पदा घोषित कर पारंपरिक बीज रखना गैर कानूनी बना दिया गया और किसानों को हाईब्रीड बीज से खेती करने के लिए मजबूर किया गया। इन बीजों पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का एकाधिकार रहा। पारम्परिक खादों का स्थान रासायनिक खादों ने ले लिया। किसानों की सब्सिडी कम कर दी गई और जमीनों को कम्पनियों को आवंटित किया जाने लगा। इन सारी परिस्थितियों को 21वीं सदी के दूसरे दशक के रचनाकारों ने अपनी कहानियों में अभिव्यक्ति दी है। इन कहानियों में न केवल किसानी चेतना, बल्कि समाज की कटु सच्चाई छिपी हुई है।

इस दौर की कई कहानियों में हाइब्रीड बीज से तैयार फसल के दुष्परिणामों की ओर संकेत किया गया है। 'बीज भौजी' कहानी में दिखाया गया है कि इन बीजों से तैयार फसल से हम कई प्रकार के बीमारियों से ग्रसित तो होते ही है, बीजों के लिए अधिक मात्रा में प्रयोग रासायनिक खादों के कारण जमीन की उर्वरा शक्ति भी खत्म हो जाती है। कम्पनी वाले इन बीजों का धरल्ले से प्रचार करवाते हैं। 'सर्पदंश' कहानी में तो कम्पनी वाले नुक्कड़ नाटकों के माध्यम से इन बीजों की खुबियाँ गिनाते नहीं थकते हैं। कहानी में कर्ज के भार से

दबा किसान आत्महत्या कर लेता है और उसकी मौत को सर्पदंश कहकर टाल दिया जाता है। 'करजा के खातिर' कहानी में भी इन बीजों का दुष्प्रभाव दिखाया गया है। यह भी सच है कि आज हम इससे बच नहीं सकते। हमारे खाने का हर सामान जहर से बना हुआ है। हमारे शरीर में रासायनिक तत्व घर कर चुका है। शुरुआत में इन बीजों को लेकर एक सुनहले भविष्य का सपना देखा गया था। इन बीजों ने हमारी जनसंख्या का पेट तो भरा, लेकिन इसकी कड़ी कीमत हमें चुकानी पड़ रही हैं।

आज किसानों को न केवल गाँव का साहुकार लूटता है, बल्कि बैंक से कर्ज लेने पर बैंक अधिकारियों द्वारा भी उसे प्रताड़ित किया जाता है। सरकार द्वारा कर्ज माफी की घोषणा होने पर भी इसका सीधा फायदा किसानों को नहीं मिलता है। 'करजा के खातिर' कहानी में रोझन कर्ज लेता है और न चुका पाने पर अपनी जमीन भी गवाँ बैठता है।' झूका हुआ गाँव' कहानी में तो पूरा का पूरा गाँव कर्ज में डूबा हुआ है। फसल बेचकर भी कर्ज न चुका पाने पर सभी किसान गाँव से शहर को पलायन कर जाते हैं और वहाँ जाकर मजदूर बन जाते हैं। 'बीज भौजी' कहानी में भी किसान कर्ज न चुका पाने के कारण आत्महत्या कर लेता है।

इस दौर की कहानियों में किसानों की नई पीढ़ी का खेती से हो रहे मोह भंग की अभिव्यक्ति भी हुई है। यह सच है कि आज की नई पीढ़ी खेती का काम नहीं करना चाहता है। वह नौकरी कर सुख की जिन्दगी जीना चाहता है। स्वयं किसान यह नहीं चाहते हैं कि उसकी अगली पीढ़ी खेती करें। आधुनिक खेती ने फसल की मात्रा भले बढ़ा दी हो, किन्तु इसने लागत मूल्य को भी बढ़ाया है जिससे फसल उपजाने के बाद भी किसानों को अपना लागत मूल्य भी नहीं मिल पाता है। 'छछिया भर छाछ' कहानी में मशीनीकरण के प्रभाव का चित्रण इसी रूप में हुआ है।

वैश्वीकरण एक नया बाजार लेकर आया है। इस बाजार में बिचौलियों और व्यापारियों का कब्जा जमा हुआ है। किसानों की फसल को इन बाजारों में उचित मूल्य नहीं मिल पाता है। सरकार द्वारा एम. एस. पी. की व्यवस्था करने पर भी किसानों को घाटा ही होता है। वहीं इन किसानों से कम दामों में फसल खरीद कर बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ कई प्रकार के फूड पैकेट बनाकर करोड़ों कमा रही है। इन परिस्थितियों से विवश होकर किसान अपनी जमीन बेच देता है या मजदूर बन जाता है। 'और माँ बिक गई' कहानी में किसान को न चाहते हुए भी अपनी जमीन बेचनी पड़ती है। किसानों में भी जमीन बेचने की परम्परा का विकास हो रहा है। किसानों की जमीन की ऊँची कीमत लगाई जा रही है, जिससे थोड़े से जमीन के लिए भी किसान के परिवार में लड़ाई – झगड़े वाली संस्कृति का विकास हो रहा है। 'पैमाइश', 'भेड़िया' जैसी कहानियों में जमीनी विवाद को देखा जा सकता है। 'खेत' कहानी में किसान को अपनी जमीन बचाने के लिए जद्दोजहद करते दिखाया गया है।

अतः एक ओर जहाँ पूँजी का महाजाल फैला हुआ है, वहीं दूसरी ओर किसानों की आत्महत्या में बेतहासा वृद्धि दर्ज की जा रही है। इन आत्महत्याओं के कई कारण दिखाई पड़ते हैं- नये बीज एवं खादों की जानकारी न होने पर फसल का खराब होना, मंडियों में फसलों की कीमत न मिलना, साहुकारों से ऊँचे दर वाले सूद पर कर्ज लेना, प्राकृतिक विपदा से फसल का खराब होना, कर्ज पर कर्ज लेना आदि। किन्तु इन कारणों के अतिरिक्त भी कुछ कारण है जिसकी ओर ध्यान देने की जरूरत है जैसे- सरकार द्वारा किसानों के हित में कानून न बनवाना, सब्सिडी में कमी करते जाना, कर्ज माफी का सीधा फायदा किसानों तक न पहुँचना आदि-आदि।

यह सच है कि किसान कभी भी अपनी संख्या का राजनीतिक उपयोग नहीं कर पाया है। शासन सत्ता चाहे किसी भी राजनीतिक पार्टी की रही हो, कई किसान आन्दोलन के बावजूद भी किसी भी राजनीतिक पार्टी द्वारा साधारण किसानों की माँगों को संगठित रूप से कभी नहीं उठाया गया। हमेशा एक विशाल तबके की आवाज को अनसुना कर दिया गया। फलस्वरूप देश के अनेज राज्यों में किसानों का असंतोष स्वतः फूट पड़ा। आज 2021 के समय में भी फिर से किसान सरकार द्वारा पारित तीन कृषि बिल के विरोध में दिल्ली पर आन्दोलनरत रहे। कई महिनों से वे दिल्ली के बॉर्डर पर धरना देकर बैठे हुए थे। सरकार और किसानों के बीच कई राउन्ड मीटिंग होने के बावजूद समस्या का हल नहीं निकल पा रहा था। अंत में सरकार को झूकना पड़ा और तीनों कृषि बिल को वापस लेना पड़ा। यह किसानों के लिए सबसे बड़ी जीत साबित हुई। किसान राजनीतिक रूप से कभी भी सबल नहीं रहा है। चुनाव में किसान समूह के रूप में कभी नहीं आया, वह हमेशा गाँव के या जाति के सदस्य के रूप में वोट डालता आया है। किसानों के अपने संगठन होने के बावजूद वे चुनाव के समय अराजनीति बन जाते हैं। यहीं किसान आन्दोलन की कमजोरी भी है।

अतः मेरे शोध में केवल 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में वर्णित किसान विमर्श की पड़ताल की गई है जो मेरे शोध की सीमा है। हिन्दी की अन्य गद्य विधाओं में किसान विमर्श की पड़ताल शोध की संभावना हो सकती है। पूरे विश्व के किसानों के साथ भारतीय किसानों की समस्याओं का तुलनात्मक अध्ययन भी शोध की संभावना निर्मित करती है।

शोध का पंचम अध्याय ''वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में आदिवासी विमर्श'' शीर्षक में वर्षो से प्रताड़ित आदिवासी समाज की सभ्यता एवं संस्कृति की चिंता एवं जल, जंगल, जमीन से विस्थापित इस समुदाय के अस्तित्व की पड़ताल की गई है। आदिवासी प्रकृति पर निर्भर रहने वाला मानव समूह है। अंधाधूंध विकास की लहर ने इस समाज की सभ्यता, संस्कृति एवं अस्मिता को संकट की स्थिति में पहुँचा दिया है। जल, जंगल और जमीन पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के अधिपत्य ने इस समाज के लोगों को विस्थापित कर दिया। अतः 21वीं सदी के दूसरे दशक के हिन्दी कहानी में इस समाज की चिंता को कई आयामों में व्यक्त किया गया है। कहानियों का विवेचन के उपरान्त हम कह सकते हैं कि आदिवासी समुदाय के अस्तित्व एवं अधिकारों के रक्षा की चिंता ही आदिवासी विमर्श है।

आज साहित्य के माध्यम से आदिवासी अपने ऊपर ढ़ाये गए जुल्म एवं शोषण की दास्ताँ को अभिव्यक्त ही नहीं कर रहे हैं, बल्कि अपना विरोध भी दर्ज कर रहे हैं। आदिवासी साहित्य आदिवासियों के इतिहास और शोषण की दास्ताँ का साहित्य है। पूरे विश्व में कहीं इसे ब्लैक लिटरेचर, एबोरिजिनल लिटरेचर, स्लेव लिटरेचर तो कहीं ट्राईबल लिटरेचर जैसे नस्लीय नामों से पुकारा जाता रहा है। हिन्दी में भी कई साहित्यकारों ने इस समुदाय की आवाज को साहित्य का विषय बनाया है। यह साहित्य आज मुख्धारा का साहित्य बनने की होड़ में शामिल है। अतः आदिवासी साहित्य केवल लोकगीतों, पर्व, त्योहारों का विवेचन न होकर आदिवासी समाज के संघर्ष के इतिहास का भंडार है। भारत के हर प्रांत में आदिवासी साहित्य 90 से अधिक भाषाओं में लिखा जा रहा है।

इस दौर की हिन्दी कहानियों का विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि इन कहानियों में दिखाया जा रहा है कि वैश्वीकरण के उपरान्त बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने जबरन आदिवासियों की जमीनों को हड़प कर वहाँ बड़े- बड़े मॉल बना रहा है। 'मंगरा मॉल' कहानी में आदिवासी मंगरा की जमीन को जबरन हड़प लिया जाता है और उसकी मूर्ति बनाकर उसी के नाम पर मॉल का नाम रख दिया जाता है ताकि स्थानीय लोगों को आकर्षित कर सके। मंगरा माँदल बजाकर विरोध करता रह जाता है। 'जंगल में आतंक' कहानी में जिस प्रकार औद्योगिक विकास के लिए जंगलों का विनाश किया जाता है, लेखक कहानी में दिखाने की कोशिश करते हैं। आज बड़े-बड़े मॉल, कम्पलेक्स, पार्क आदि आदिवासियों की जमीन पर बनाए जा रहे हैं। जमीन के अधिग्रहण के लिए आदिवासियों के गाँव के गाँव खाली करवा दिया जाता है। आदिवासी शुरुआत से ही अपने ऊपर हुए जुल्म का विरोध करता आया है, इतिहास में कई विद्रोह दर्ज है, किन्तु अब सरकार आदिवासियों के हर एक विद्रोह को नक्सल या माओवाद का नाम देकर मिटा देता है। 'सेन्दरा', 'पत्थलगड़ी' जैसी कहानियों में आदिवासियों के विद्रोह को देखा जा सकता है। कहानियों में आदिवासी अपनी जमीन को बचाने के लिए पुलिस से लोहा लेता है और शहीद हो जाता है। सरकार द्वारा इन मारे गये आदिवासियों को आतंकवाद तक कह दिया जाता है। ये कम्पनी वाले नदी पर बाँध बनाकर नदी को सुखा रहे हैं, बाढ़ का पानी कई आदिवासी गाँवों को डूबो देता है, खनीज सम्पदा के लिए जंगलों पर अधिकार कर उसे खोद कर खोखला कर दे रहे हैं, पेड़ों का सफाया कर कंक्रीट के जंगल उगाये जा रहे हैं और यह सब हो रहा है आदिवासियों की जमीन पर। आदिवासियों के पक्ष में आवाज उठाने वाला कोई नहीं है।

कहानियों में हम देखते हैं कि जो पढ़ा-लिखा वर्ग है, वह खुद अच्छे पदों को पाकर आदिवासी कहलाना पसंद नहीं करते हैं। यह आदिवासी विमर्श का अंतर्विरोध ही है कि पढ़ा- लिखा वर्ग का अपनी भाषा एवं संस्कृति से कोई सरोकार नहीं रह गया है। नौकरीपेशा वाला यह वर्ग शहरी बनकर अपनी पहचान छुपा रहा है। 'जोहार! गोपू दा' कहानी में गोपेश्वर अपना सरनेम छिपाना चाहता है। उसे पसंद नहीं कि कोई उसे ट्राईबल कहे। उसे अपने ही लोगों से नफरत होता है। वहीं दूसरी ओर आदिवासी प्रतिनिधी जीतकर

सत्ता पाते ही स्वार्थ सिद्धि में लग जाते हैं, उन्हें फिर अपने लोगों की चिंता भी नहीं रहती है।

इस दौर की कहानियों में आदिवासी स्त्रियों पर होने वाले जुल्म के विविध आयामों पर विचार किया गया है। कहानियों में हम देखते हैं आज शहरों में बेची जाने वाली अधिकांश स्त्रियाँ आदिवासी ही होती है। घरों में काम करने वाली और मजदूरनी के रूप में आदिवासी महिलाओं की भरमार देखी जा सकती है। एजेंटों के माध्यम से गाँव – गाँव से आदिवासी स्त्रियों को नौकरी का झांसा देकर या बहला – फुसलाकर शहर लाकर बेच दिया जाता है। 'अमावश की रात में भगजोगनी' कहानी में इस पीड़ा को देखा जा सकता है। 'भंडुआ' कहानी में तो जंगल पर राजेश हराड़े जैसे लोगों का राज दिखाया गया है जो जंगल के साथ – साथ आदिवासी को भी अपनी जागिर समझता है। आदिवासी की इज्जत और जान से खेलना मानो उसका शौक है। मजदूरनी के रूप में काम करने वाली महिलाओं को तो ठेकेदार अपनी जागिर समझता है। इन आदिवासी महिलाओं का शारीरिक शोषण किया जाता है। 'धोखा', 'रातवाली बंगाल की आखिरी बस', 'बंदूक्या', 'प्रवास का महिना' जैसी कहानियों में आदिवासी शोषण का जीता जागता चित्रण देखने को मिलता है। कहानियों में चित्रित यह रूप मात्र कल्पना न होकर समाज का यथार्थ भी है।

हम कह सकते हैं कि आदिवासी स्त्रियों को अपने ही समाज से अंधविश्वास की मार भी झेलनी पड़ती है। शिक्षा के प्रसार ने आदिवासी महिलाओं में चेतना जगाई तो हैं, किन्तु आज भी गाँवों में आदिवासियों के अंदर अंधविश्वास की भरमार देखी जाती है। अंधविश्वास के कारण ही कई आदिवासी महिलाओं को डायन कहकर उसे मारा-पिटा जाता है, नंगा कर घुमाया जाता है, मैला खिलाया जाता है। इस दौर की 'केंसर', 'बासो-झी', 'डायनमारी' जैसी कहानियों में इस सामाजिक सच्चाई को दिखाया गया है। एक ओर जहाँ इन इस दौर की कहानियों में शोषण का स्वरूप दिखाई पड़ता है, वहीं कई कहानियों में आदिवासी स्त्रियों के प्रतिरोध का स्वर भी दिखाई पड़ता है। 'हाजिरी' कहानी में आदिवासी छात्र अपने हक की लड़ाई लड़ने के लिए विद्रोही बन जाता है। 'अगिनपाखी' की स्त्री एजेंट द्वारा बेच दी जाती है जहाँ उसपर और उसके बच्चों पर शारीरिक और मानसिक शोषण होता है, फिर भी कई समस्याओं का सामना करते हुए अपना जीवन जीती है। आज आदिवासी स्त्रियाँ भी शिक्षित हो रही है। 'जिद' कहानी की स्त्री सात किलोमीटर पहाड़ी रास्तों को पार कर ग्रेजुएशन की पढ़ाई पूरी करती है। 'नदी जो बरसाती थी' में आदिवासी स्त्री कॉलेज के चुनाव में खड़ी होती है। अतः आदिवासी समाज की नई पीढ़ी अपने अधिकारों के लिए लड़ना जानती है।

मेरे शोध में आदिवासी विमर्श के अंतर्गत 21वीं सदी के दूसरे दशक की हिन्दी कहानी में आदिवासी चिंता को समझने का प्रयास किया गया है। इसके अंतर्गत केवल 10

वर्षों की कहानियों का ही विश्लेषण किया गया है। यह मेरे शोध की सीमा है। आदिवासी विमर्श कई भाषाओं में सक्रिय है। हिन्दी में कविता में भी यह विमर्श अपनी पहचान बना रहा है। अतः कविता की दृष्टिकोण से या अन्य भाषाओं में वर्णित आदिवासी चिंतन की दृष्टिकोण से शोध की संभावना बनती है।

छठवें अध्याय ''वैश्वीकरण के संदर्भ में हिन्दी कहानी में अपेक्षित विमर्श'' के अंतर्गत उन विमर्शों का अध्ययन किया गया है जो आज पूर्ण रूप में विमर्श तो नहीं है, ये आज समस्या के रूप में है, किन्तु विमर्श बनने की राह में है। इसके अंतर्गत पर्यावरण विमर्श, घरेलू कामगार विमर्श, बाल विमर्श, विस्थापन विमर्श जैसै विमर्शों की चर्चा की गई है। औद्योगिक विकास ने पर्यावरण को इतना क्षति पहुँचाया है कि आज पूरा विश्व इसको लेकर चिंतित है। वैश्विक स्तर पर बड़े – बड़े देशों द्वारा कई सम्मेलन आयोजित किए जा रहे हैं ताकि विश्व में पर्यावरण की समस्या पर लगाम लगाया जा सके। इस दौर के कई हिन्दी कहानियों में पर्यावरणीय चिंता को विषय बनाया गया है। आज हमारे सुख की लालसा एवं उपभोग की मात्रा इतनी बढ़ गई है कि सुख साधनों से समझौता नहीं कर पा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर पर्यावरण की चिंता से भी मुक्त नहीं हो पा रहे हैं। 'नदी तड़पती है', 'खारा पानी', 'कजरी और एक जंगल', 'प्रेतछाया', 'जंगल में आतंक', 'अंधेरे में हम', 'भागादेवी का चाय घर' आदि कहानियों में पर्यावरण की कई समस्याओं जैसे नदी के मरने, प्रदूषित होने, समुन्द्र के प्रदूषित होने, जंगल का विनाश होने आदि चिंता को केन्द्रित किया गया हैं। यह सच है कि आज विकास की जो गति है हम पर्यावरण को बचा नहीं सकते, किन्तु अपने उपभोग के साधनों में कमी कर विनाश की गति को धीमा जरूर कर सकते हैं। अतः जरूरत है कि पर्यावरणीय सचेतना फैलाई जाय और अधिक से अधिक रचनाओं के माध्यम से इस पर विचार किया जाए।

अध्याय में बाल विमर्श के अंतर्गत बालकों के अधिकारों एवं हाशिए पर पड़े उनके जीवन की चिंता दिखाई गई है। आज के वैश्विक युग में बच्चों से उसका बचपन छीन लिया गया है। एक ओर जहाँ पति-पत्नी दोनों का कामकाजी होना जरूरी हो गया है, वहीं उनके बच्चे किसी क्रेच या आया के भरोसे ही पल रहा है। वहीं दूसरी ओर उन बच्चों की संख्या भी कम नहीं है जिनका जीवन रेलवे प्लेटफार्म, फुटपाथ, बस स्टोप जैसे स्थानों में भीख माँगते या चोरी चमारी करते बीतता है। सरकार के पास इन बच्चों के सुरक्षित भविष्य की कोई भी योजना नहीं है। इस ओर भी साहित्कारों ने अपनी दृष्टि दौराई है। आए दिन बाल शोषण की घटनाएँ हमें बाल विमर्श के लिए सोचने को विवश करती है। 21वीं सदी के दूसरे दौर की कहानियों में वैश्वीकरण के उपरान्त उपजी ऐसी ही चुनौतियों एवं बच्चों के भविष्य की चिंता व्यक्त की गई है। 'बुलन्द हस्तियों के बीच एक शाम', 'महानगर की मैथिली', 'माँ की नौकरी' जैसी कहानियों में जहाँ क्रेच पर पल रहे बच्चों के भविष्य की चिंता हैं, वहीं 'अललटप्पू', 'फूलों वाली लड़की', 'इस्टाइल' आदि कहानियों के माध्यम से दूसरे के घरों में काम करने वाले बच्चों, ट्रेनों एवं प्लेटफार्मों में भीख माँगने वाले बच्चों या छोटा-मोटा धंधा

करने वाले बच्चों के जीवन की विडम्बना को दिखाया गया है। अतः जरूरत है कि ज्यादा से ज्यादा बाल केन्द्रित रचनाएँ लिखी जाए और बाल विमर्श पर विचार किया जाय।

इस अध्याय में घरेलू कामगार की समस्याओं पर भी विचार किया गया है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि शहर में एक विशाल तबका घरेलू कामगार के रूप में देखा जाता है। शहर को लोगों की जिन्दगी इन घरेलू कामगारों के भरोसे ही चलती है, फिर भी इन घरेलू कामगारों के अधिकारों एवं चुनौतियों को हमेशा नजर अंदाज किया जाता रहा है। इन कामगारों को हाशिए की दृष्टि से देखा जाता रहा है। घरों की पूरी जिम्मेवारी संभालने के बावजूद ये परिवार का हिस्सा कभी नहीं बन पाते हैं। वर्तमान दौर के कई रचनाकारों ने इन घरेलू कामगारों की चिंता को केन्द्रित कर कहानियाँ लिखी है जो न केवल इनके अधिकारों की बात करती है, बल्कि इन कामगारों पर होने वाले शारीरिक एवं मानसिक अत्याचारों की भी पोल खोलती है। 'बैल', 'तेरहवें माले से जिन्दगी', 'तस्दीक' आदि कहानियों में जहाँ जीवन पर्यन्त मालिक के घरों में खटने के बावजूद मनुष्य न समझे जाने एवं उस पर होने वाले कई मानवीय अत्याचारों को दिखाया गया है, वहीं 'डाउनलोड होते हैं सपने' जैसी कहानियों में इन कामगारों की आँखों में पल रहे सपनों की बात कहीं गई है। आज भले बड़े-बड़े शहरों में इन घरेलू कामगारों के कई संगठन काम कर रहे हैं जो इनके अधिकारों की बात करते हैं, किन्तु जो कामगार गाँव से शहर को जाकर वहीं घरों में रहकर जीवन बिता देते हैं उनके अधिकारों की बात कोई नहीं करता है। ये कामगार बूढ़े हो जाने पर कहीं के नहीं रह जाते हैं। अतः जरूरत है कि ज्यादा से ज्यादा रचनाएँ इन घरेलू कामगारों पर केन्द्रित हो और इनकी समस्याओं को विमर्श का रूप दिया जाए।

अध्याय में विस्थापन विमर्श की चर्चा की गई है। अध्ययन के बाद निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विस्थापन कोई नया विषय नहीं है। मनुष्य जाति प्रारंभ से ही विस्थापित होते आई है। किन्तु आज का विस्थापन हम पर जबरन थोपा जा रहा है। वैश्वीकरण के उपरान्त आने वाली चुनौतियों ने न केवल देश की सीमा बल्कि राज्य की सीमा पार कर एक ही देश में हमें विस्थापित जीवन जीने के लिए मजबूर किया है। वैश्वीकरण के उपरान्त अंधाधूँध विकास की लहर के कारण कई मानव समुदाय विस्थापित हुए है। वैश्विक स्तर पर कई देशों में राजनीतिक कारणों से लाखों लोगों को विस्थापित होते देखा जा सकता है। 21वीं सदी के दूसरे दौर के रचनाकारों ने विस्थापन के कई रूपों पर अपनी लेखनी चलाई है। 'मुट्ठी भर धूल' कहानी में जहाँ डैम बनने के कारण लाखों लोगों को गाँव के गाँव खाली कर विस्थापित होना पड़ता है, वहीं 'कहां की धरती, कहां का मानुष' में एक राज्य से दूसरे राज्य जाकर काम करने और वहीं बस जाने के बावजूद अपनी पहचान न पाने की व्यथा बताई गई है। 'यादों का अखबार', 'दादी, मुल्तान और टच-एंड-गो', 'चाबी, घर और अंधेरा' आदि कहानियों में भारत विभाजन से उत्पन्न दोनों मुल्कों के लोगों के विस्थापन के दर्द को अभिव्यक्ति दी गई है। अतः आज विकास के नाम पर बड़ी-बड़ी परियोजनाओं के कारण अपने ही देश में लाखों लोगों को विस्थापित होना पड़ा है।

जरूरत है कि विस्थापन को केवल समस्या के रूप में न देखकर इसके समाधान पर विचार किया जाना चाहिए। विकास का नया पैमाना बनाया जाय ताकि कम से कम लोग विस्थापित हो, साथ ही विस्थापितों के पुनर्वास के लिए सरकार द्वारा सुनियोजित योजना के कार्यान्वयन की जरूरत है।

मेरे शोध में अपेक्षित विमर्श के अंतर्गत केवल पर्यावरण, बाल, घरेलू कामगार और विस्थापन विमर्श पर विचार किया गया है और इसकी सीमा 21वीं सदी के दूसरे दशक की कहानियों तक ही मानी गई है। अतः कई अपेक्षित विमर्श जैसे किन्नर विमर्श, मुस्लिम विमर्श, समलैंगिग विमर्श, वृद्ध विमर्श, पुरुष विमर्श, भाषा विमर्श आदि मेरे शोध में छूट गए है। अतः इन विमर्शों पर भी भविष्य में शोध की संभावना बनती है।

BIBLIOGRAPHY

(क).आलोचनात्मक ग्रंथ

1. अंबेडकरः सम्पूर्ण वाङ्मय. खण्ड-1, 2017.
2. अग्रवाल, रोहिणी. इतिवृत्त की संचेतना और स्वरूप. आधार प्रकाशन, 2006.
3. अग्रवाल, रोहिणी. स्त्री लेखन स्वपन और संकल्प. राजकमल प्रकाशन, 2011.
4. अनामिका. स्त्रीत्व का मानचित्र. सारांश प्रकाशन, 1999.
5. अमीन, डॉ. खन्ना प्रसाद (संपादित). आदिवासी कहानी साहित्य और विमर्श. अनुज्ञा बुक्स, 2020.
6. अम्बेडकर. सम्पूर्ण गाँधी वाड़मय. खण्ड-53.
7. अरोड़ा, सुधा. आम औरतः जिंदा सवाल. सामयिक प्रकाशन, 2008.
8. एंजेल्स. मार्क्स-एंजेल्स. संकलित रचनाएँ. भाग-3, प्रगति प्रकाशन.
9. एजुकेशन डिपार्टमेंट.सोर्स मेटेरियल ऑन डॉ. बाबा साहेब अंबेडकर एंड दी मूवमेंट ऑफ अनटचेबिल्स. वाल्यूम-1, गवर्नमेंट ऑफ महाराष्ट्र. पहला संस्करण, 1982.
10. कमलेश, कुमार. आदिवासी विमर्श अवधारणा और आन्दोलन. तेज प्रकाशन, 2014.
11. कर्दम, जयप्रकाश (संपादित). दलित साहित्य वार्षिकी-2006. अकादमिक प्रतिभा, 2006.
12. कर्दम, जयप्रकाश. इक्कीसवीं सदी में दलित आन्दोलन. पंकज पुस्तक मंदिर, 2004.
13. कर्दम, जयप्रकाश. दलित साहित्य वार्षिकी-2006. अकादमिक प्रतिभा, 2006.
14. काकड़े, अश्विनी रमेश. इक्कीसवीं सदी की कहानियों का अनुशीलन. ए. बी. एस. पब्लीकेशन, 2012.
15. काबरा, कमल नयन. भूमंडलीकरणः विचार, नीतियाँ और विकल्प. प्रकाशन संस्थान, 2005.
16. किरण. डॉ. ज्योति. हिन्दी उपन्यास और स्त्री जीवन. मेधा बुक्स, 2004.
17. किशोर, अमरेन्द्र. जंगल, जंगल लूट मची है. राधा कृष्ण प्रकाशन, 2005.
18. कुमार, अमित. भूमंडलीकरण और भारत परिदृष्य और विकल्प. सामयिक प्रकाशन, 2010.
19. कुमार, कमलेश. आदिवासी विमर्शः अवधारणा और आन्दोलन. तेज प्रकाशन, 2014.
20. कुमार, दीपक (संपादित). दलित-विमर्श और हिन्दी साहित्य. लोकभारती पेपरबैक्स, 2017.
21. कुमार, पवन. मध्यम वर्ग की अजीब दास्तान. राजकमल प्रकाशन, 1999.
22. कुमार, संजय. नव उपनिवेशवाद और हिन्दी कहानी. शब्द सृष्टि प्रकाशन, 2009.
23. कुमार, संजीव. हिन्दी कहानी की इक्कीसवीं सदी. राजकमल पेपरबैक्स, 2019.

24. कृष्ण, प्रणय. उत्तर औपनिवेशिकता के श्रोत और हिन्दी साहित्य. हिन्दी परिषद, 2008.
25. खेतान, प्रभा. उपनिवेश में स्त्री. राजकमल प्रकाशन, 2000.
26. खेतान, प्रभा. भूमंडलीकरणः ब्रांड और संस्कृति. सामयिक प्रकाशन, 2010.
27. गर्ग, मृदुला. मैं और मैं. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1984.
28. गुप्ता रमणिका (संपादित). आदिवासी विकास से विस्थापन. राधाकृष्ण प्रकाशन, 2015.
29. गुप्ता, रमणिका (संपादित). आदिवासी कौन?. राधा कृष्ण प्रकाशन, 2014.
30. गुप्ता, रमणिका (संपादित). आदिवासी साहित्य यात्रा. राधाकृष्ण प्रकाशन, 2016.
31. गुप्ता, रमणिका. समकालीन हिन्दी उपन्यास और पारिस्थितिकीय संकट.
32. गुप्ता, रमणिका. स्त्री मुक्ति संघर्ष और इतिहास. सामयिक प्रकाशन, 2012.
33. चतुर्वेदी, जगदीश्वर. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श. अनामिका पब्लिशर्स एन्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लिमिटेड, 2011.
34. चव्हान, अर्जुन. विमर्श के विविध आयाम. वाणी प्रकाशन, 2008.
35. चौधरी, उमा शंकर. दलित विमर्श कुछ मुद्दे कुछ सवाल. आधार प्रकाशन, 2011.
36. चौबे, देवेन्द्र. समकालीन कहानी का समाजशास्त्र. प्रकाशन संस्थान, 2001.
37. चौहान, विजेन्द्र सिंह. मीडिया और स्त्रीः एक उत्तर विमर्श. रिम्पी खिल्लन, साहित्य भारती, 2003.
38. जयमोहन, प्रो. एम. एस.(संपादित). कहानी कल और आज. लोकभारती प्रकाशन, 2005.
39. ज्ञानी, शिवदत्त. भारतीय संस्कृति. राजकमल प्रकाशन,1944.
40. टेटे, वंदना. वाचिकताः आदिवासी दर्शन, साहित्य और सौन्दर्य बोध. राधा कृष्ण प्रकाशन, 2020.
41. तुमराम, विनायक. आदिवासी साहित्य-उद्गम आणि भाणि. लोकमत साहित्य यात्रा, 5 दिसम्बर, 1982.
42. दुबे, अभय कुमार (संपादित). आधुनिकता के आईने में दलित. वाणी प्रकाशन, 2008.
43. देवी, उषा. नष्ट नीड़. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1955.
44. नामदेव (संपादित). आलोचना की तीसरी परम्परा और डॉ. जयप्रकाश कर्दम. अमन प्रकाशन, 2014.
45. नैमिशराय, मोहनदास. दलित साहित्यः सही जगह की तलाश (परिसंवाद). कल के लिए.
46. पटेल, डॉ. उत्तम. स्वतंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में कृषक जीवन.
47. पडोडे, डॉ. विजय. जैनेन्द्र के उपन्यास साहित्य में स्त्री-पुरुष संबंध. अन्नपूर्णा प्रकाशन, 2006.
48. पाठक, विनय कुमार. हिन्दी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि. सामयिक प्रकाशन, 2005.
49. पाण्डे, मृणाल. परिधि पर स्त्री. राधा कृष्ण प्रकाशन, 1998.
50. पाण्डेय, ब्रजकुमार. भूमंडलीकरणः विविध आयाम. विनोद बुक सेंटर, 2008.

51. पालिवाल, कृष्ण दत्त. अंबेडकर और समाज-व्यवस्था. किताब घर, 1990.
52. प्रकाश, कृष्ण देव. समकालीन कथा साहित्य में स्त्री विमर्श.
53. प्रो. शंभुनाथ. भारतीय अस्मिता और हिन्दी. सामयिक प्रकाशन, 2012.
54. प्रो. शंभुनाथ. सभ्यता से संवाद. वाणी प्रकाशन, 2008.
55. फूले, ज्योतिबा. गुलामगीरी. संगीता प्रकाशन, 2006.
56. बंदोपाध्याय, प्रणव (संपादित). दलित साहित्य की राजनीतिक अवधारणा- दलित प्रसंग. शिलालेख, 1999.
57. बोउवार, सोमेन द. स्त्री उपेक्षिता. अनुवाद प्रगति सक्सेना, हिन्दी पॉकेट बुक्स, 1998.
58. बोहरा, मोहन कृष्ण. तसलीमा के हक में. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2000.
59. ब्होरा, आशारानी. स्त्री सरोकार. आर्य प्रकाशन, 2002.
60. भरद्वाज, नंद. संस्कृति, जनसंचार और बाजार. सामयिक प्रकाशन, 2007.
61. महाजन, उषा. उठो अन्नपूर्णा साथ चले. हिमाचल पुस्तक भंडार, 1998.
62. महेसाणे, पी.ए. परमार. दलित चेतना के आधार स्तम्भ. गाँधी कुटीर, 2011.
63. मास्के, साक्षान्त. परम्परागत वर्ण व्यवस्था और दलित साहित्य. वाणी प्रकाशन, 2010.
64. मीणा, हरि राम. आदिवासी लोक की यात्राएँ. भारतीय ज्ञानपीठ, 2016.
65. मैक्वेल, डी. मैक्वेल्स मास कम्युनिकेशन थ्योरी. 2000.
66. यादव, उषा. हिन्दी की महिला उपन्यासकारों की मानवीय संवेदना. राधा कृष्ण प्रकाशन, 1999.
67. यादव, राजेन्द्र. आदमी की निगाह में औरत. राजकमल प्रकाशन, 2007.
68. राजकिशोर (संपादित). दलित राजनीति की समस्याएँ. वाणी प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 2008.
69. राजकिशोर. स्त्री-पुरुषः कुछ पुनर्विचार. वाणी प्रकाशन, 2006.
70. रामदोनी, डॉ. रेशमा. समकालीन हिन्दी लेखिकाओं की कहानियों में अभिव्यक्त बहुआयामी विद्रोह.
71. लवलीन. प्रेम के साथ पिटाई. सामयिक प्रकाशन, 2007.
72. लिम्बाले, शरण कुमार. दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र. अनुवादक रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2000.
73. वर्मा, महादेवी. श्रृंख्ला की कड़ियाँ. भारती भंडार, 1950.
74. वाल्मीकि, ओम प्रकाश. दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र. राधा कृष्ण प्रकाशन, 2014.
75. वेदालंकार, जयदेव. वैदिक दर्शन. भारतीय विद्या प्रकाशन, 1991.
76. वैकेटेश्वर, एम. हिन्दी उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन.
77. शर्मा, करुणा. कमलेश्वर के कथा साहित्य में स्त्री विमर्श. नवचेतन प्रकाशन, 2011.
78. शर्मा, क्षमा. समकालीन स्त्री विमर्श. सामयिक पेपरबैक्स, 2019.
79. शर्मा, दामोदर, हरिश्चन्द्र व्यास. आधुनिक जीवन और पर्यावरण. प्रभात प्रकाशन, 2007.
80. शर्मा, नासिरा. औरत की दुनिया. साहित्य भंडार, 2015.

81. शर्मा, नासिरा. औरत के लिए औरत. सामयिक प्रकाशन, 2018.
82. शशिधर, रामाज्ञा. किसान आन्दोलन की साहित्यिक जमीन. अंतिका प्रकाशन, 2012.
83. शेष, हेमंत. कलाओं की मूल्य दृष्टि. प्रथम संस्करण, वाणी प्रकाशन, 2009.
84. साखरे, सुनिता. दलित साहित्यः विविध आयाम. अमन प्रकाशन, 2009.
85. सिंह, कुमार अमित. भूमंडलीकरण और भारतः परिदृश्य और विकल्प. सामयिक प्रकाशन, 2009.
86. सिंह, धिरेन्द्र बहादुर. आधुनिक भारत में किसान आन्दोलन. प्रगतिशील प्रकाशन, 2019.
87. सिंह, सत्येन्द्र. आदिवासी संस्कृति और साहित्य. गौरव बुक डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2018.
88. सिंहा, सच्चिदानन्द. भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ. वाणी प्रकाशन, 2003.
89. सिन्हा, मृदुला. मात्र देह नहीं है औरत. सामयिक प्रकाशन, 2009.
90. सिह, डॉ. एन. दलित चिंतन अनुभव और विचार. वाणी प्रकाशन, 2015.
91. सुनील (संपादित). किसान आन्दोलनः दशा और दिशा. राजकमल प्रकाशन, 2006.
92. सेतिया, सुभाष. स्त्री अस्मिता के प्रश्न. कल्याणी शिक्षा परिषद, 2008.
93. हटन. भारत में जातिप्रथा. मोतीलाल बनारसीदास, 2007.
94. हरगोविन्द (टीकाकार). मनुस्मृति. अखंडानन्द, अहमदाबाद, 1996.

(ख).आधार - ग्रंथ

1. अरोड़ा, सुधा. अन्नपूर्णा की आखिरी चिट्ठी, साहित्य भंडार, 2014.
2. कटारे, महेश. देहात. शिवना प्रकाशन, 2019.
3. कांकड़िया, मधु. जलकुम्भी, वाणी प्रकाशन, 2020.
4. कालिया, ममता (संपादित). नयी सदी की पहचान श्रेष्ठ महिला कथाकार. लोकभारती प्रकाशन, 2009.
5. कुशवाहा, सुभाष चन्द्र. लाल बत्ती और गुलेल. हिन्द युग्म. 2020.
6. कुशवाहा, सुभाष चन्द्र. लाला हरपाल के जूते. पेंगुइन बुक्स इंडिया, 2015.
7. कुशवाहा, सुभाष चन्द्र. होशियारी खटक रही है. अंतिका प्रकाशन, 2010.
8. केरकेट्टा, रोज. बिरुवार गमछा तथा अन्य कहानियाँ. प्रभात प्रकाशन, 2017.
9. गिडेन्स, एन्थोनी. द कॉन्सीक्वेन्सेस ऑफ मॉडर्निटी. स्टैन्फोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1990.
10. गीताक्षी, अरूणा सिंह (संपादित). स्त्री को पुकारता है स्वपन. वाणी प्रकाशन, 2013.
11. गुप्ता, वंदना. बुरी औरत हूँ मैं, ए.पी.एन. पब्लिकेशन. 2017.

12. गौरीनाथ. बीज-भोजी अंतिका प्रकाशन, 2017. अंजुमन प्रकाशन, 2017.
13. गौरीनाथ. मानुस. अंतिका प्रकाशन, 2018.
14. चावला, ज्योति. अंधेरे की कोई शक्ल नहीं होती. आधार प्रकाशन, 2014.
15. चित्रेश. अंधेरे के बीच. अंजुमन प्रकाशन, 2017.
16. चौहान, कैलाश चंद्र (संपादित). दलित साहित्य की चर्चित प्रेम कहानियाँ. कदम प्रकाशन, 2019.
17. जोशी, मालती. कौन ठगवा नगरिया लूटल हो, वाणी प्रकाशन. 2019.
18. टेकचंद. मोर का पंख तथा अन्य कहानियाँ, वाणी प्रकाशन, 2015.
19. टेटे, वंदना. एलिस एक्का की कहानियाँ. राधाकृष्ण प्रकाशन, 2015.
20. टेटे, वंदना. लोकप्रिय आदिवासी कहानियाँ. प्रभात प्रकाशन, 2017.
21. थोमस, एल. फिडमैन. द मैनिफेस्टो फॉर द फास्ट वर्ल्ड. द न्यूयार्क टाइम्स मैगाजिन, 28 मार्च 1999.
22. नावरिया, अजय. पाँच बेहतरीन कहानियाँ, वाणी प्रकाशन, 2013.
23. न्गूगी वा थ्योंगो. ग्लावलेटिक्स. कोलम्बया यूनिवर्सिटी प्रेस, 2004.
24. पंकज, अश्विनी कुमार. पेनाल्टी कॉर्नर. नागपुरी संस्थान.
25. पटेल, सत्यनारायण. भेम का भेरू माँगता कुल्हाड़ी ईमान. अंतिका प्रकाशन, 2014.
26. पटेल, सत्यनारायण. लाल छींट वाली लुगड़ी का सपना. अंतिका प्रकाशन, 2011.
27. पथिक, चरण सिंह. मैं बीड़ी पीकर झूँठ नी बोलता. कलमकार मंच, 2019.
28. पाण्डेय, मृत्युंजय (संपादित). नयी सदी नयी कहानियाँ, आनंद प्रकाशन, 2019.
29. बनवासी, कैलास. पीले कागज की उजली इबारत. अंतिका प्रकाशन, 2008.
30. भारद्वाज, विनोद. फेसबुकिया लव. वाणी प्रकाशन, 2020.
31. मिश्रा, गिरीश. ग्लोबलाइजेशन एन्ड कल्चर, सम अस्पेक्ट. मैन्सट्रीम, 16.08.2003.
32. मुद्राराक्षस (संपादित). नयी सदी की पहचान श्रेष्ठ दलित कहानियाँ. लोकभारती प्रकाशन, 2012.
33. मेहताब, अजय (संपादित). माँदर पर थाप. अनुज्ञा. 2019.
34. यादव, अनिल. नगरवधुएँ अखबार नहीं पढ़तीं. अंतिका प्रकाशन, 2017.
35. राणा, मंजुला. वेटिंग मदर और प्रेम कहानियाँ. वाणी प्रकाशन, 2020.
36. वानखेड़े, कैलाश. सत्यापन. आधार प्रकाशन, 2013.
37. वानखेड़े, कैलाश. सुलगन. राजकमल पेपरबैक्स, 2019.
38. शर्मा, नासिरा. मेरी प्रिय कहानियाँ. राजपाल एंड सन्स, 2013.
39. शर्मा, मुरारी. पहाड़ पर धूप. अंतिका प्रकाशन, 2015.
40. शर्मा, मुरारी. बाणमूठ. अंतिका प्रकाशन, 2010.
41. शर्मा, विपिन कुमार. बहेलिये. अंतिका प्रकाशन, 2010.
42. शेखर, हाँसदा सौभेन्द्र. आदिवासी नहीं नाचेंगे. राजपाल एन्ड सन्ज, 2018.

43. श्रीधरम. की रे हुकुम. अंतिका प्रकाशन, 2019.
44. सांभरिया, रत्न कुमार. दलित समाज की कहानियाँ, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लिमिटेड, 2014.
45. सिंह, राणा प्रताप. करजा के खातिर. अंतिका प्रकाशन, 2017.
46. स्टीग्लिट्ज, जोसेफ. ग्लोबलाइजेशन एन्ड इट्स डिस्कॉन्टेंट. डब्लयू.डब्लयू. नॉर्टन एन्ड कम्पनी,2002.
47. हंस पुरस्कृत कहानियाँ. अक्षर प्रकाशन प्रा. लिमिटेड, 2020.
48. हारनोट. एस. आर. किलें. वाणी प्रकाशन, 2019.

(ग).पत्र-पत्रिकाएँ

1. अक्षर पर्व पत्रिका. अंक- मार्च, 2004.
2. इंडिया टुडे. 28 जनवरी, 2009.
3. उत्तर दर्शन. 16 फरवरी, 2003.
4. कथादेश, मई-2012.
5. कथादेश. फरवरी, 2013.
6. कथादेश. सितम्बर, 2019.
7. जनसत्ता. 26 अगस्त, 2007.
8. तद्भव. अंक-39.
9. द हिन्दू. 08.01.2000.
10. नया ज्ञानोदय. सितम्बर, 2008.
11. परिकथा. मई-जून. 2018.
12. परिकथा. सितम्बर-अक्टुबर, 2019.
13. परिवेश. अंक- अप्रैल-दिसम्बर,1996.
14. पल प्रतिपल. अंक- जनवरी –मार्च, 2004.
15. पहल, अंक- 114, नवम्बर-2018.
16. पहल, अंक- 119, अक्टुबर-2019.
17. पहल, अंक-105, नवम्बर-2016.
18. पहल. अंक-122, जून-जुलाई, 2020.
19. पाखी. सितम्बर, 2019.
20. पूर्वग्रह – 104.

21. मधुमती पत्रिका. अगस्त, 2013.
22. मधुमती, मार्च-अप्रैल, 2012.
23. मधुमती. अप्रैल, 2011.
24. मधुमती. दिसम्बर, 2011.
25. मधुमती. मई, 2011.
26. युद्धरत आम आदमी.1998. अंक-41-42.
27. लमही, अप्रैल-जून, 2015.
28. लमही. अंक- अक्टूबर-दिसम्बर, 2019.
29. वसुधा. विशेषांक. अंक-59-60.
30. वाक् पत्रिका. अंक-जुलाई-दिसम्बर, 2007.
31. वाक्. अंक-4, 2008.
32. वागर्थ, मार्च- 2020.
33. शोधश्री पत्रिका. स्त्री विमर्श विशेषांक, 2009.
34. समकालीन जनमत पत्रिका. सितम्बर, 2003.
35. समयांतर. फरवरी, 2012.
36. सम्बोधन. जुलाई-सितम्बर, 2011.
37. सामयिक सरस्वती, जुलाई-सितम्बर, 2019.
38. सुमन लिपि मासिक. फरवरी-मार्च, 1994.
39. हंस पत्रिका. अंक- अक्टूबर, 2000.
40. हंस. अंक-अगस्ट, 2004.
41. हंस. दलित विशेषांक, 2003.
42. हंस. नवम्बर, 2002.
43. हंस. मार्च, 2016.
44. हिन्दुस्तान दैनिक. 29 फरवरी, 1999.

(घ).इंटरनेट

4. Gadyakosh.org
5. hdr.undp.org>report
6. Hindisamay.com
7. http.//in.one.un.org>imf
8. https:/samalochan.blogspot.com-06.09.2019.
9. Jankipul.com
10. Oxforddictionary.com

(ङ). शब्दकोश

1. अग्रवाल, पद्मा. संपादित. मानविकी पारिभाषिक कोश. मनोविज्ञान खंड. राजकमल प्रकाशन, 1998.
2. चन्द, गोपाल. संपादित. मानक हिन्दी कोश. खण्ड-3.
3. तिवारी, भोलानाथ. हिन्दी प्रयायवाची कोश. (सम्पादित) प्रभात प्रकाशन, 1999.
4. प्रसाद, दिनेश्वर. झारखण्ड इनसाइक्लोपीडिया. मुंडा दुरंड़, खण्ड-4, वाणी प्रकाशन, 2008.
5. मराठी-गुजराती कोश. मुम्बई.
6. रिझवी, आबिद. बृहद हिन्दी शब्दकोश. सम्पादित. रवि पॉकेट बुक्स.
7. हिन्दी- गुजराती कोश. गुजरात विद्यापीठ. 2014.

JUNI KHYAT

जूनी ख्यात

(संयुक्तांक)

सपादक

डॉ. बी.एल. भादानी

पूर्व विभागाध्यक्ष

इतिहास विभाग,

अलिगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

प्रबधक सपादक

श्याम महर्षि

मरुभूमि शोध संस्थान

संस्कृति भवन

एन.एच. 11, श्रीडूंगरगढ़ (बीकानेर) राजस्थान

INDEX

S.No.	TITLE	Page No.
1	VIRTUAL REALITY APPLICATION IN TOURISM INDUSTRY: A REVIEW	1
2	समकालीन हिन्दी कहानी में पर्यावरण विमर्श	7
3	GOODS AND SERVICE TAX (GST) - IMPACT, CHALLENGES ON COMMON MAN	16
4	BFSI EDGE IN THE CONTEXT OF BRANCH BANKING	24
5	विवेकी राय की कहानियों की भाषा एवं शिल्प	32
6	CENTRE AND STATE RELATIONS THROUGH UNION BUDGET-2020: CONSTITUTIONAL PROVISION	40
7	THE INTERVENTION OF H5P IN TEACHING AND LEARNING	46
8	FAINTLY COMPATIBLE MAPPINGS IN INTUITIONISTIC FUZZY METRIC SPACE	52
9	खानदानी टूट फूट के प्रकरण में 'यादगारी कहानियाँ'	60
10	FINANCIAL CONTRIBUTION OF NABARD WITH SPECIAL REFERENCE TO MAHARASHTRA	66
11	A STUDY ON OPPORTUNITIES AND CHALLENGES OF RURAL AND URBAN WOMEN ENTREPRENEURS IN KARNATAKA	72
12	FORMULATION AND *IN VITRO* EVALUATION OF FLOATING TABLETS OF ANTIHYPERTENSIVE DRUG	82
13	FORMULATION AND EVALUATION OF LIPOSOME DRUG DELIVERY SYSTEM FOR AMOXICILLINE TRIHYDRATE	94
14	IMPACT OF GOODS AND SERVICE TAX ON MICRO, SMALL AND MEDIUM ENTERPRISES IN TUMAKURU – A STUDY	106
15	भगवानदास मोरवाल के 'रेत' उपन्यास में वेश्याओं का स्वर	110
16	ROLE OF CAPITAL MARKET IN INDIAN FINANCIAL SYSTEM	112
17	PREPARATION, EVALUATION & OPTIMIZATION OF NANOPARTICLES COMPOSED OF PANTOPRAZOLE	120
18	FORMULATION AND EVALUATION OF SUSTAINED RELEASE MATRIX TABLET OF BCS CLASS 1 DRUG	135
19	FORMULATION AND EVALUATION OF SUSTAINED RELEASE MATRIX TABLET OF BCS CLASS 1 DRUG	150
20	FORMULATION AND EVALUATION OF OINTMENT CONTAINING DRUG LEVOFLOXACIN	165
21	MICROFINANCE A TOOL FOR WOMEN EMPOWERMENT: A REVIEW OF LITERATURE	175

ISSN: 2278-4632
Vol-11 Issue-11 No.01 November 2021

समकालीन हिन्दी कहानी में पर्यावरण विमर्श

Rahim Miyan PhD Research Scholar, Dept. of Hindi Lovely Professional University, Phugwara, Punjab
Dr. Anil Kumar Pandey Assistant Professor, Dept. of Hindi Lovely Professional University, Phugwara, Punjab

सारः पर्यावरण विमर्श आज हमारे लिए अति आवश्यक विषय बन चुका है। आज हम पर्यावरण के प्रश्नों से भाग नहीं सकते। हमारे उपभोग की प्रवृत्ति इतना बढ़ गई है कि इसका सारा प्रभाव प्रकृति पर पड़ रहा है। अपने उपभोग के लिए हम प्राकृतिक संसाधनों का धरल्ले से प्रयोग कर रहे हैं। जल, जंगल, वायु, जमीन, आकाश जैसे प्रकृति प्रदत्त चीजों का हमने इतना दुरूपयोग किया है कि ये सारे आज संकट में आ गए है। इस आलेख में समकालीन कहानिकारों की कहानियों में व्यक्त पर्यावरणीय चिंता एवं चेतना की पड़ताल की गई है।

बीज शब्दः पर्यावरण विमर्श, बहुराष्ट्रीय कम्पनी, विस्थापन।

प्रस्तावनाः प्रकृति का संकट में आना हमारे अस्तित्व के लिए बड़ा खतरनाक है। हमने गहरी नींद से जगने में बहुत देर कर दी है। हमने अपने कर्मों से बहुत कुछ बर्बाद कर लिया है और अब जो बचा है, उसके प्रति हम अगर सचेत न हुए तो भावी पीढ़ी के भविष्य को हम अंधकार में ढ़केल के ही दम लेंगे। यही कारण है कि आज पूरे विश्व में पर्यावरण से जुड़े मुद्दों पर विमर्श की आवश्यकता महसूस की जा रही है। **'डायलेक्टिक्स ऑव नेचर'** पुस्तक में प्रकृति से छेड़खानी के दुष्परिणाम बताते हुए **फ्रेडरिक एंगेल्स** कहते हैं –

प्रकृति पर मनुष्य की विजय को लेकर ज्यादा खुश होने की जरूरत नहीं, क्योंकि ऐसी हर जीत हमसे अपना बदला लेती है। पहली बार तो हमें वही परिणाम मिलता है जो हमने चाहा था, लेकिन दूसरी और तीसरी दफा इसके अप्रत्याशित प्रभावदिखाई पड़ते हैं जो पहली बार के प्रत्याशित प्रभाव का प्रायः निषेध कर देते हैं। (एंगेल्स फरवरी, 2012)

भारतीय संस्कृति में वन और वनस्पति का बहुत अधिक महत्व रहा है। ऋषि मुनियों का आश्रम वनों में ही होता था। मानव, वन्य जीव, प्रकृति के बीच पारस्परिक सम्बंध हुआ करता था। वेदों, उपनिषदों आदि ग्रन्थों में मनुष्य के स्वस्थ जीवन के लिए पर्यावरण को महत्व दिया गया है। हमारी संस्कृति में प्रकृति हमेशा से पूजनीय रही है। **हजारी प्रसाद द्विवेदी** ने अपने निबंध **'कुटज'** में लिखा है –**"यह धरती मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ। इसीलिए मैं सदैव इसका सम्मान करता हूँ और मेरी धरती माता के प्रति नतमस्तक हूँ।" (द्विवेदी 32)** अग्नि, नदी, वृक्ष, सूर्य, पशु-पक्षि सारे पूजनीय रहे हैं। यूरोप की तुलना में भारतीय संस्कृति हमेशा प्रकृति से सामंजस्य बैठाती आई है, किन्तु यूरोप की औधोगिक क्रांति, पूँजीवादी विकास, वैज्ञानिक उन्नति, विश्व युद्ध, शीत युद्ध, ओजोन क्षरन, परमाणु परीक्षण, वैश्वीकरण आदि ने प्रकृति के साथ हमारे रिश्तों को नष्ट कर दिया है। मानव जाति की एकपक्षीय विकास ने प्रकृति को बहुत नुकशान पहुँचाया है। आज हमारे चारों तरफ महामारी फैली हुई है, न साँस लेने के लिए शुद्ध वायु, न पीने के लिए शुद्ध जल मिल पा रहा

Copyright @ 2021 Author

मध्य भारती

मानविकी एवं समाजविज्ञान की द्विभाषी शोध-पत्रिका

ISSN 0974-0066

(अंक-79, जुलाई-दिसम्बर, 2020)

संरक्षक

प्रो. जे. डी. आही

कुलपति

प्रधान सम्पादक

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा

सम्पादक

प्रो. भवतोष इन्द्रगुरू

प्रो. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव

डॉ. आशुतोष कुमार मिश्र

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ. छबिल कुमार मेहेर

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर (मध्यप्रदेश)–470003

दूरभाष : (07582) 297133

ई-मेल : madhyabharti.2016@gmail.com

महादेवी वर्मा का स्त्री चिंतन 109
सविता डहेरिया

औपनिवेशिक भारत के सिनेमा में रेलवे का चित्रण : एक अध्ययन 115
अखिल कुमार गुप्ता

दलित राजनीति और समकालीन हिन्दी दलित कहानी 126
रहीम मियाँ

The Earliest Indian and European Narrative Discourses : Readings into the Morphology of Meaning 132
Bhavatosh Indra Guru and Nisha Indra Guru

Mo Yan's The Republic of Wine : A Satiric Dystopia and a Humanistic Critique of the Sociopolitics of Totalitarianism 139
Prakash Joshi

Buddhist Concept of Avyakrta and Kant's Concept of Unknown: Problem and Solution 150
Upendra Kumar

The Role of Computational Linguistics in Computer Assisted Language Teaching (CALT) : An Overview 158
Abhigyan Dwivedi

The Economic Philosophy of Arthasastra in regulating the Markets 166
Sanjay Barolia

Legal Presumption of Legitimacy in Section 112 of the Indian Evidence Act: In Light of DNA Evidence1 174
Vivek Dubey and Prithvi Pal Singh

Epigraphic evidences of historical continuity of Jain culture in Bundelkhand of Madhya Pradesh 185
Jinendra Kumar Jain

Demographic Diversities In Madhya Pradesh : An Inter District Analysis 193
Pawan Kumar Sharma

A Regression Analysis of CRM and Consumer Satisfaction of Shopping Mall 203
Lokesh Uke and K. K. Pandey

दलित राजनीति और समकालीन हिन्दी दलित कहानी

रहीम मियाँ

राजनीति में दलितों के आरक्षण के माध्यम से प्रवेश ने बहुत हद तक सवर्णों के साथ खड़े होने और अपने हक की बात करने का अधिकार तो दिया साथ ही आरक्षण की नीति के तहत दलित संसद और विधान सभाओं तक पहुँच सके। भारत वर्ष में जाति आधारित चुनावों ने भी सवर्णों को दलितों के घर-घर तक वोट माँगने के लिए पहुँचाया है। आज के दौर में दलित और अल्पसंखयक वोट बैंक बने हुए है और राजनीतिकों को भी इन वर्गों की आवाज सुनने के लिए मजबूर होना पड़ा है। डॉ. अंबेडकर ने यह सोचा था कि दलितों के राजनीति में हस्तक्षेप करने से बहुत हद तक उनकी समस्याओं को उजागर किया जा सकेगा, दलितों की स्थिति में सुधार हो सकेगा किन्तु, दलित राजनीति में आकर खुद ही राजनीति के शिकार होने लगे हैं। जो सोचकर राजनीति में दलितों का सीट आरक्षित किया गया, वह पूरा न हो सका।

दलितों के प्रणेता डॉ. अंबेडकर द्वारा दलितों के राजनीतिक अधिकारों की चर्चा के साथ ही दलित राजनीति की शुरुआत हो जाती है। भारतीय समाज में जातिगत व्यवस्था सामाजिक आन्दोलन के उपरान्त भी खत्म नहीं हुई। अंबेडकर ने अंग्रेजों से दलित प्रतिनिधि की माँग की थी। उनकी राय थी कि दलितों की मुक्ति सवर्ण प्रतिनिधियों के समक्ष हाथ फैलाने से नहीं मिलेगी। अतः जरूरत है कि सत्ता में दलित वर्ग के प्रतिनिधि को जगह मिले। एक दलित ही एक दलित के हित में सोच सकेंगे, उन्हें किसी अन्य पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा। अंबेडकर स्वतंत्र भारत में दलितों की क्या स्थिति होगी, इसको लेकर चिंतित थे। इसलिए वे दलित संघर्ष को राजनीतिक संघर्ष बनाना चाहते थे। वे कहते हैं "अपनी पहचान होनी चाहिए और अपनी पहचान के लिए लड़ना और अस्मिता की भावना को जगाना उचित और स्वभाविक है जो केवल राजनीतिक धरातल पर ही संभव है।" (वसुधा-58. पृ.18) किन्तु, पूना पैक्ट ने दलित राजनीति की दिशा ही बदल दी। वर्गीय प्रतिनिधि के स्थान पर दलितों को जातिगत आधार पर खड़ा कर दिया गया। आरक्षण व्यवस्था ने दलित राजनीति को जाति केन्द्रित कर दिया। कांग्रेस की हरिजन राजनीति ने दलितों के अंदर भी जाति का भेद पैदा किया और आगे चलकर हरिजन शब्द दलितों के भंगी जाति का पर्याय बनकर रह गया। दलितों द्वारा सत्ता में प्रतिनिधि पाने के बाद भी कमान सवर्णों के हाथों में ही रहा। पढ़ा-लिखा और सत्ताधारी दलित खुद को सामान्य दलित से अलग समझने लगा। अंबेडकर इन परिस्थितियों से भलिभाँति परिचित थे। अतः उन्होंने 1937 में इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी बनाकर जाति संघर्ष से वर्ग संघर्ष पर जोर दिया। वे अपने भाषण में कहते हैं–

मेरे विचार से इस देश के दो दुश्मनों से कामगारों को निपटना होगा। ये दो दुश्मन है, ब्राह्मणवाद

मध्य भारती-79, जुलाई-दिसम्बर, 2020, ISSN 0974-0066, *pp. 126-131*
यूजीसी केयर लिस्ट, ग्रुप-सी (मल्टीडिसिप्लिनरी), क्र.सं.-15

NATIONAL SEMINAR
राष्ट्रीय संगोष्ठी

कालीपद घोष तराई महाविद्यालय

KALIPADA GHOSH TARAI MAHAVIDYALAYA

हिंदी विभाग

DEPARTMENT OF HINDI

विषय : स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी : बदलते परिदृश्य

दिनांक : 18.02.2019

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि प्रो० रहीम मियां ..... असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, बानरहाट कार्तिक उरांव हिंदी गवर्नमेंट कॉलेज, बानरहाट ..... ने वक्ता के रूप में स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी : बदलते परिदृश्य विषय के अन्तर्गत स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी में दलित समाज शीर्षक से आलेख प्रस्तुत किया।

पूनम सिंह
18.02.2019
पूनम सिंह
संयोजक
अध्यक्ष, हिंदी विभाग
कालीपद घोष तराई महाविद्यालय

Chakraborty
डॉ० मीनाक्षी चक्रवर्ती
प्राचार्य
कालीपद घोष तराई महाविद्यालय

Guru Jambheshwar Environment Conservation Research Chair

Jai Narain Vyas University, Jodhpur (Raj.) India

On the occasion of World Environment Day

INTERNATIONAL WEBINAR

on

RECENT PANDEMICS, ENVIRONMENTAL CONSEQUENCES, INTER-RELATIONSHIP AND SOLUTIONS IN JAMBHANI PHILOSOPHY

Registration No: 2108

Certificate Awarded to

JNVU/IW-2021/WP-Cert/2108

Prof./Dr./ Ms/ Mr. **Rahim Miyan**

Assistant Professor, B.K.O.Hindi Govt. College

for active Participation in the International Webinar held on June 4-5, 2021 organised by Guru Jambheshwar Environment Conservation Research Chair, Jai Narain Vyas University, Jodhpur, Rajasthan (India).

We wish you a grand success in your life ahead.

Dr. R.K. Bishnoi
Convenor

Dr. O.P. Bishnoi
Director

Prof. (Dr.) Pravin Chandra Trivedi
Vice - Chancellor

गौरी देवी राजकीय महिला महाविद्यालय, अलवर (राज.)

Colonialism and Literature

उपनिवेशवाद और साहित्य

विषय पर हिन्दी विभाग द्वारा आयोजित
अन्तर्राष्ट्रीय ई–संगोष्ठी

22-23 जनवरी 2021

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि रहीम मियाँ पद सहायक आचार्य

संस्था BANARHAT KARTIK ORAON HINDI GOVT. COLLEGE

ने अन्तर्राष्ट्रीय ई–संगोष्ठी में सक्रिय भागीदारी दी एवं

GLOBAL GAON ME BAJAR, MEDIA AUR SAHITYA

विषय पर पत्र प्रस्तोता के रूप अपनी भूमिका का निर्वाह किया।

हम इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं।

डॉ. राम गोपाल मीना	डॉ. मधु भारद्वाज	डॉ. उमेश कुमार राय	डॉ. अशोक कुमार मीना
संरक्षक एवं प्राचार्य	समन्वयक	संयोजक	आयोजन सचिव